राजस्थानी गद्य शैली का विकास

Rajasthani Gadhya Shaili Ka Vikas


देवनागर प्रकाशन

राजस्थानी गद्य शैली का विकास

डॉ. राम कुमार गरवा

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
राजकीय कल्याण महाविद्यालय
सीकर (राज.)

देवनागर प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर

[विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के सौजन्य से]

प्रकाशक :
देवनागर प्रकाशन,
चौड़ा रास्ता,
जयपुर

प्रथम संस्करण :
1986

मूल्य : 110/-

मुद्रक :
एलोरा प्रिन्टर्स,
जयपुर-302003

दो शब्द

नवी शताब्दी से पूर्व देशी भाषाओं पर अपभ्रंश का इतना प्रभाव रहा है कि उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्य स्रोतों से भी इस काल से पूर्व राजस्थानी के प्रामाणिक साहित्य की जानकारी नही मिलती। संवत् 835 मे मुनि उद्योतन सूरि द्वारा रचित 'कुवलय माला' मे राजस्थानी का परिचय मरुभाषा के रूप में मिलता है। यह कल्पना अवश्य की जा सकती है कि इससे पूर्व भी राजस्थानी मे सम्भवतः रचनाएं हुई हो, किन्तु लिपिनिष्ट रचना के अभाव मे कोई निश्चित दृष्टिकोण अभिव्यक्त नही किया जा सकता। राजस्थानी का प्रारम्भिक साहित्य अधिकांश श्रुतिनिष्ठ परम्परा में ही प्रचलित रहा है। काव्य का विकास तो लिपिबद्ध अवस्था में 10वी शताब्दी के पश्चात् प्रारम्भ हो चुका था किन्तु गद्य का प्रामाणिक रूप 13वी शताब्दी से ही मिलता है। राजस्थानी का प्रारम्भिक गद्य साहित्य विभिन्न साहित्यिक रूपों मे द्रुतगति से विकसित होता रहा किन्तु आधुनिक राजस्थानी गद्य की प्रगति वर्तमान के परिवेश में संतोषजनक नही कही जा सकती। हिन्दी गद्य की रचना तथा भाषायी एकता को पुष्ट करने के लिए आधुनिक राजस्थानी साहित्यकार अपने धरातल से ऊपर अवश्य उठा किन्तु इससे राजस्थानी को गहरी क्षति उठानी पड़ी।

भारतीय साहित्यकारों के साथ विदेशी विद्वानो का भी ध्यान राजस्थानी के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ जिनमे डॉ० ग्रियर्सन, डॉ० टैसीटोरी एवं डॉ० टर्नर मुख्य हैं। भारतीय विद्वानो मे डॉ० चाटुर्ज्या, कविराज मुरारीदान, श्री अगरचन्द नाहटा, डॉ० दशरथ शर्मा, श्री मोतीलाल मेनारिया, डॉ० सहल एवं श्री नरोत्तम दास स्वामी का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है जिन्होने अप्रकाशित एवं लुप्त साहित्य को प्रकाश मे लाने का सराहनीय कार्य किया। शोधपरक प्रक्रिया के अन्तर्गत राजस्थानी भाषा और विकास पर डॉ० मोतीलाल मेनारिया, डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, डॉ० पुरुषोत्तमलाल मनारिया एवं डॉ० गोवर्द्धन शर्मा आदि ने सम्यक प्रकाश डाला किन्तु उनका झुकाव पद्य साहित्य पर अधिक रहा। राजस्थानी गद्य पर स्वतन्त्र रूप से डॉ० शिव स्वरूप शर्मा 'अचल' (राजस्थानी गद्य साहित्य-उद्भव और विकास) एवं डॉ० (श्रीमती) रिखब भण्डारी (आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य) ने अपने गवेषणा पूर्ण शोध ग्रन्थ लिखे किन्तु डॉ० अचल का प्रयास मात्र गद्य के उद्भव और विकास तक सीमित रहा तथा डॉ० भण्डारी ने केवल आधुनिक गद्य साहित्य की समीक्षा ही की है। भाषा-शैली की दृष्टि से दोनों ही कृतियों मे तात्त्विक विवेचन का अभाव रहा है। अतः अभाव की पूर्ति के लिए प्राचीन एवं अर्वाचीन गद्य साहित्य का शैली की दृष्टि से तात्त्विक विवेचन करना मेरा उद्देश्य रहा है।

यह कार्य श्रद्धेया डॉ० (कु०) माधुरी दुबे के उचित निदेशन का परिणाम है। उनकी गवेषणापूर्ण साहित्यिक दृष्टि ने मुझे नये संस्कार दिए हैं जिनके बल पर मैं कुछ लिख सकने में समर्थ हो सका हूं। उनके स्नेहिल व्यवहार को प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है: मैं उनका हृदय से आभारी हूं।

डॉ० सत्येन्द्र, श्री अगरचन्द जी नाहटा एवं पं० वियोगी हरि जी से समय-समय पर मुझे उपयोगी परामर्श मिले हैं, अतः मैं इनका कृतज्ञ हूं। राजस्थान प्राच्य शोध संस्थान, जोधपुर, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, राजस्थान पुरातत्व विभाग, बीकानेर, श्री अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, श्री अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, श्री सादूल राजस्थानी शोध संस्थान, बीकानेर एवं बम्बई विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से मैंने अध्ययन की सुविधा एवं सामग्री प्राप्त की है, अतः उनके अधिकारियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

अपने अध्ययन को इस स्थिति तक पहुंचाने में श्रद्धेय अग्रज श्री सागरमल जी गरवा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जिन्होंने अध्ययन सम्बन्धी सुविधा के लिए मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। शोध-कार्य के क्षेत्र में भाई श्री सुखलालजी एवं प्रो. जोधावत ने जो योगदान दिया है, उसके लिए उन्हें धन्यवाद देना आवश्यक मानता हूं।

अपने शोध कार्य में जिन कृतियों का उपयोग हुआ है, उनके प्रणेता सभी साहित्य-मनीषियों का ऋणी हू। जाने-अनजाने भूलें हुई होंगी, दोष भी बन पड़े होंगे तथा मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियां भी हुई हैं, एतदर्थ अपनी अज्ञता के लिए क्षमा प्रार्थी हूं।

—राम कुमार गरवा

अनुक्रमणिका



प्रथम–प्रकरण
शैली का तात्त्विक विवेचन

1. शैली क्या है ?—भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण

भावों, अनुभावों एवं विचारधाराओं की यथा तथ्य एवं प्रभावोत्पादक प्रेषण शक्ति ही भाषा शैली है। सामान्य दृष्टि से शैली का प्रयोग विविध क्षेत्रों में व्यापक रूप से किया जाता है किन्तु साहित्य मे इसका प्रयोग विशिष्ट भाषा की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया के सन्दर्भ में ही किया जाता है क्योंकि भाषा अभिव्यक्ति का साधन है और शैली उस साधन की विधि के समान प्रकट होती है। भाषा की शुद्धता, सामयिकता, सार्थकता एवं सुन्दरता उसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति पद्धति (शैली) पर ही आधारित है। भाषा को जीवन से जोड़कर उसे अधिक ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित करने का काम शैली ही करती है। शैली ही दुरूह को सुगम एवं अस्वाभाविक को स्वाभाविक बनाती है। विषय, अपने आपमे महत्त्वपूर्ण, सुगम अथवा स्वाभाविक नहीं होता, अपितु शैली ही दुरूह को सुगम एवं अस्वाभाविक को स्वाभाविक बनाती है। अतः स्वीकार करना होगा कि साहित्य का सारा सौन्दर्य शैली पर ही आश्रित है। शैली शब्द का स्थूल स्वरूप और अर्थ जितना स्पष्ट है उसका अभिव्यक्ति मूलक साहित्यिक अर्थ उतना ही अस्पष्ट एवं जटिल है।

'शैली' शब्द अत्यन्त प्राचीन है और इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के 'शील' (शील) शब्द से मानी जाती है। संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की टीका लिखते समय किसी सूत्र की व्याख्या के लिए किया था। 'शील' शब्द व्यक्ति की चारित्रिक एवं उसके गुणों आदि की विशिष्टता की ओर संकेत करता है किन्तु यहां 'शैली' शब्द का सम्बन्ध रचनात्मक विशिष्टताओं से है। प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोश मे श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'शैली' शब्द का अर्थ चाल, ढंग, प्रणाली, रीति, प्रथा एवं वाक्य रचना के विशिष्ट प्रकार से लिया है। डा. गणपति चन्द्र गुप्त ने शैली शब्द का अर्थ व्यक्ति की क्रियात्मकता से लिया है।[1]

हिन्दी साहित्य मे शैली शब्द का प्रयोग अंग्रेजी साहित्य के 'स्टाइल' शब्द के प्रभाव से प्रारम्भ हुआ है। प्राचीन हिन्दी शब्द कोश में शैली के समान अर्थ देने वाला शब्द 'रीति' प्रचलित था। स्टाइल शब्द लैटिन भाषा के 'Stylus' से बना है। (Stylus) शब्द का अर्थ है—लिखने की नोकदार कलम ...

---

1. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त—साहित्य की शैली, पृ 209।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी दोनों में साम्यता है। ग्रीक भाषा में भी (Stylus) से सम्बन्धित (Stylus) शब्द प्रचलित है। आगे चलकर स्टाइल अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। जिसके मूल में विशिष्टता का गुण है, चाहे वह कला के क्षेत्र में हो अथवा साहित्य मे—वह स्टाइल है। आज 'स्टाइल' की तरह 'शैली' शब्द का प्रयोग भी अनेक अर्थों मे अभिव्यक्त होता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि 'शैली' और 'स्टाइल' के मूल मे कोई अन्तर नही है और दोनों समानार्थक शब्द हैं।

2. शैली की परिभाषा :

भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य के विद्वानों ने साहित्य की शैली की परिभाषा अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत की है। किसी ने विचारो के तात्विक रूप को शैली के अन्तर्गत स्वीकार किया है तो किसी ने भाषा की विशिष्टता में ही शैली के मूल रूप की कल्पना की है। कुछ विद्वान व्यक्तित्व को ही शैली मानते हैं जबकि कुछ विद्वान शैली को विचारों की वेशभूषा अथवा मस्तिष्क की प्रतिलिपि स्वीकार करते हैं। इनकी मान्यताओं का आधार क्या है, यह कहना तो कठिन है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि शैली की उपस्थिति भाषा के कला एवं भाव पक्ष दोनों में ही सम्भव है। अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया में ही शैली के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने शैली के अन्तर्गत अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं :

अरस्तु के अनुसार—'शैली से वाणी मे वैशिट्य का समावेश होता है।'[1] वाणी की विशिष्टता से अभिप्राय अभिव्यक्ति मूलक श्रेष्ठता से है।

प्लेटो—'जब विचार को तात्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है।'[2]

बफन–'शैली स्वयं व्यक्ति है, वह उसकी प्रकृति का एक अंग है।'[3]

बफन ने शैली के निर्धारण मे व्यक्तित्व को आधार माना है। यह बात निश्चित रूप से स्वीकार की जा सकती है कि व्यक्तित्व शैली का निर्धारण करता है। विषय और उसकी अभिव्यक्ति बहुत कुछ व्यक्ति पर ही निर्भर करते हैं।

चेस्टर फील्ड—'शैली विचारों की वेशभूषा है।'[4]

शापन हावर—'शैली आत्मा की मुखाकृति शास्त्र है।'[5]

हडसन—'शैली मूलतः एक वैयक्तिक गुण है।'[6]

---

1. डा. नगेन्द्र, अरस्तु का काव्य शास्त्र, पृ. 45
2. हिन्दी साहित्य कोश पृ 837
3. 'S[illegible] his nature.' Buffon.
4. [illegible] hesterfield, From the New Dic-
5. 'Style is the physiognomy of the soul : From Encyclopedia of Britannica.
6. 'Style.....is fundamentally a personal quality.'-Hudson, From An Introduction of the Study of Literature, page 34.

हडसन ने भी एक प्रकार से बफन के विचारों को ही स्वीकार किया है।

आर्थर क्यूलियर कोच—'शैली भाषागत चिन्तन है।'[1]

एफ. एल लूकस–'साहित्यिक शैली एक व्यक्तित्व का दूसरे व्यक्तित्व को प्रभावित करने का साधन है।'[2]

शैली के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएं अपनी अपनी दृष्टि से उचित प्रतीत होती हैं। वस्तुतः शैली उन सभी गुणों से युक्त होनी चाहिए जिनका सकेत इन विद्वानों ने दिया है।

शैली को पारिभाषिक शब्दावली मे बाधते हुए एक ओर कुछ विद्वान विचारों पर बल देते हैं जबकि कुछ विद्वान भाषा अथवा व्यक्तित्व के सन्दर्भ में ही शैली के रूप की कल्पना करते हैं। 'लूकास'' की परिभाषा स्पष्टतया व्यक्तित्व की ओर ही सकेत करती है। वह साधन क्या है जिसके द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित किया जा सकता है? उत्तर स्पष्ट है–साहित्य के क्षेत्र मे विचारो की अभिव्यक्ति (feelings) द्वारा ही यह क्रिया सम्भव जान पड़ती है।

गेटे ने सामान्य रूप से लेखक की शैली को उसके मन का विश्वस्त अनुकरण स्वीकार किया है।[3]

आर. ए. स्कॉट जैम्स ने रचना के लिए शब्दो के प्रयोग की विधि को शैली का अर्थ माना है।[4]

स्विफ्ट के शब्दों में—'उपयुक्त शब्दो का उपयुक्त स्थान पर प्रयोग ही शैली है।'[5]

मरे—''शैली भाषा का वह गुण है जिसके द्वारा लेखक की अनुभूति या विचारधारा की यथातथ्य अभिव्यक्ति सभव है'[6]

बर्नार्ड शा—''प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अर्थ और इति है।''[7]

प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति को ही शैली का सर्वस्व स्वीकार नही किया जा सकता। प्रभावपूर्णता तो शैली का एक अंग मात्र है। ''हिन्दी साहित्य कोश'' ने

---

1. 'Style is Thinking out into language.'–Arthur Quiller-Couch:On the Art of Writting, p. 28.
2. 'Literary style is simply [redacted] means by which one personality moves another' Style–para 48.
3. 'Generally speaking, an author's style is a faithful copy of his mind.' Goethe.
4. Style is simply manner of writing (which includes choice of words) and is commonly constrasted with matter, meaning thought R.A. Scott-James The Making of Lit
5.
6.

of thoughts peculiar to the author.
Middleton Murry ; The Problem of Style, p. 71.

7. हिन्दी साहित्य कोश, शैली—पृ. 857।

शैली के स्वरूप को इस प्रकार से स्पष्ट किया है—"शैली अनुभूत विषय वस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है, जो उस विषय वस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं।" साहित्य कोश के लेखकों ने शैली को साहित्य का एक गुण स्वीकार किया है जबकि वह साहित्य का सर्वांग है। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी उपन्यासकार स्तान्धाल ने भी शैली को अच्छी रचना का गुण स्वीकार करते हुए उसकी विवेचना की है—"शैली का अस्तित्व इसमें निहित है कि दिए हुए विचार के साथ उन सब परिस्थितियों को जोड़ दिया जाय, जो कि उस विचार के अभिमत प्रभाव को सम्पूर्णता में उत्पन्न करने वाली है।" अच्छी शैली के सन्दर्भ में इस तथ्य को भी निश्चित रूप से स्वीकार करना चाहिए कि शैली अनावश्यक वाग्जाल एवं अस्वाभाविक तथ्यों का त्याग कर स्वयं प्रादुर्भूत हो, अन्यथा वह औचित्य से वंचित हो जायेगी। विचारों के साथ परिस्थितियों को जोड़ने का कार्य अच्छी शैली ही कर सकती है।

वाल्टर पेटर ने शैली में वस्तु तत्त्व के महत्त्व को स्वीकार किया है। शैली के उत्स को फूला-फला एवं उसकी वक्तव्य वस्तु को महान् मानते हैं। श्री पेटर का "उत्स" से प्रयोजन स्रोत शब्द से है। अर्थात् जो तत्त्व शैली का गठन करते हैं वे उन्नत होने चाहिए। वस्तु तत्त्व के अभाव में शैली शब्दाडंबर मात्र प्रतीत होती है। विषय का चयन और उसकी व्यवस्था शैली को निरन्तर प्रभावित करते हैं। अभिव्यंजना में आंशिक शिथिलता ही शैली को अयोग्य सिद्ध करती है।

डा. जैकब पी. जार्ज की मान्यता है कि विषय और व्यक्तित्व के सामंजस्य से ही शैली प्रादुर्भूत होती है।[1] वह अपने आपमें साहित्य का चरम साध्य-स्वरूप नहीं है, वह केवल साधन मात्र है। डा. जार्ज शैली को प्रत्येक अभिव्यक्ति का साधारण धर्म नहीं स्वीकार करते अपितु सफल तथा वैशिष्ट्य युक्त अभिव्यक्ति का सहज धर्म मानते हैं। यहां यह भ्रांति उत्पन्न हो सकती है कि क्या भाषा की प्रत्येक अभिव्यक्ति शैली कहला सकती है? उत्तर होगा—नहीं। अभिव्यक्ति साधारण अथवा असाधारण हो सकती है किन्तु अभिव्यक्ति में यदि कथ्य को स्पष्ट करने की क्षमता नहीं है तो वह शैली नहीं कहला सकती। अभिव्यक्ति में कथ्य की पूर्णता आवश्यक है। शैली का स्वरूप निर्धारण विशिष्टताओं पर निर्भर करता है किन्तु स्पष्टता के गुण से युक्त अभिव्यक्ति यदि भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि करती है तो वह सहज एवं सरल शैली कहलाने की अधिकारिन है। यहां यह भी स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि यदि प्रत्येक अभिव्यक्ति को ही शैली मान लिया जाय तो "शैली" शब्द की विशिष्टता स्वतः नष्ट हो जायेगी और फिर भाषा में अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य का कोई मूल्य नहीं रहेगा। अतः प्रत्येक अभिव्यक्ति को शैली के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० गणपति चन्द्र गुप्त ने शैली के सम्बन्ध में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है किन्तु उन्होंने भी अभिव्यंजना पद्धति के वैशिष्ट्य को महत्त्व दिया

1. डा. जैकब पी. जार्ज : आधुनिक हिन्दी गद्य और गद्यकार, पृ. 9।

है। "व्यक्ति, विषय, भाषा एवं प्रयोजन के वैशिष्ट्य के अनुसार अभिव्यंजना पद्धति में जो वैशिष्ट्य आ जाता है; वही शैली है।"[1] शैली का विकास साहित्यकार की योग्यता, विषय अथवा विचारों की स्थिति एवं भाषा के प्रयोग पर निर्भर करता है। डा० गुप्त द्वारा प्रतिपादित प्रयोजन मूलक कारणों को भी स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि कारण के अभाव मे न तो सामान्य कार्य ही सम्भव है और न साहित्यकार का कृतित्व ही।

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार—"मनोभावों को व्यक्त करने का व्यक्तिगत सौन्दर्यात्मक प्रयोग शैली का आधार है।[2]" डा० वर्मा ने व्यक्तित्व एवं सौन्दर्यात्मक प्रयोग को ही महत्त्व दिया है विषय वस्तु की ओर उन्होंने संकेत नही किया है। भाषा की प्रपण क्षमता एवं अभिव्यंजना की वैयक्तिक विशेषता की ध्वनि उनके 'सौन्दर्य प्रयोग' के भाव से प्रकट होती है।

शंकर दयाल चौऋषि ने शैली की विवेचना करते समय भाषा और विचारो पर विशेष बल दिया है। वे उसे भावो की वाहिका स्वीकार करते हैं। वास्तव मे शैली भाषा और विचारों से परे की कोई वस्तु नही है। वह तो भाषा का सगठन है, उसका अन्तः तत्त्व है।[3] विचारो की उत्पत्ति पूर्णतः व्यक्तित्व पर निर्भर है तथा विचार ही विषय वस्तु का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार श्री चौऋषि ने शैली के सम्बन्ध में निश्चित शब्दावली में अपने विचार प्रकट किये हैं जिनमे विषय-वस्तु, व्यक्तित्व, भाषा (शब्द चयन और वाक्य विन्यास) की स्थिति स्पष्ट होती है। शैली का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व भाषा ही है। अतः शैली का उत्तम और मध्यम होना भाषा पर ही आश्रित है।

वही भाषा उपयुक्त शैली का निर्धारण कर सकती है जो भाव और रसों के अनुकूल चले। भाषा मे कारीगरी के स्थान पर स्वच्छता होनी चाहिए। प. रामचन्द्र शुक्ल को भाषा का चलता हुआ और स्वाभाविक रूप ही अभिप्रेत था। वृत्ति विधान और अनुप्रासों से जड़ी हुई, सस्कृत शब्दावली से युक्त, श्लेष और यमक के चमत्कारों से भरी हुई कृत्रिम भाषा को वे प्रशंसा नही कर सके। भाषा की अपनी शक्ति, अपनी इच्छा और अपने संस्कार होते हैं। शैली इस शक्ति एवं संस्कारों को सजीव करती है। शैली की शुद्धता, सामयिकता, सार्थकता एवं सुन्दरता एक मात्र उन्नत भाषा पर ही निर्भर करती है। भाषा व्यक्तित्व के द्वारा अर्जित की जाती है, किन्तु यह व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नही। अतः वह व्यक्तित्व का अंग भी नही बन सकती। विशिष्ट लेखक अथवा कवि समय समय पर भाषा एवं शैली में नये-नये प्रयोग अवश्य करते हैं किन्तु वे भाषा के सर्वांग को नही बदल सकते।

---

1. डा० गणपति चन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ. 216।
2. डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य शास्त्र, पृ. 122।
3. शंकर दयाल चौऋषि, द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियो का अध्ययन, पृ 18-19।

शैली अभिव्यक्ति का साधन है और भाषा शैली का माध्यम है। शैली और भाषा का साहित्य में निकटतम सम्बन्ध है। शैली के अभाव में भाषा प्रकट तो हो सकती है किन्तु उसमें सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो सकता जबकि भाषा के अभाव में शैली की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भाषा का भाषा-वैज्ञानिक स्वरूप तो एक ही रहता है किन्तु विषय के आधार पर उसमें शैलीगत अन्तर अवश्य उत्पन्न होता रहता है। उदाहरणार्थ कथा-साहित्य और आलोचना की भाषा शैली में अन्तर होना स्वाभाविक है। सफल शैलीकार के लिए यह आवश्यक है कि विषय वस्तु के आधार पर वह भाषा के प्रचलित स्वरूप का ही प्रयोग करे अन्यथा शैलीगत वैशिष्ट्य अथवा सौन्दर्य के गुण से वंचित रह जायेगी। भाषा का प्रभावोत्पादक ढंग ही शैली को वैशिष्ट्य का गुण प्रदान कर सकता है। सामान्यतया जब भाषा में शैली के बाह्य तत्वों (शब्द, वाक्य, अलंकार, लोकोक्तियां एवं मुहावरों) का सजगता के साथ प्रयोग होता है तब शैली में विशिष्टता का विकास होता है।

साहित्य में भाषा के स्वाभाविक अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण, सामान्य अथवा विशिष्ट एवं बोलचाल की भाषा अथवा साहित्यिक रूप प्रचलित है। भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में विवाद प्रारम्भ से ही चले आ रहे हैं किन्तु उसका एक सर्वमान्य स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका है। भारतीय आचार्यों ने जीवन के विभिन्न अंगों का यथार्थ चित्रण करने के लिए शास्त्रों में स्वभावक्ति को उपयुक्त माना है। वर्ण्य-विषय को यथार्थ में तथा उसके गुण धर्मों को स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त किया जाय तो वह स्वाभावोक्ति होगी किन्तु इसी विषय को जब अयथार्थ एवं गुण धर्मों को अलौकिक गुणों से युक्त कर अभिव्यक्त किया जाता है तब स्वतः अतिशयोक्ति का विकास होता है। सामान्य रूप से साहित्य में लोक सीमा के अतिक्रमण को ही अतिशयोक्ति कहते हैं। भाषा के दोनों ही प्रकार के रूप साहित्य-शैली को विकसित करते हैं तथा अपने अपने स्थान पर दोनों का विशेष महत्व है।

साहित्य की शैली के लिए सामान्य एवं विशिष्ट भाषा का प्रयोग भी प्रारम्भ से ही प्रचलित है। सामान्य भाषा का प्रयोग सामान्य अभिव्यक्ति मात्र के लिए ही होता है। विशिष्ट विषयों की अभिव्यक्ति एवं साहित्यिक मूल्यों की प्रतिस्थापना सामान्य भाषा से सम्भव नहीं। लोंजाइनस ने उत्कृष्ट भाषा को स्वीकार किया है जिसमें उसके शब्द चयन, रूपकादि एवं सज्जा आदि पर वे विशेष बल देते हैं। भाषा में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए गरिमायुक्त शब्दावली का प्रयोग किया जाना चाहिए। भारतीय आचार्यों ने साहित्य में विशिष्ट भाषा पर ही बल दिया था तथा पाश्चात्य विद्वान भी इस विचार से पूर्णतया सहमत थे। उनकी मान्यता थी कि चित्रमयी एवं मूर्तिविधायिनी विशिष्ट भाषा के द्वारा ही साहित्य शैली का विकास सम्भव है। साहित्य शैली में नाद अर्थ की अभिव्यंजना विशिष्ट शैली के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। नाद का सम्बन्ध शब्द से है जिसमें आंतरिक सौन्दर्य होता है तथा ध्वन्यात्मकता भी।

साहित्य में निरन्तर विषयानुसार बोलचाल एवं साहित्यिक भाषा शैली का प्रयोग चलता आ रहा है। सामान्य विषयों का प्रतिपादन साधारण बोलचाल की शैली से ही उपयुक्त प्रतीत होता है जबकि गरिमायुक्त एवं उत्कृष्ट विषयों की अभिव्यक्ति साहित्यिक भाषा शैली में ही की जानी चाहिए। बोलचाल की भाषा मे सहज सरलता होनी चाहिए तथा उसकी शब्दावली दैनिक व्यवहार की होनी चाहिए तथा गुणों, शब्द-शक्तियों एवं विशिष्ट अलंकारो आदि के उचित क्रम संगठन से साहित्यिक भाषा का निर्माण किया जा सकता है। साहित्य मे भाषा के किसी एक पक्ष का नही अपितु सर्वांग का प्रयोग किया जाना चाहिए। साहित्य मे विषयानुसार विशिष्ट शैलियो का विकास सम्भव है। वैज्ञानिक विषयों के प्रतिपादन मे विशिष्ट भाषा का प्रयोग विषय को क्लिष्ट बना देता है, अतः विषयवस्तु को ही आधार बनाकर सामान्य भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। भाषा की प्रकृति उनके शब्दों की बनावट, भाव व्यक्त करने की प्रणालियो, क्रियाओं और मुहावरो तथा वाक्यों के क्रमिक संगठन से ही प्रकट होती है।

उत्तम और सुव्यवस्थित शैली लेखक का सब प्रधान गुण होने पर भी कोई शैलीकार उसी के बल पर महान नही हो सकता। किसी विषय के लिखने की प्रक्रिया को जान लेने के लिए यह भी जान लेना आवश्यक है कि उसने क्या लिखा है? यदि विषयवस्तु मे सार है तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से विषय स्पष्ट है तो वह ग्रहणीय होगा चाहे वह किसी भी शैली में क्यो न लिखा गया हो।

शैली न केवल भाषा की अभिव्यंजनात्मक शक्ति की परिचायक ही है अपितु एक व्यक्तित्व का दूसरे व्यक्तित्व को प्रभावित करने का साधन भी है। शैली के विभिन्न श्रोतो मे व्यक्ति वैशिष्ट्य भी एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है जिसका सम्बन्ध शैलीकार के व्यक्तित्व से है। हिन्दी मे अंग्रेजी के पर्सनेल्टी (Personality) शब्द के पर्याय के रूप मे व्यक्तित्व शब्द प्रचलित है। 'व्यक्तित्व' मनुष्य की आन्तरिक क्रियाओं, गुणो एव मान्यताओ का प्रकाशन है। मेक्डूगल ने व्यक्ति की समस्त मानसिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों की पारस्परिक घनिष्ठ क्रिया प्रतिक्रिया की समन्वित इकाई को व्यक्तित्व माना है।[1] अरस्तु, लांजाइनस, गेटे, चेस्टर फील्ड, मिडलटन मरी, हरबर्ट रीड, एफ. एल. ल्यूकास आदि ने शैली मे व्यक्तित्व को स्वीकार किया है।[2] शैली को व्यक्तित्व पर पूर्ण आधारित मानकर बफन ने कहा है कि "शैली व्यक्ति ही तो है।"[3] जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे व्यक्तित्व उसके कृतित्व को प्रभावित करता

1. Mc Dougall-"A synthetic unity of all mental features and functions in their intimate inter play." The energies of Man-1932, p. 360.
2. Middleton Murry-The Problem of Style, p. 71.
"Goethe-......."An author's style is a faithful copy of his mind." —The New Dictionary of thoughts.
"Chester Field..........."Style is the dress of thoughts". Ibid.
"Herbert Read : "English Prose Style"-1928 Edition, p. 85.
3. Buffon : "Style is a man's own. It is part of his Nature "—The New Dictionary of Thoughts.

है किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि एकमात्र व्यक्तित्व ही साहित्य की शैली का निर्धारण करता है। यदि ऐसा सम्भव होता तो साहित्य के क्षेत्र में मूलभूत सार्वजनिक शैलियां न होकर जितने साहित्यकार होते उतनी ही शैलियां भी होतीं। श्री ल्यूकस ने भी साहित्य की शैली के लिए व्यक्तित्व को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनका विचार है कि, "स्टाइल एक साधन है जिसके द्वारा मानव प्राणी अन्यों के साथ सम्पर्क स्थापित करता है; यह व्यक्तित्व है जो शब्दों से ढका रहता है, चरित्र जो संभाषण में समाहित रहता है।"[1] व्यक्तित्व शैली को प्रभावित करने का एक अंग अवश्य है किन्तु वह सर्वस्व भी नहीं है। लेखक का चरित्र प्रत्यक्ष रूप से उसकी अभिव्यक्ति कला में उभर कर तो नहीं आता किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में वह लेखक की रुचि, बौद्धिक प्रक्रिया एवं विषय-वस्तु की मूल मान्यताओं को प्रभावित करता है। साहित्यकार के व्यक्तित्व का परिचय उसके कृतित्व एवं उसकी मान्यताओं द्वारा मिल जाता है। यदि पाठक का व्यक्तिगत रूप से किसी लेखक के व्यक्तित्व से विरोध है तो वे उसकी बात को कभी सुनना या पढ़ना नहीं चाहेंगे; चाहे वह बात कितनी ही सुन्दर अभिव्यक्ति के साथ क्यों न कही जाय। लेखक के व्यक्तित्व में एक नहीं अपितु अनेक गुण होने चाहिएं जिससे वह अधिक से अधिक पाठकों को प्रभावित कर सकें।

व्यक्तित्व प्राकृतिक देन है अथवा मनुष्य स्वयं अर्जित करता है ? एक विचारणीय प्रश्न है। एक ही वातावरण में उत्पन्न तथा पोषित व्यक्तियों के व्यक्तित्व में जब पर्याप्त भेद पाया जाता है तो स्वतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि चाहे व्यक्ति स्वयं अपना निर्माता हो किन्तु प्रकृति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वरदान स्वरूप व्यक्तित्व को प्रभावित करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। हृदय की कोमल भावनाएं तथा बौद्धिक पक्ष के अन्तर्गत स्मरण-शक्ति एवं कल्पना-शक्ति एकमात्र प्राकृतिक देन ही हैं। यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि सभी व्यक्तियों में मानसिक शक्तियां एक ही मात्रा एवं अनुपात में नहीं होती। इन्हीं शक्तियों की मात्रा एवं अनुपात के भेद के अनुसार उसके कार्य या उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री में भी परस्पर अन्तर आ जाना स्वाभाविक ही है। एक ही युग में, एक ही विषय पर लिखे गये विचारों में और उनकी शैलियों में प्रायः इसी कारण अन्तर रहता है। व्यक्ति का बौद्धिक पक्ष भी व्यक्तित्व को प्रभावित करता रहता है; अतः लेखक की शैली पर भी उसका प्रभाव बौद्धिक या मानसिक सामग्री का उपयोग करते समय पड़ता है। मानसिक प्रक्रिया के अनुसार ही लेखक का साहित्य एवं उसकी अभिव्यक्ति का ढंग (शैली) निर्धारित होती है। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त व्यक्ति की वैयक्तिक एवं उसकी परिनिष्ठता से शैली का घनिष्ट सम्बन्ध मानते हैं।

---

1. F. L. Lucas—"Style is a means by which a human being gains contact with others; it is personality clothed in words, character embodied in speech." Style, page 49-50.

"शैली का लेखक की आत्मिक या वैयक्तिक विशिष्टता, विचारधारा एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।"[1]

पर्यावरण, जातीय गुण, संस्कार, अभ्यास एवं शिक्षण ग्रन्थकार के व्यक्तित्व को निरन्तर प्रभावित करते हैं और उन विशिष्टताओं का व्यक्तित्व के द्वारा शैली पर परोक्ष रूप से प्रभाव प्रकट होता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि "प्रत्येक जाति का अपना एक जातीय गुण होता है जो इस जाति के व्यक्तियों में प्रायः सामान्य रूप से पाया जाता है।"[2] ग्रन्थकार की शैली उसके व्यक्तित्व का ही अंग है तथा एक व्यक्ति का स्वभाव, संस्कार और शिक्षण दूसरे से कभी हू-ब-हू नहीं मिलता। फलतः एक व्यक्ति सदा दूसरे से भिन्न हुआ करता है। अतः स्वभावतः एक रचना दूसरे लेखक की रचना से भिन्न होती है। व्यक्तित्व के निर्माण में वंश परम्परा, पारिपार्श्विक परिस्थितियां, तत्कालीन विचार-धारा एवं मान्यतायें तथा आर्थिक परिस्थितियां प्रभाव डालती हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में अध्ययन, अभ्यास, चिंतन और व्यक्ति की स्वयं की अनुभूति (जो बहुत कुछ प्राकृतिक देन है) महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। मनुष्य न तो पूर्ववर्ती पीढ़ियों के गुण-दोष से ही मुक्त हो सकता है और न पारिपार्श्विक परिस्थितियों के प्रभाव से ही बच सकता है। चरित्र एवं कार्य व्यवहार, प्रकृति, स्वभाव, इच्छाएं, क्रिया-कलाप तथा व्यक्ति का शारीरिक रूप भी व्यक्ति की शैली को प्रभावित करते हैं। रचना विधान पर लेखक की छाप इतनी स्पष्ट रहती है कि कोई भी सजग पाठक उसके विषय में [illegible] नहीं रह सकता। शैली जैसे शैलीकार के नाम को पुकार कर कह देती है। अतः यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व शैली का महत्वपूर्ण तत्व है। शैलीकार के व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक ढंग से समझे-परखे बिना उसकी शैली की स्तुति अथवा निन्दा नहीं की जा सकती।

एक ही युग और एक ही भाषा के दो लेखकों की शैलियों में उनके बौद्धिक दृष्टिकोण तथा उनकी मान्यताओं एवं सिद्धान्तों के कारण पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है। व्यक्ति का शारीरिक सौन्दर्य [illegible] रूप से ग्रन्थकार की शैली को प्रभावित करता ही है, साथ ही उसकी रुचि, [illegible], [illegible], कार्यक्षेत्र एवं व्यवहार सम्बन्धी क्रिया कलाप भी शैली पर अपना प्रभाव डालते हैं। अतः इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रूप में शैली को प्रभावित करता है [illegible] शैली का अध्ययन करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि [illegible] शैलीकार की शैली में समय समय पर परिवर्तन एवं परिष्करण [illegible] भाविक है। यह परिवर्तन व्यक्तित्व के साथ साथ ही चलता है [illegible] एवं प्रौढ़ता के कारण ही हो सकता है। यही कारण है कि [illegible] वर्ती रचनाएं पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ [illegible]

---

1. डा. [illegible], साहित्य की शैली, पृ० [illegible]
2. डा हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर, [illegible]

व्यक्तित्व के विकास के साथ साथ उसकी रचना शैली में भी परिवर्तन होता रहता है। साराश यह है कि शैली को व्यक्तित्व से पृथक् नहीं किया जा सकता। साहित्यकार का जीवन, जीवन नहीं है, अपितु साहित्य ही उसका अपना जीवन है।

3. शैली शब्द का प्रयोग गद्य : अथवा पद्य के लिए

शैली अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द का अनुवाद है और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी मे आया है किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्र मे शैली से मिलते-जुलते अर्थ को देने वाला शब्द 'रीति' प्रचलित था जो मात्र काव्य के लिए ही प्रयुक्त था। चूंकि हिन्दी गद्य का विकास ही विलम्ब से हुआ था, अतः उसमे शैली के प्रारम्भिक प्रयोग की कल्पना ही नहीं की जा सकती क्योंकि शैली शब्द का प्रयोग हिन्दी मे गद्य के लिए ही किया जाता रहा है। इस सन्दर्भ मे डा० नगेन्द्र की मान्यता है कि "अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में शैली का प्रयोग आधुनिक ही है, जो अंग्रेजी के 'स्टाईल' शब्द का पर्याय है।"[1]

शैली शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भारतीय वाङ्मय मे कुल्लूक भट्ट कृत सन् (1150–1300) टीका मनुस्मृतिः 1/4 में हुआ था किन्तु साहित्य के क्षेत्र मे इस शब्द का व्यापक प्रयोग कब से प्रारम्भ हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जहां तक अभिव्यंजना के स्थूल एवं सूक्ष्म पक्षों तथा भाषा और विचार चिन्तन का प्रश्न है, वहां स्वीकार करना होगा कि 'शैली' चाहे उत्तम हो अथवा निकृष्ट, उसका विकास गद्य के साथ साथ ही हुआ है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'शैली' शब्द का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह भी स्पष्ट हो गया है कि 'शैली' शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द के अनुकरण के रूप मे हिन्दी गद्य में प्रयुक्त हुआ। प्रत्येक भाषा-साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं मे विषय वस्तु की दृष्टि से सामान्य विषयों को ही विवेचना की जाती रही है क्योंकि प्रारम्भ मे भाषा विशेष मे भाव प्रकाशन की पूर्ण क्षमता उत्पन्न नहीं हो पाती। तथ्यो को सामान्य ढग से ही प्रस्तुत किया जाता है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि प्रत्येक भाषा के गद्य साहित्य के विकास मे कथा साहित्य का प्रमुख स्थान होता है तथा प्रारम्भ में अभिव्यक्ति के गवेषणात्मक चिन्तन प्रक्रिया का प्रयोग नहीं होता। हिन्दी तथा राजस्थानी गद्य साहित्य के विकास की भी यही स्थिति है। राजस्थानी गद्य का विकास अवश्य ही हिन्दी गद्य से प्राचीन है तथा उसमे प्रचलित युगानुकुल गद्य विधाओ के दर्शन भी होते हैं किन्तु उसकी प्रचलित शैलिया मात्र कथासाहित्य के अनुकुल ही हैं। राजस्थानी गद्य को वैज्ञानिक शैलियो का रूप निर्धारण प्रारम्भ मे मौलिक परम्परा पर आधारित था।

शैली का सीधा सम्बन्ध कथ्य की पूर्णता से है। वह वक्तव्य वस्तु की अभिव्यक्ति है। साहित्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति शैली नहीं कहला सकती। प्रारम्भ मे

---

1. डा नगेन्द्र हिन्दी काव्यालंकार सूत्र : भूमिका, पृ 55।

प्लेटो सम्प्रदाय के समीक्षकों की मान्यता थी कि शैली अभिव्यक्ति की विशिष्टता है जो भाषा साहित्य मे प्रत्येक स्थल मे सम्भव नही। अर्थात् प्रत्येक गद्य साहित्य मे शैली की उपस्थिति सम्भव नहीं है। इधर अरस्तु सम्प्रदाय के लेखक शैली को एक व्यापक तत्त्व के रूप मे स्वीकार करते थे और उनका कहना था कि प्रत्येक लेखक की अपनी एक विशिष्ट शैली है। इस कथन पर विचार करने पर शैली की विविधता एवं उसके विभिन्न स्वरूपों की एक विचित्र समस्या सामने आयेगी। यदि गद्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति को ही शैली मान लिया जाय तो गद्य के सौन्दर्य, परिमार्जित स्वरूप एवं उसकी लाक्षणिक अभिव्यक्ति का कोई मूल्य नही होगा, और उस स्थिति में शैली विचारों का मात्र परिधान ही सिद्ध होगी। भाषा मे एक विशिष्टता एव अपूर्व अर्थ शक्ति होती है जो प्रत्येक स्थल पर सम्भव नही। विशिष्टता से अभिप्राय भाषा मे भावो की गहराई, स्पष्टता, व्यापकता, सरलता एवं शालीनता के गुणों से है। साहित्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य केवल शैली पर निर्भर करता है। चूंकि सम्पूर्ण साहित्य मे सौन्दर्य की कल्पना नही की जा सकती; अतः साहित्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति भी शैली नही हो सकती। रामचन्द्र वर्मा का विचार है कि—"शैली का साधारण अर्थ है ''''''''''ढंग'''' .''''बोलने या लिखने का यही अच्छा और खास ढग शैली कहलाता है।"[1] अपने मन के विचारों को ठीक तरह से व्यक्त करने का जो ढग होता है, उसी को साहित्य मे शैली कहते हैं विषय अपने आप में दुरुह, सरल अथवा पूर्ण नही होता; शैली ही दुरुह को सुगम एवं अपूर्ण को पूर्ण बनाती है। जैसा कि स्पष्ट है कि प्रत्येक लेखक के बोलने अथवा लिखने का ढंग खास अथवा अच्छा नही होता तथा वे अपूर्ण को पूर्ण एवं दुरुह को सरल बनाने मे समर्थ नही होते; अतः उनकी अभिव्यक्ति का प्रत्येक ढग शैली नही कहला सकता। लेखक की अभिव्यक्ति मे यदि शब्दगत एवं अर्थगत सौन्दर्य नही है तो वह मात्र अभिव्यक्ति ही होगी, शैली नही। सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कथ्य मे भाव या विचार की सम्प्रेषणीयता शक्ति उत्पन्न होने पर ही शैली की उपस्थिति सम्भव है, अन्यथा नही।

डा० जैकब पी० जार्ज ने शैली के तात्विक विवेचन के सन्दर्भ मे यह स्वीकार किया है कि "शैली प्रत्येक अभिव्यक्ति का साधारण धर्म नही है; वह विशिष्ट अभिव्यक्ति का सहज धर्म है। गद्य इन तत्त्वों से अभिव्यक्त हो जाता है तो शैली प्रादुर्भूत हो जाती है।"[2] यहा यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गद्य मे मात्र चमत्कार अथवा आकर्षण उत्पन्न करना ही शैली नही है, अपितु चिंतन, गांभीर्य एवं सयत चित्तवृत्ति के द्वारा जब गद्य मे विषयानुसार विशिष्ट अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाती है, वहां शैली स्वतः प्रादुर्भूत होती है। साराश यह है कि गद्य और

1. रामचन्द्र वर्मा, अच्छी हिन्दी, पृ० 81।
2. डा. जेकब पी. जार्ज, आधुनिक गद्य और गद्यकार।

गद्य शैली एक नहीं हो सकते। गद्य मात्र अभिव्यक्ति है और शैली उस अभिव्यक्ति का भाव प्रेरित वैशिष्ट्य है।

प्रारम्भ में "शैली" की समीक्षा मात्र व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर की जाती थी। एक व्यापक दृष्टिकोण का पूर्ण अभाव था। शैलीगत सिद्धान्त भी नहीं थे। लेखक की निजी उपलब्धि ही मात्र "शैली" का क्षेत्र था। हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक विकास में "शैली" का एक निश्चित स्वरूप अंकित नहीं हो पाया था जबकि राजस्थानी गद्य में कथात्मक शैलियों का विकास हो चुका था। इस दृष्टि से यह निश्चित रूप से स्वीकार करना होगा कि साहित्य में शैली का सम्बन्ध मात्र "गद्य" से है, पद्य से नहीं। राजस्थानी गद्य में गद्य की विभिन्न विधाओं का विकास 17वीं शताब्दी में ही हो चुका था तथा इन विधाओं में विषय सामग्री (Subject Matter) का प्रयोग एक निश्चित रूप में विधा-गत परम्पराओं के अनुकूल होता था। प्रत्येक विधा की अभिव्यक्तिमूलक पृथक रीति अथवा पद्धति होती थी। ये पद्धतियां अपने आप में विधागत शैली के रूप में तो थी ही, साथ ही इनमें अनेक शैलियों का प्रयोग भी किया जाता था। अभिप्राय यह है कि राजस्थानी गद्य साहित्य में 'शैली' का विकास हिन्दी गद्य से प्राचीन है।

4. शैली का क्षेत्र :

शैली शब्द का विवेचन करने के पश्चात स्वतः ध्यान उसके क्षेत्र की ओर जाता है। शैली का क्षेत्र निर्धारण करना तो कठिन है ही, साथ ही उसके क्षेत्र की विवेचना करना और भी जटिल कार्य है। शैली समीक्षा को किसी परिधि अथवा सीमा में बांधा नहीं जा सकता। साहित्य के अतिरिक्त यह शब्द अन्य क्षेत्रों में भी प्रचलित रहा है। लोक कला में यह शब्द इतना प्रचलित हो चला है कि कला की आंशिक विविधता को शैली की संज्ञा दी जाती है; जैसे स्थान एवं काल विशेष की दृष्टि से पूर्वी शैली, पश्चिमी शैली, अमेरिकन शैली, कांगड़ा शैली तथा द्रविड़ शैली आदि। मूर्ति कला, स्थापत्य कला एवं चित्र कला के क्षेत्र में यह शब्द, 'स्टाइल' के समानार्थक रूप में विशेष प्रचलित है। जातीय परम्पराओं के अन्तर्गत भी शैलियों का निर्धारण किया जाने लगा है जैसे चारण शैली, जैन शैली, नागर शैली, बौद्ध शैली आदि। प्रत्येक कला में शैली से अभिप्राय मात्र विशिष्टता से ही है।

साहित्य की शैली के क्षेत्र निर्धारण से पूर्व इस तथ्य पर विचार किया जाना चाहिए कि भाषा का स्वरूप किन किन परिस्थितियों में विकसित होकर आज हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। शैली का क्षेत्र न केवल विधान (टैकनिक) की दृष्टि से ही निर्धारित किया जाना चाहिए अपितु भाषा की दृष्टि से शैली में उत्पन्न वैशिष्ट्य एवं सौन्दर्य की भी विवेचना की जानी चाहिए। साहित्य की भाषा का निर्माण सदैव बोलचाल की सामान्य भाषा से होता है; अतः भाषा के लौकिक एवं साहित्यिक स्वरूप की व्यापकता पर विचार करना भी "शैली के अध्ययन का एक अंग है। गुणों, शब्द शक्तियों एवं विशिष्ट अलंकार आदि में उचित क्रम संघटन से साहि-

त्यिक भाषा का विकास होता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वक्रोक्ति, अलकार, रीति, गुण एवं साहित्यिक सौन्दर्य का स्थान तो शैली मे होता ही है; साथ ही शैली को उद्घाटित करने वाले गुण जिनमें बौद्धिक एवं भावतत्त्व प्रधान हैं, शैली के अन्तर्गत ही अभिव्यक्त किये जाते हैं। शैली के क्षेत्र मे प्रत्येक नाद, शब्द, वाक्य, ध्वनि एवं रूप पर विचार किया जाना आवश्यक है। साहित्य मे नाद का सीधा सम्बन्ध शब्द से है। प्रारम्भ मे अर्थ की अभिव्यंजना के साथ नाद का सीधा सम्बन्ध था। भाषा का प्रत्येक शब्द, जिसमे प्रेषणीयता होती है; नाद प्रधान अथवा अर्थ प्रधान होता है।

शैली के क्षेत्र का निर्धारण करने पर यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति (लेखक), भाषा, विषय, पाठक, देश-काल एवं जलवायु शैली के मूल स्रोत हैं जो शैली का पारिनिष्ठित स्वरूप निर्धारित करते हैं। शैली लेखक, विषय अथवा भाषा का साध्य नही है, साधन है; किन्तु वह साहित्य की मौलिकता को सुरक्षित रखने का कार्य करती है। अतः यह निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि "शैली" की अनुपस्थिति में साहित्य जीवित नही रह सकता। "शैली" के तात्त्विक विवेचन के अन्तर्गत उपर्युक्त समस्त तत्त्वों का अध्ययन आवश्यक है। शैली से हमारा तात्पर्य मात्र गद्य की विशिष्ट अभिव्यक्ति से है, अतः इस दृष्टि से जो उपकरण गद्य की अभिव्यक्ति को विशिष्टता प्रदान करते हैं; उनका सम्यक विवेचन ही शैली का क्षेत्र माना जायेगा।

5. शैली के दो प्रकार : विधान एवं भाषा की दृष्टि से

भाव या विचार किसी विशिष्ट युग या व्यक्ति विशेष का नही होता अपितु सार्वजनिक एवं सार्वकालिक होता है। नया युग, नयी मान्यताएं एवं नये सृष्टा उसे जिस कुशलता से नियोजित करते हैं; साहित्य की शैली की मौलिकता उसी मे मानी जाती है। अतः अर्थ चमत्कार, भाषा सौष्ठव एवं अर्थ सौन्दर्य की अवहेलना साहित्य की शैली में नही की जा सकती। शब्द और अर्थ की इच्छानुसार अभिव्यजना होने पर ही वक्ता की प्रधानता को स्वीकार किया जा सकता है। वक्ता हमारी सुप्त सहानुभूति को जाग्रत करता है तथा अपनी अभिव्यक्तिगत विशिष्टता के माध्यम से हमें भाव जगत् तक ले आता है। हमारा भाव जगत् लेखक के विचारो को भावात्मक एव बौद्धिक दोनों ही रूपों से आत्मसात कर लेता है जो वह अभिव्यक्ति मात्र लेखक तक सीमित न रहकर सार्वजनिक बन जाती है। जब हम यह स्वीकार कर लेते है कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही साहित्य है तो हमारा ध्यान यहां से हटकर सीधा साहित्य की अभिव्यक्ति पद्धति पर आता है। अभिव्यक्ति के अनेक तत्त्व हो सकते है—कुछ आंतरिक और कुछ बाह्य। शैली के इन तत्त्वो पर विचार पृथक् से किया जायगा किन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा कि अभिव्यक्तिमूलक पद्धति (शैली) के स्वरूप को दो दृष्टियों मे विभाजित कर सकते हैं। प्रथम विधान (टैकनीक) की दृष्टि से तथा दूसरी भाषा की दृष्टि से। शैली का यह विभाजन किसी वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं किया गया है, क्योंकि दोनो ही रूप एक दूसरे से प्रभावित रहते हैं।

टेकनीक की दृष्टि से जब हम यह कहें कि अमुक लेखक ने अमुक स्थल पर व्याख्यात्मक अथवा विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया है तो स्वतः भाषा का स्वरूप जिसमें अलकार, गुण एवं सौन्दर्य के तत्त्व सम्मिलित होंगे; अवश्य ही प्रकट होगा। इसी तरह आलंकारिक चित्रण करने से शैली का वैधानिक रूप चाहे वह वर्णनात्मक हो अथवा विवेचनात्मक, अवश्य ही उद्घाटित होगा। अतः यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि शैली का यह स्थूल विभाजन मात्र अध्ययन की दृष्टि से ही किया जा रहा है।

शैली के विधान (टेकनीक) सम्बन्धी विभाजन का मुख्य आधार विषय वस्तु है। विषय वस्तु की प्रकृति के अनुसार लेखक स्वयं शैली का निर्धारण करता है यह भी स्पष्ट किया जा सकता है कि विषय वस्तु की प्रकृति एवं परम्परागत पूर्व निश्चित मान्यताओं के अन्तर्गत भी लेखक अपनी शैली का निर्धारण करता है राजस्थानी भाषा के प्राचीन गद्य साहित्य मे यों तो भाषा की दृष्टि से शैलियों का प्रयोग हुआ है किन्तु परम्परागत मान्यताओं का प्रयोग अधिक हुआ है। टीका ख्यात, पट्टावली एव वंशावली आदि विधागत पद्धतियों मे परम्परागत शैलियों का ही प्रयोग हुआ है। बात साहित्य मे अवश्य ही परम्परागत रूप के अतिरिक्त आप शैली की विशिष्टताओं की झलक मिलती है। साहित्य की शैली का क्षेत्र विभाजन इसलिए सम्भव नही हो सकता कि लेखक का व्यक्तित्व सदैव ही परिवर्तित होता ही रहता है। तथा विषय विशेष का निरन्तर विकास भी होता रहता है। कालान्तर मे जब गद्य शैली का विकास हुआ तो विधान की दृष्टि से शैली के नये नये रूप सामने आये। विषय वस्तु के प्रतिपादन के लिए वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विवेचनात्मक एवं भावात्मक शैलियों का रूप विधान सामने आया। विषय को व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए अभिव्यक्ति पद्धति को व्यंग्यात्मक शैली का नाम दिया गया तथा इस प्रकार अभिव्यक्तिमूलक विशिष्टताओं के आधार पर चित्रात्मक एवं काव्यात्मक शैलियों का प्रचलन हुआ। यह प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि साहित्य की अभिव्यक्ति पद्धति पर युग एव व्यक्ति का विशेष प्रभाव रहा है; अतः इनकी विशिष्टताओं के कारण शैली को नये नये नामों से सम्बोधित किया जाने लगा, जैसे मध्यकालीन शैली, द्विवेदी युगीन शैली तथा लेखक विशेष के नाम से बाण शैली, प्रसाद शैली एवं होमर शैली आदि। पाठकों की रुचि को ध्यान में रखते हुए तथा उद्देश्य के अनुसार भी शैलियों के नामकरण किये गये; जैसे सुबोध शैली, क्लिष्ट शैली एव विनोद शैली आदि।

इधर भाषा की विशिष्टताओं से युक्त अभिव्यक्ति का रूप तो समानान्तर चलता ही आ रहा है तथा इस दृष्टि से भी शैली के अनेक नये रूप सामने आये। शैली के आन्तरिक एवं बाह्य गुणों के आधार पर रागात्मक, बौद्धिक, कल्पना सम्बन्धी एवं भाषा सम्बन्धी गुण स्वीकार किये गये। शैली मे स्वच्छता, लालित्य, लय एवं प्रवाह की उपस्थिति इसी गुण के आधार पर स्वीकार की गयी। माधुर्य,

ओज एवं प्रसाद गुण को भाषा की दृष्टि से ही शैली में आवश्यक माना है। उक्ति में वैचित्र्य एवं चमत्कार उपस्थित करने मे वक्रोक्ति कहां तक सार्थक है; यह तथ्य भी भाषा की दृष्टि से आवश्यक है। शैली में अलंकारो के महत्त्व का निरूपण तो पृथक् से किया जा रहा है किन्तु वे भाषा शैली के प्रसाधन है एवं उनकी उपयोगिता भाषा शैली में उनके उचित उपयोग पर निर्भर करती है। अलंकार का मुख्य उद्देश्य है सजीव चित्रण और वही उसकी सिद्धि है। इस तथ्य का यदि निर्वाह होता है तो वे उक्ति के अभिन्न अंग हैं। अलंकारो पर विशेष बल देने वालो ने ही साहित्य मे अलकृत शैली का नामकरण किया है। शैली मे भाषा की दृष्टि से रीति सिद्धान्त का विवेचन व्यक्ति वैशिष्ट्य के रूप मे, अभिव्यंजना रीति के रूप मे तथा निरपेक्ष रूप मेंभी किया जाना चाहिए। रीति सिद्धान्त प्रकृति की दृष्टि से शैली के समानार्थक रूप में चलता रहा है। सौन्दर्य का निरूपण प्रत्येक क्षेत्र मे आवश्यक है किन्तु शैली में उसकी उपयोगिता भाषा की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती है। आन्तरिक सौन्दर्य जहाँ भावात्मक अभिव्यक्ति पर बल देता है वहां बाह्य सौन्दर्य शब्दों की ध्वनि पर बल देता है। संगीतात्मकता एवं आकर्षण आदि गुण भी शैली को विशेष प्रभावशाली बनाते हैं किन्तु उनमे सामन्जस्यता एव यथातथ्यता होनी चाहिए। इस प्रकार विधान एवं भाषा की दृष्टि से शैली के दो रूप निर्धारित किये जा सकते हैं किन्तु मूलत. दोनो में एक दूसरे का रूप उपस्थित रहता है।

भाषा की दृष्टि से शैली के जिन विविध रूपो की कल्पना की गयी है उनमे अलंकार, गुण एवं सौन्दर्य तत्त्वों के अतिरिक्त कभी-कभी उक्ति मे वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए वक्रोक्ति का प्रयोग भी किया जाता है। भाषा के सामान्य एव स्वाभाविक प्रयोग में इस स्वरूप की उपस्थिति नही होती अपितु कथन मे जहां वैदग्धता, चातुर्य या चमत्कार का उपयोग किया जाता है वहा इस विशिष्टता का प्रयोग शैली मे किया जाता है। भाषा मे वक्रोक्ति के प्रयोग से शैलीगत सौन्दर्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है जबकि सामान्य कथन में ऐसा सम्भव नही। वक्रोक्ति का प्रयोग मात्र उक्ति की वक्रता तक ही किया जाता है, अतः वह भाषा शैली का एक अंग है। भाषा की दृष्टि से जो मूलभूत तत्त्व शैली का निर्धारण करते हैं, उनका आगे पृथक् से चित्रण किया जा रहा है। यहा मात्र इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि भाषा के उपर्युक्त तत्व उचित रचना संगठन से शैली का निर्धारण करते हैं।

6. शैली के गुण और विभिन्न उपकरण : (शैली के साथ उनका सम्बन्ध)

शैली शब्द के तात्विक विवेचन के पश्चात् उसके आन्तरिक स्वरूप की विवेचना करना भी आवश्यक है। भाषा-शैली की क्षमता-अक्षमता, शक्ति-अशक्ति एवं उसकी अभिव्यक्ति की सूक्ष्मताओं का विश्लेषण इन विविध अंगों एव रूपों के माध्यम से ही सम्भव है। सामान्य दृष्टि से इन रूपो को हम शैली के उपकरण भी कह सकते हैं। शैली के बाह्य तत्त्वों के अन्तर्गत ध्वनि, शब्द, वाक्य, अनुच्छेद,

एव अलंकार आदि पर विचार किया जा सकता है। इन बाह्य तत्त्वों के अतिरिक्त शैलीकार की बौद्धिक, भावात्मक, कल्पनात्मक और सौन्दर्यात्मक क्षमता पर आश्रित कुछ अन्य तत्व भी है जिनमे से कुछ पर 'व्यक्तित्व और शैली' के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है तथा कुछ पर पृथक् से विचार किया जायेगा। गुण, प्रतीक विषय, शब्द शक्तियां, लोकोक्ति एव मुहावरे, अलंकार आदि उपकरण भाषा-शैली के रूप-निर्धारण मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

7. गुण :

भारतीय आचार्यों ने काव्य शास्त्र के अनुसार गुण शब्द की व्याख्या शब्दों के रूप सौन्दर्य के अन्तर्गत की हैं। ध्वनि और गुण का सीधा सम्बन्ध शब्दों से तो है ही किन्तु कथ्य की विशिष्टता से भी है। पाश्चात्य विद्वान 'गुण' शब्द के लिए क्वालिटी (Quatity) शब्द का प्रयोग करते हैं। अर्थ सम्पता की दृष्टि से दोनों एक ही अर्थ की अभिव्यंजना करते हैं। गुण का शब्दिक अर्थ है विशेषता, शोभाकारी या आकर्षक धर्म। आचार्य भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में गुणों की चर्चा अवश्य की है किन्तु साहित्य के क्षेत्र मे वामन ने उस पर स्पष्ट प्रकाश डालते हुए लिखा है कि गुण काव्य-मूल शोभा (सौन्दर्य) के तत्व हैं। गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं और काव्य के लिए अनिवार्य है। मम्मट ने इन्हें रस के अंगरूप धर्म की संज्ञा दी है। पंडित राज जगन्नाथ ने गुणों को रस के स्थान पर शब्दार्थ का धर्म सिद्ध करते हुए मम्मट के कथन का विरोध किया है। डा. नगेन्द्र का विचार है कि 'गुण काव्य के उन उत्कर्ष साधक तत्वो को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।'[1] उपर्युक्त विचारो के सन्दर्भ मे यही कहा जा सकता है कि 'काव्य की शोभा को सम्पादित करने वाले या काव्य की आत्मा को प्रकाशित करने वाले तत्व या विशेषता गुण हैं।[2] ये गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं, जो मूलतः वर्ण-संघटन, शब्द योजना, शब्द चमत्कार, शब्द प्रभाव और अर्थ की दीप्ति पर आश्रित हैं। डा. गणपति चन्द्र गुप्त ने पदार्थ की सामान्य विशेषता को ही गुण माना है। उनका मत है कि, 'वस्तुतः गुण कोई पृथक् तत्व न होकर विभिन्न तत्वों की समन्वित विशेषता का पर्यायवाची होता है।'[3] डा. गुप्त ने सामान्य विशेषताओं के सन्दर्भ मे प्रसाद (Clasixy), समास (Bravixy) एव शुद्धता (Propriety) आदि की ओर सकेत किया है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये गुण मूलतः काव्यगत शैली मे ही नही होते अपितु प्रत्येक साहित्य शैली मे विद्यमान रहते हैं। स्पष्टता, संक्षिप्तता एवं शुद्धता का ध्यान प्रत्येक रचना कृति में रखा जाता है। गुण भाषा शैली के सामान्य धर्म हैं। साहित्य मे उनका स्थान अचल, नित्य एवं स्थायी है।

1. डा. नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालंकार सूत्र वृत्ति : भूमिका, पृ. 93।
2. डा. धीरेन्द्र वर्मा: हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, पृ. 297।
3. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त : साहित्य की शैली, पृ. 269-70।

गुणों का लक्ष्य साहित्य में स्वच्छता, स्पष्टता, शुद्धता एवं शोभा उत्पन्न करना है। उनकी उपस्थिति शब्दार्थ से लेकर साहित्य तक में होती है। गुणों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं। भरत मुनि ने इनकी संख्या दस मानी है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद सौकुमार्य, अर्थ व्यक्ति, उदारता और कान्ति। भरत के इन गुणों को आचार्य दण्डी ने भी स्वीकार किया है किन्तु समाधि, कान्ति आदि गुणों के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण भरत से भिन्न है। भोज ने इनकी संख्या चौबीस तक मानी है जो बाह्य आभ्यन्तर और वैशेषिक आदि भेदों में विभाजित करने पर कुल बहत्तर तक होते हैं। यह सब मात्र संख्या बढ़ाने के उद्देश्य से ही हुआ है। 'अग्निपुराण' में अठारह गुणों का उल्लेख किया गया है, जो शब्द गुण, अर्थ गुण और उभय गुणों में विभक्त किये गये हैं। आचार्य कुन्तक ने गुणों का नितान्त भिन्न विवेचन किया है। उन्होंने दो अनिवार्य सामान्य गुण माने हैं—औचित्य एवं सौभाग्य। इसके अतिरिक्त चार विशिष्ट गुण माने हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य। रामचन्द्र शुक्ल ने गुण को रस पर आश्रित माना है और श्याम सुन्दर दास ने शैली के अन्तर्गत माना है। आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों ने गुणों की संख्या केवल तीन–प्रसाद माधुर्य और ओज तक ही मानी है।

पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के अन्तर्गत केवल दो गुणों की ही कल्पना की है। 1. पद्यात्मक–जिसमें प्रसाद और स्पष्टता का गुण विद्यमान रहता है। 2. रागात्मक–इसमें शक्ति, करुणा एवं हास्य की उपस्थिति रहती है। एफ. एल. लूकस[1] ने साहित्य के लिए स्पष्टता, संक्षिप्तता, विविधता, सरलता, व्यंग्यात्मकता, मधुरता, शुद्धता, शक्तिमत्ता, अलंकृति आदि गुण माने हैं। डा. गणपतिचन्द्र गुप्त ने साहित्य की शैली के लिए गुण आवश्यक तो माने हैं किन्तु वे उनके आवश्यक नाम विस्तार में विश्वास नहीं करते। वे शुद्धता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता को ही शैली का आवश्यक गुण मानते हैं। उनका कथन है कि 'ये ही तीन गुण ऐसे हैं जिनकी अपेक्षा प्रत्येक प्रकार की काव्य रचना में की जा सकती है तथा जिनका काव्य में नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है।'[2]

उपर्युक्त मान्यताओं के सन्दर्भ में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'गुण' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक करना पड़ेगा। रीतिकालीन आचार्य स्वयं गुण शब्द के अर्थ में बहुत उलझे हुए से प्रतीत होते हैं। कहीं उन्होंने 'गुण' शब्द का व्यापक अर्थ किया है तो कहीं सीमित। वस्तुतः 'गुण' का सीधा सम्बन्ध मात्र काव्य से ही नहीं अपितु अभिव्यक्ति से है। अभिव्यक्ति पद्यात्मक हो सकती है और गद्यात्मक भी। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि गुणों का सम्बन्ध साहित्य में नित्य है अथवा अनित्य। चूंकि गुणों का सीधा सम्बन्ध अच्छाइयों से है, चाहे वे साहित्य में हों

---

1. एफ. एल. लूकस, स्टाइल, पृ. 50।
2. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ. 275।

अथवा अन्यत्र तथा साहित्य में अच्छाइयां विशिष्ट अभिव्यक्ति में ही हो सकती हैं, सामान्य में नहीं । अतः विशिष्टता के पक्ष को स्वीकार करते हुए यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि गुण साहित्य के अनिवार्य तत्त्व हैं जिनकी उपस्थिति साहित्य में नित्य होनी चाहिए। साहित्य में गुणों की संख्या कितनी भी हो सकती है, इसमें सीमा निर्धारण सम्भव नहीं; किन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से साहित्य में बाह्य एवं आन्तरिक पक्षों को ध्यान में रखकर केवल दो ही गुण स्वीकार किये जा सकते हैं—बाह्य एवं आन्तरिक; जिनकी ओर पाश्चात्य समीक्षकों ने संकेत भी किया है। उदाहरण के लिए माधुर्य शब्द अपने आपमें इतना व्यापक है कि उसमें सौन्दर्य-उत्पादन अलंकारादि सभी तत्त्वों को समाविष्ट किया जा सकता है। अर्थ की अभिव्यक्ति में रसात्मक आनन्द देने वाले माधुर्य, ओज एवं प्रसाद आदि गुण इसी श्रेणी में सम्मिलित किये जा सकते हैं। इनसे सम्बद्ध स्वच्छता, स्पष्टता, सरलता आदि गुण स्वतः इनके साथ ही विद्यमान रहते हैं; क्योंकि ये मूल गुणों को बल प्रदान करते हैं।

भाषा में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले गुण बाह्य गुण कहलाते हैं। शब्दों में सुकुमारता, आलंकारिकता एवं चमत्कार उत्पन्न करने वाले गुण इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। यहां कुछ विद्वान अलंकार को गुण मानते हैं किन्तु अलंकार साहित्य में मात्र शोभा बढ़ाने वाले उपकरण हैं तथा साहित्य में उनका सम्बन्ध अनित्य का है जबकि गुण साहित्य में नित्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य में शोभा बढ़ाने वाले उपकरण—जैसे अलंकार, मुहावरे—कहावतें, बिम्ब, वक्रोक्ति आदि गुण तो हैं किन्तु अनिवार्य एवं नित्य नहीं। उनके अभाव में भी साहित्य एवं शैली का अस्तित्व है। विचारों की गूढ़ता, विषय प्रतिपादन की गंभीरता, मुहावरों-कहावतों एवं अलंकारों की प्रचुरता तथा वाक्यों की जटिलता किसी भाषा-शैली को जटिल बना सकती है किन्तु गुणों का सुन्दर प्रयोग उसे सरलता एवं स्पष्टता से युक्त करता है। शैली में अर्थ की स्पष्ट एवं निश्चित अभिव्यंजना माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुण से ही सम्भव है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि, "गुण शरीर और आत्मा दोनों के धर्म माने जा सकते हैं।"[1] ओज, प्रसाद एवं माधुर्य के अतिरिक्त एक सफल शैली में निम्नलिखित गुण भी होने चाहिएं:—

1. शब्दों का सुसंचयन एवं सुप्रयोग:—शब्दों के सुसंचयन एवं सुप्रयोग के लिए आवश्यक है कि साहित्यकार को शब्दों के अभिधेयार्थ की यथार्थता का, शब्दों की भाव बोधकता का, शब्दों की अनेकार्थकता का, अर्थ शब्द मैत्री, सन्दर्भ उपयोगिता एवं अर्थ विशेष में शब्दों के सुप्रयोग का ज्ञान हो। अतः आवश्यक है कि रचना शैली में जो शब्द काम में आयें वे अपने आप में शुद्ध हों, यथार्थता के द्योतक हों, प्रचलित हों एवं उपयुक्त तथा असंदिग्ध हों। शब्दों के इन सुव्यवस्थित प्रयोग से

1. पं. रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण, पृ. 97।

शैली में ओजस्विता, सजीवता, प्रौढ़ता एवं प्रभावशालिता का गुण स्वतः उद्भूत होगा।

वाक्य विन्यासः—सफल शैली का आधार वाक्य रचना ही है क्योंकि वही हमारे विचारों एवं भावों को व्यक्त करती है। शैली में जिन वाक्यों का प्रयोग किया जाय वे शुद्ध, रोचक, संयत एवं प्रभावोत्पादकता के गुणों से युक्त एवं इच्छित अर्थ की अभिव्यंजना करने वाले हों।

भाव प्रकाशन का ढंगः—रचना की अभिव्यक्ति इतनी संयत हो कि हमारे मनोगत भाव सरलता, स्पष्टता एवं सजीवता के साथ व्यक्त हों। अनावश्यक वाक्य विस्तार, जटिलता एवं संदिग्ध वाक्यों का प्रयोग न किया जाये। सरल एवं संयुक्त वाक्यों का प्रयोग अधिक किया जाय। जहां आवश्यक ही हो वहीं मिश्र वाक्यों का प्रयोग कुशलता के साथ किया जाय जिससे शैली के प्रवाह में शिथिलता न आने पाये।

उपर्युक्त गुणों के साथ शैली में लेख के लेखक के स्वभावगत गुणों का भी विशेष प्रभाव पड़ता है जो मूलतः उसके व्यक्तित्व के अन्तर्गत ही आते हैं। अन्त में यह कहना उचित ही होगा कि भाषा में अविच्छिन्न प्रवाह (Flow), रोचकता एवं मर्मबोधक शक्ति भी होनी चाहिए जिससे वह लेखक की अभिव्यक्ति को पाठकों तक उसी रूप में पहुंचा सके।

8. शैली और प्रतीकः

साहित्य में प्रतीक सिद्धान्त कोई नया प्रयोग नहीं है। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त इसकी स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ फ्रेंच कलाकारों द्वारा मानते हैं किन्तु हिन्दी काव्य साहित्य में इसकी परम्परा सर्वाधिक प्राचीन है। यह निश्चित है कि समय-समय पर युग के अनुरूप प्रतीकों का स्वरूप और प्रयोग अवश्य परिवर्तित हुआ है। साहित्य में ही नहीं अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतीकों का महत्त्व है और उनका प्रयोग निरन्तर भिन्न भिन्न रूपों में होता रहता है। "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रति-विधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है।"[1] प्रतीक योजना के अन्तर्गत एक शब्द में लोक-प्रचलित महत्ता के भाव अंकित कर दिये जाते हैं। साधारणतया कहा जा सकता है कि किसी जीव-वस्तु, दृश्य-अदृश्य, प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तु का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्ति ही प्रतीक है। उदाहरणार्थ—राजस्थानी भाषा में 'शूर' का प्रयोग जब किसी व्यक्ति के लिए किया जायेगा, वहां लौकिक मान्यताओं के आधार पर श्रेष्ठ योद्धा के गुण उस व्यक्ति के आधार बन जायेंगे और इस सन्दर्भ में 'शूर' की विशिष्टताओं को देखते हुए 'शूर' शब्द 'वीर' का प्रतीक बन जायेगा।

---

1. सं. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोष, भाग I, पृ. 515।

प्रतीकों का जीवन से ऐसा सम्बन्ध है कि उनकी उपस्थिति मे जीवन की प्रक्रियाएं संपादित ही नहीं हो सकती। ट्रेन गार्ड की लाल और हरी झंडिया, राष्ट्र ध्वज और उसके विभिन्न रंग, सिंह, शृगाल और लोमड़ी, विशिष्ट फूल, पौधे एवं पक्षी आदि किसी भावना के द्योतक ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रतीक किसी अलंकार के कार्य को ही संपादित करता है उसमे उपमा अलंकार के साधारण धर्म की झलक सी प्रतीत होती है, किन्तु मूलतः दोनों एक नही हैं। प्रतीक योजना का क्षेत्र उपमा अलंकार से व्यापक है। वहां (उपमा में) किसी सामान्य पर किसी विशिष्टता का आरोपण किया जाता है जबकि प्रतीक मे महान तथा हीन दोनों ही अवस्थाएं प्रसंगानुसार प्रकट की जा सकती हैं। पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार, 'प्रतीक' और रूपक अलंकार एक ही हैं, किन्तु वस्तुतः उनमें पर्याप्त अन्तर है। रूपक और प्रतीक दोनों मे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोपण किया जाता है किन्तु रूपक मे जहां साथ ही प्रस्तुत का भी उल्लेख किया जाता है वहां प्रतीक मे ऐसा नही होता।

अनेक विद्वानों ने प्रतीक को चिन्ह (Symbol) और चिन्ह को प्रतीक माना है, किन्तु यह स्थिति न तो साधारण व्यावहारिक जीवन में ही सम्भव है और न साहित्य मे ही। साहित्य में सामान्य और विशिष्ट दो अर्थ होते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध सामान्य और विशिष्ट चिन्हो से ही होता है। सामान्य चिन्ह या शब्द का साधारणतया एक ही अर्थ होता है जबकि प्रतीक के एक सामान्य और एक या एक से अधिक विशिष्ट अर्थ होते हैं। साधारण चिन्ह का अर्थ सरल होता है किन्तु प्रतीक का अर्थ क्लिष्ट होता है।

काव्य मे अलंकारों की तरह प्रतीकों का प्रयोग तो होता ही रहा है किन्तु गद्य में भी उनका महत्त्व कम नही है। उनकी सार्थकता उनके उचित प्रयोग पर ही निर्भर करती है। संकेतात्मक, अभिव्यंजनात्मक, तुलनात्मक एवं आरोपमूलक अर्थों मे प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। मूलतः प्रतीक किसी विशिष्ट भावना के द्योतक ही हैं। प्रतीक के प्रयोग से साहित्य मे दोहरात्मक अर्थ की अभिव्यक्ति भी होती है। अप्रत्यक्ष अर्थ प्रत्यक्ष अर्थ की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होता है; जिसके सफल प्रयोग से साहित्य में सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। प्रतीकों के द्वारा भाषा अधिक सशक्त, सहज एवं व्यापक हो जाती है तथा जीवन के अधिक निकट आ जाती है। इनके प्रयोग से किसी विषय की व्याख्या की जाती है, विषय को स्वीकार किया जाता है एवं साधारण कथन को असाधारण बना दिया जाता है। साहित्य के क्षेत्र में प्रतीक शक्ति को घनीभूत भी करते हैं। साहित्य की शैली मे सौन्दर्य प्रस्तुत करने में प्रतीक संवेगात्मक महत्त्व रखते हैं। साहित्यकार का अमूर्त चिन्तन मात्र प्रतीकों के द्वारा ही विकसित होता है। प्रतीकों का एक महत्त्व इस बात में भी है कि शैली मे ऐतिहासिक सन्दर्भ उपस्थित करने मे ये विशेष उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए विभीषण, जयचन्द आदि का जहां भी उल्लेख किया जायगा, वे देशद्रोही के प्रतीक

यदि विचारात्मक है तो स्वतः लेखक को गरिमायुक्त उदात्त शैली का प्रयोग करना पड़ेगा जिसे साहित्यिक भाषा में विवेचनात्मक शैली कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विषयों की प्रकृति की दृष्टि से ही 'चिन्तामणि' में भावात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से विवेचनात्मक शैली का स्थल स्थल पर प्रयोग किया है।

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त विषय को व्यक्तित्व के अनन्तर ही स्वीकार करते हैं। 'व्यक्तित्व के अनन्तर शैली का दूसरा स्रोत विषय है। जिस प्रकार व्यक्तित्व के प्रभाव से शैली में व्यक्ति-वैशिष्ट्य का संचार होता है, वैसे ही विषय के अनुसार भी उसमें विशिष्टता का प्रादुर्भाव होता है।"[1] विषय का निर्वाचन मूलतः लेखक अपनी रुचि के अनुसार करता है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का ढंग एक मात्र उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर नहीं। कभी कभी विषय का निर्वाचन लेखक की वैयक्तिक रुचि के अनुरूप भी नहीं होता, जो कुछ वह साहित्य को देता है उसमें उसकी व्यक्तिगत मान्यताएं तो सम्मिलित रहती हैं किन्तु विषय का अपना महत्त्व फिर भी बना ही रहता है तथा यहां लेखक जो कुछ अभिव्यक्त करेगा उस पर (शैली पर) विषय की प्रकृति का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। अतः शैली के निर्धारण में व्यक्तित्व तथा विषय का समान महत्त्व है, उसमें प्रमुख अथवा गौण का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। शैली की प्रक्रिया में व्यक्तित्व की मान्यता तो आवश्यक है किन्तु यह विषय का सम्बल लिए बिना स्थिर नहीं रह सकती। दोनों का समन्वित रूप शैली का निर्धारण करता है। विषय के अनुसार शैली वैशिष्ट्य प्राप्त करती है, साहित्यकार विशेष परिस्थिति एवं प्रसंग के अनुसार शैली का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए दृश्यों के प्रसंग में वर्णनात्मक, पात्रों की अनुभूतियों को प्रकट करने एवं बौद्धिक मान्यताओं के निरूपण में विचारात्मक तथा विवेचनात्मक एवं घटनाओं का उल्लेख करते समय विवरणात्मक शैली का प्रयोग करता है। यह निर्विवाद सत्य है कि विषय की प्रकृति के अनुसार ही लेखक को वर्णनात्मक, विवरणात्मक चित्रात्मक, भावात्मक आदि विभिन्न प्रकार की शैलियां अपनानी पड़ती हैं। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व के साथ विषय विशेष भी शैली के निर्धारण में एक आवश्यक उपकरण है। शैली का स्वरूप बहुत कुछ विषय की प्रकृति पर ही निर्भर करता है।

10. शैली और शब्द शक्ति :

'शब्द' साहित्य की शैली के बाह्य उपकरण हैं जो अभिव्यक्ति की लघुतम किन्तु महत्वपूर्ण इकाई है। शब्द के अभाव में न रचना सम्भव है और न शैली ही। शब्द का धातुगत अर्थ है-आविष्कार करना और शब्द करना-'शब्द आविष्कारे (शब्द शब्द करणे)[2] महाभाष्य के अनुसार, 'लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने

1. डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ० 241।
2. प० रामदहिन मिश्र, उद्धृत-काव्यालोक (द्वितीय संस्करण), पृ० 2।

वाली ध्वनि ही शब्द है।' शब्द शाश्वत है, अक्षर रूप में वह वर्णमाला मे सदैव विद्यमान रहता है। अर्थ की स्थिति शब्द में है, ज्ञाता में नही। 'अर्थ शब्द की निवृत्ति है और इसीलिए तन्त्रों मे लगातार शब्द ब्रह्म की कल्पना मिलती है, जिससे समस्त मानवों और देवों की सृष्टि हुई है'[1] शब्द को नाद भी कहा गया है, जो अनावृत्त रूप मे सारे ब्रह्मांड मे व्याप्त है। वैष्णव पद्धतियो मे भी शब्द को ब्रह्म के रूप मे माना है। अतः शब्द की व्यापकता को देखकर कहा जा सकता है कि ब्रह्म का ब्रह्म से भी सम्बन्ध है। हमारे मान्यता प्राप्त सभी प्राचीन ग्रन्थो मे शब्द के महत्त्व की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई है। विष्णु पुराण के अनुसार-शब्द विष्णु का ही अंश है। यह भी स्वीकार किया गया है कि यदि एक ही शब्द का ज्ञान हो जाय और उसका सुन्दर रूप से प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक दोनों में अभिमत फल का दाता होता है।

हिन्दी कोश के अनुसार शब्द के दो रूप होते हैं-वर्णनात्मक और ध्वन्यात्मक। वार्यंत्र से उत्पन्न शब्द वर्णनात्मक के भी दो प्रकार हैं—व्यक्त (सार्थक) और अव्यक्त (निरर्थक)।[2] साहित्य में सार्थक शब्दों का ही प्रयोग होता है। शब्द की शक्ति उसके अन्तर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है। हिन्दी साहित्य कोप के अनुसार "अर्थ का बोध कराने मे 'शब्द' कारण है और अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना हैं। आचार्यों ने इन्ही को शक्ति तथा वृत्ति नाम दिया है। मम्मट ने व्यापार शब्द का प्रयोग किया है तो विश्वनाथ ने शक्ति का।"[3] वस्तुतः शक्ति का अर्थ शब्द की अर्थ अभिव्यंजना से है। ये शब्द शक्तियां अथवा व्यापार तीन माने गये हैं; अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना अतः शब्द से तात्पर्य उसकी अर्थ शक्ति अर्थात् प्रेषणीयता से है। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार, "शब्द अपना अर्थ देने का कार्य जिस शक्ति के द्वारा संपादित करता है, उसे शब्द की शक्ति या शब्द शक्ति कहा जाय तो अनुचित नही है।"[4] कुछ विद्वानों ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना के अतिरिक्त तात्पर्य, भावना एवं भोजक आदि शक्तियों का भी उल्लेख किया है। मूलतः शब्दों मे ये शक्तियां भिन्न अस्तित्व नहीं रखतीं, अपितु इनकी मान्यता अभिधा, लक्षणा व व्यंजना के अन्तर्गत ही सम्भव है।

साहित्य की शैली मे शब्द शक्तियां विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। शब्द अपने आप में महत्त्वपूर्ण नही हैं, अपितु उसका उचित प्रयोग ही उसे महत्त्व प्रदान करता है। ध्वनि और अर्थ (Sense or meaning) दोनो के सम्यक संयोग से ही शब्द की उत्पत्ति होती है। शब्द के पीछे अर्थ अवश्य होता है; चाहे सांकेतिक हो अथवा प्रचलित। पद्य की अपेक्षा गद्य मे शब्दो के सुप्रयोग का विशेष महत्त्व है, क्योंकि

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, पृ० 429; 569।
2. स० कालिका प्रसाद : बृहत हिन्दी कोश (ज्ञान मंडल)।
3. सं धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश (ज्ञान मंडल), पृ. 623।
4. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ. 278।

वाक्य रचना में एक अयोग्य शब्द ही लेख की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति को अयोग्य घोषित कर सकता है। शब्दों का गुण (Quality) पर शैली का रूप निर्भर करता है। यदि शब्द दोष-युक्त एवं निम्न स्तर वाले हैं, तो स्वतः शैली भी निकृष्ट ही होगी।

साहित्य में मुख्य अर्थ की अभिव्यंजना करने वाली शक्ति को अभिधा कहते हैं। इसकी अभिव्यक्ति में रूढ, योगिक एवं योग रूढ शब्द व्यवहार में आते हैं। सामान्य विषयो पर लिखे गये निबन्ध, कथा साहित्य आदि में जहां सामान्य लेखक यथातथ्य एवं स्पष्ट विचार व्यक्त करता है, वहां शैली मे इसी कोटि के शब्दों का प्रयोग होता है। प्लेटो की सहज और सरल शैली इसी के अन्तर्गत आती है। आचार्यों ने अभिधा शक्ति को विशेष महत्त्व दिया है। मम्मट के अनुसार, 'मुख्य अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार को अभिधा व्यापार या शक्ति कहते हैं।'[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिधा को 'शब्द' के मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति कहा है।'[2] पं. रामदहिन मिश्र ने इसे साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक व्यापार माना है[3] तथा डा भोला शंकर व्यास ने 'शब्द' के साक्षात् संकेतित अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति के रूप में अभिधा को स्वीकार किया है।[4] उपर्युक्त मान्यताओं से ऐसा प्रतीत होता है मानो अभिधा शक्ति मे मुख्य अर्थ के अतिरिक्त किसी गौण अर्थ की उपस्थिति भी रहती है, किन्तु महत्त्व केवल मुख्य अर्थ का है, गौण का नही। डा. गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपने विचारों को बहुत ही स्पष्ट ढग से प्रस्तुत किया है। उनकी धारणा है कि, 'भाषा की जिस शक्ति से शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है, वह अभिधा शक्ति कही जाती है।'[5] अभिधा शक्ति के प्रयोग से साहित्य मे परम्परागत मौलिक शब्दो का प्रयोग होता है तथा उनके प्रचलित अर्थ पर भी परम्परा एवं पूर्व मान्यताओं का अधिक प्रभाव रहता है। शुद्ध अभिधा का प्रयोग शैली मे विशेष भाव व्यंजक माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि शैली में शब्दो के उचित अर्थ का ग्रहण ही अभिधा शक्ति है।

साहित्य की शैली मे "मुख्यार्थ की बाधा होने रुढ़ि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा कहते हैं।"[6] पंडित रामदहिन मिश्र की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि इस शक्ति के द्वारा शब्द के वाच्यार्थ या मुख्यार्थ से बाधा उपस्थित हो जाती है जिससे वह परिवर्तित हो जाता है, किन्तु दोनो मे सम्बन्ध बना रहता है। इस शब्द शक्ति के पीछे किसी विशेष रूढ़ि या वक्ता के किसी विशेष प्रयोजन की प्रेरणा अवश्य

1. काव्य प्रकाश, मम्मट।
2. रामचन्द्र शुक्ल, रस मीमांसा, पृ. 371।
3. प. रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण, पृ. 20।
4. डा. भोला शंकर व्यास, ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ. 67।
5. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ. 280।
6. पं. रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण, पृ. 21।

ही रहती है। प्रत्येक भाषा में शब्दों के बहुत से प्रयोग ऐसे होते हैं जो धीरे-धीरे एक अर्थ से दूसरे अर्थ में परिवर्तित होते रहते हैं। लोक व्यवहार में जब किसी शब्द का दूसरा अर्थ या नया अर्थ इतना प्रचलित हो जाता है कि उसका प्रयोग सामान्य रूप से होने लगता है तो उस स्थिति मे नये शब्द का लक्ष्यार्थ स्वतः वाच्यार्थ मे परिवर्तित हो जाता है। हिन्दी मे गवेषणा, गोस्वामी, स्वर्गीय आदि शब्द ऐसे ही हैं। मम्मट ने लक्षणा के रूढि अर्थ की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि, "मुख्य अर्थ के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस क्रिया (शक्ति) द्वारा मुख्य अर्थ से सबध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं।"[1] लक्षणा मे शब्द अपने मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखता हुआ अमुख्य अर्थ का प्रतिपादन करता है क्योंकि उसमें लेखक का विशिष्ट उद्देश्य समाहित रहता है। जैसे उसका नौकर गधा है। नौकर के लिए जिस अर्थ की कल्पना की गई है उसका अर्थ लाक्षणिक है। मनुष्य कभी भी गधा नहीं हो सकता किन्तु चूंकि गधा मूर्खता का प्रतीक है, अतः उसके मित्र की मूर्खता को देखकर उसके लिए इस प्रतीकात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे अर्थ में चामत्कारिता उत्पन्न हो सके। मम्मट ने लक्षणा के अनेक भेदोपभेदो की ओर संकेत किया है किन्तु हमारा लक्ष्य शैली मे लक्षणा के महत्त्व एवं स्वरूप का विवेचन करना है; लक्षणा के भेदों का विश्लेषण करना नहीं। शब्दो के प्रचलित प्रयोग के अन्तर्गत लक्षणा शक्ति के मूल दो भेदों-रूढ़ि लक्षणा एव प्रयोजनवती लक्षणा की ओर संकेत अवश्य किया जा सकता है। वस्तुतः रूढ़ि या परम्परा के प्रचलित चमत्कार शून्य प्रयोग अभिधा के अन्तर्गत ही आते हैं किन्तु लक्षणावादियों ने क्षेत्र विस्तार के लिए इनकी कल्पना की है। अनेक मुहावरे, जो आज रूढ हो गये हैं; लक्षणा के अन्तर्गत ही माने जा रहे हैं। अतः कहा जा सकता है कि शब्दों से इंगित और शमित लक्षणा है।

साहित्यिक रचना के लिए तीनो ही शब्द शक्तियों का प्रयोग हो रहा है किन्तु कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ को ध्वनित करने वाली व्यंजना शक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है। साहित्य मे इन शक्तियो के द्वारा प्रतीक योजना के बल पर मानव जीवन की अनेक भावनाओं को अभिव्यक्त किया जाता है। जगत् की विभिन्न इकाइयों मे विषयगत अन्तर इतना होता है कि उन्हें साहित्य मे एक ही रचना-शैली के द्वारा चित्रित नही किया जा सकता। अभिधा शक्ति शैली निर्धारण में सहज एव पूर्ण है किन्तु गम्भीर विषयों की अभिव्यक्ति अभिधा के द्वारा प्रभावशील सिद्ध नही हो सकती वहां केवल व्यंजना शक्ति ही सार्थक सिद्ध हो सकती है।

"अंजन" शब्द मे "वि" उपसर्ग लगाने से व्यंजन शब्द निर्मित होता है, अतः व्यंजन का अर्थ हुआ–विशेष प्रकार का अंजन। 'आंख में लगा हुआ अंजन जिस

---

1. "मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढितो थ प्रयोजनात्।
   अन्योर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।
   —मम्मट (काव्य प्रकाश 2:9)

प्रकार दृष्टि दोष को दूर कर उसे निर्मूल बना देता है, उसी प्रकार व्यंजना शक्ति शब्द के मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को पीछे छोड़ती हुई उसके मूल में छिपे हुए अकथित अर्थ को द्योतित कराती है।[1] अभिधा तथा लक्षणा अपने अर्थ का बोध कराकर जब विरत हो जाती है, तब जिस शब्द शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। अभिधा और लक्षणा का सम्बन्ध केवल शब्द से ही होता है, किन्तु व्यंजना मात्र शब्द पर ही नहीं, अपितु अर्थ पर भी आधारित रहती है। आचार्य मम्मट के अनुसार, "अनेक अर्थ वाले शब्द का जब संयोगादि के द्वारा वाचकत्व नियत हो जाता है, तब भी उस शब्द के किसी और अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे ज्ञान के उत्पन्न करने वाले व्यापार का नाम अंजना-व्यंजना है।"[2]

आचार्य विश्वनाथ—"अपना-अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त हो जाने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहने वाली वृत्ति (शक्ति) व्यंजना कहलाती है।"[3] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने व्यंजना की निश्चित परिभाषा न देकर केवल यही कहा है कि व्यंजना शक्ति ऐसे अर्थ को बतलाती है जो अभिधा, लक्षणा या तात्पर्यवृत्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होता।"[4] साहित्य की शैली के अन्तर्गत डा. गणपतिचन्द्र गुप्त ने कहा है कि—"व्यंजना भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रकरण या प्रसंग विशेष मे एक साथ अनेक स्वतन्त्र अर्थों की अभिव्यक्ति या प्रतीति होती है।"[5] अभिधा और लक्षणा का संबंध केवल शब्द से ही होता है, किन्तु व्यंजना मात्र शब्द पर ही नहीं, अपितु अर्थ पर भी आधारित होती है, जिसमे अर्थ की अभिव्यंजना ध्वनि के बल पर किया जाता है। यहां यह भी स्पष्ट किया जा सकता है कि अभिधा और लक्षणा मे तो व्यंजना लगती ही है किन्तु व्यंजना पर भी व्यंजना लगती है, उदाहरण—"अभी तुमने मुंह तक नही धोया है।" इसका व्यग्यार्थ यह होगा कि अब मै यहां अधिक नहीं ठहर सकूंगा। यहां इसका मूल व्यंग्यार्थ यह भी होगा कि जो काम मुझको बतलाते हैं, मै न कर सकूंगा, दूसरे को दे दीजिए।

व्यंजना के अनेक भेद हैं किन्तु यही बताना यहां पर्याप्त होगा कि व्यजना के मुख्यतः दो भेद हैं—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी व्यंजना में शब्दों की ही प्रधानता रहती है, अर्थात् व्यंजना के लिए वे ही शब्द विशेष रहें तभी व्यंजना संभव हो सकेगी। शब्द पर आधारित इस शाब्दी व्यजना के भी दो भेद किए जा सकते है। अभिधामूला तथा लक्षणामूला। शाब्दी व्यंजना अनेकार्थी शब्दों के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने के बाद, जिसे शक्ति के द्वारा उन शब्दों से दूसरा अर्थ ध्वनित होता है उसे अभिधा-

1. सं. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश (ज्ञान मंडल), पृ. 850।
2. मम्मट-काव्य प्रकाश, पृ 28।
3. आचार्य विश्वनाथ साहित्य दर्पण।
4. रामचन्द्र शुक्ल, रस मीमांसा, पृ 380।
5. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ. 280।

मूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं।'[1] लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना में शब्द का मुख्यार्थ बाधित रहता है। यह अर्थ बाधा किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए वक्ता द्वारा जान बूझ कर उपस्थित की जाती है—उदाहरणार्थ जब कोई व्यक्ति कहता है कि, "क्यो सिर खाते हो?" यहां यह स्पष्ट है कि सिर कोई खाने की चीज नही, वह व्यक्ति अपनी झुंझलाहट प्रकट करने के लिए ही ऐसा कह रहा है। शाब्दी व्यंजना का दूसरी भाषा मे अनुवाद कठिन होता है किन्तु आर्थी के अनुवाद मे कोई कठिनाई नही होती। आर्थी व्यजना का प्रयोग साहित्य मे बड़ी सजगता के साथ किया जाता है। शब्द का अर्थ विशेष व्यंग्यार्थ पर निर्भर करता है। आर्थी व्यंजना के सम्बन्ध मे पं. बलदेव उपाध्याय का मत है कि, "वक्ता, बोधव्य, काकु (कहने का विशिष्ट प्रकार) वाक्य, वाच्य (कथित अर्थ), दूसरे की सन्निधि, प्रस्ताव, देश काल एवं चेष्टा आदि साधनों की विशिष्टता के कारण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति जहा वाच्य अर्थ से एक दूसरे अर्थ की प्रतीति कर लेता है वहां आर्थी व्यंजना होती है—जैसे "अवसर सुन्दर है, इच्छा को पूर्ण कर लीजिए।"—यहां बोधव्य की ओर संकेत नही है, अतः किसी कामुक के प्रति यह उक्ति विषय वासना के लिए होगी एवं किसी विरक्त साधु के लिए मोक्ष के रूप में।"[2] इसके साथ ही चोर के लिए इस उक्ति का व्यग्य चोरी करने के सुन्दर अवसर के रूप में होगा। उपर्युक्त विशिष्टताओ के कारण प्रतिभावान व्यक्तियों के मन मे जो दूसरा अर्थ स्फुरित अथवा प्रकट होता है, उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं। व्यंजना में पाठक तथा लेखक दोनों को ही बुद्धि तत्त्व तथा कल्पना तत्व से काम लेना पड़ता है। साहित्य की शैली में जहां अभिधा तथा लक्षणा से अर्थ अभिव्यंजित न हो, वहां व्यंजना शक्ति का प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि सम्प्रदाय के विद्वानों ने व्यंजना शक्ति का ही नया नामकरण करते हुए उसे ध्वनि कहा है। दोनों में मात्र नाम का ही अन्तर है, विषय का नहीं, क्योंकि जहां भी व्यंग्यार्थ है, वहां व्यंजना या ध्वनि का अस्तित्व है। ध्वनि की तरह व्यंजना में व्यंग्यार्थ है, वहां व्यंजना या ध्वनि का अस्तित्व है। ध्वनि की तरह व्यंजना में व्यंग्यार्थ की महत्ता प्रत्येक स्थिति में उपस्थित रहती है।

प्रत्येक समृद्ध भाषा में समानार्थी अनेक शब्द प्रचलित है, जिनके यथा तथ्य एवं उचित प्रयोग से गद्य शैली विकसित होती है। शैली मे शब्द शक्ति के महत्त्व के सम्बन्ध मे पाश्चात्य समीक्षक होरेस का कथन है कि," यदि तुम किसी परिचित शब्द को किसी समुचित संदर्भ में रखकर अपने कौशल से उसमें न्यूनता का आकर्षण उत्पन्न कर सको, तो तुम्हारी अभिव्यक्ति सराहनीय समझी जायेगी।"[3] शब्द में यह आकर्षण लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति के माध्यम से ही उत्पन्न हो सकता है किन्तु

1. काव्य प्रकाश 2:19।
2. पं. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, पृ. 186।
3. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, सं. डा. नगेन्द्र, पृ. 62।

आवश्यकता उसके उचित प्रयोग की है। पं. सीताराम चतुर्वेदी ने शैली में साधारण शब्दों के प्रयोग को ही उचित माना है। जहां तक सामान्य विषयों एवं कथा साहित्य का प्रश्न है, उनकी शैली में इन शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि साधारण लोग भी इनसे मनोरंजन करते हैं किन्तु विशिष्ट एवं गरिमायुक्त लेखों आदि में लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति का प्रयोग सार्थक सिद्ध हो सकता है। "शब्द" की महानता उसके उचित प्रयोग अर्थात् वाक्य में है। अतः वाक्य में शब्दों की योजना बड़ी सजगता से की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में एफ. एल. लूकस का कथन है कि "सशक्त शब्दों को वाक्य के प्रधान स्थानों पर रखने में ही लिखने की कला आधृत है।"[1]

डायोनीसियस ने शब्द चयन की अपेक्षा शब्द योजना पर अधिक बल दिया है तथा लोजाइन्स एवं क्विंटीलियन ने शब्दों को शैली का मुख्य आधार माना है। प्रत्येक भाषा-शैली में शब्दों के विभिन्न रूपों का प्रयोग किया जाता है किन्तु उनका चयन विषय की प्रकृति के अनुसार किया जाना चाहिए। आंचलिक शब्दों का बहिष्कार तो नहीं किया जा सकता किन्तु उनके लिए उचित प्रसंग खोजना उचित है। दोष युक्त शब्द शैली के प्रवाह को नष्ट कर देते हैं। शब्दों का वर्गीकरण एवं प्रयोग उनके गुणों के आधार पर किया जाना चाहिए। जिन शब्दों में बहुमुखी प्रयोग की शक्ति होती है उन्हें शैली के लिए सर्वश्रेष्ठ शब्द मानना चाहिए। यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि शब्दों का चयन व्यक्तिगत रुचि एवं अनुभूति के आधार पर भी करना चाहिए, क्योंकि मौलिकता एवं सहजता का गुण व्यक्तिगत रुचि पर अधिक निर्भर करता है। शब्दों का प्रचलन सिक्कों की तरह चलता है। अतः ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए जो सौन्दर्य को बढ़ाने में सार्थक सिद्ध हों। शब्दों का महत्त्व मात्र भाषा में ही नहीं है अपितु शैली में भी है। वे शैली के अवयव हैं, अतः भाषा में उपयुक्त, संतुलित एवं प्रसंगानुसार शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए। सारांश यह है कि शब्दों की महत्ता उपयुक्त शब्द चयन एवं प्रयोग में है और शैलीकार की सफलता भी इसी में है कि वह उपयुक्त शब्दों के प्रयोग से विचारों को प्रकट करे।

11. शैली और अलंकार :

प्रकृति अपने आवरण को सजाने-संवारने में नित्य नवीन रूप धारण करती है। वह अपने अंगों को अलंकृत करने में कोई कमी नहीं रखती। साहित्यकार प्रकृति से शिक्षा ग्रहण करने वाला भावुक प्राणी है। वह न केवल अपने शारीरिक आवरण को ही सुन्दरता प्रदान करने में प्रयत्नशील रहता है अपितु अपनी विचारात्मक अभिव्यक्ति को ही सुन्दर तथा मनोरम बनाने में अलंकारों की सहायता लेता है। काव्य में शब्दगत एवं अर्थगत चमत्कार उत्पन्न करने एवं शोभा उत्पन्न करने में इनका प्रयोग किया जाता रहा है। अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकारक धर्म हैं। हम इन्हें

1. एफ. एल. लूकस, स्टाइल, पृ. 237।

सौन्दर्य के उपकरण भी कह सकते है। इनके द्वारा अभिव्यक्ति मे स्पष्टता, भावो मे प्रभविष्णुता, प्रेषणीयता तथा भाषा मे सौन्दर्य का सम्पादन होता है।

प्रारम्भ में गुण तथा अलंकारों को एक ही माना जाता था। भरत दण्डी तथा भामह आदि आचार्यों ने इनके गुण और अलंकारों के पारस्परिक अन्तर की ओर संकेत तो अवश्य किया था किन्तु वामन ने इनके तात्त्विक अन्तर पर विचार किया था। उन्होंने स्पष्ट किया कि 'काव्य शोभा के कारक (विधायक) धर्म गुण है' "तथा" काव्य-शोभा के अतिशय हेतु (वृद्धि कारक धर्म) अलंकार है।" अभिप्राय यह है कि गुण साहित्य के आन्तरिक तत्त्व है जबकि अलंकार शब्द और अर्थ के शोभातिशायी अस्थिर धर्म हैं। गुण के समान उनकी स्थिति काव्य मे आवश्यक नहीं है। अलंकार के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न मान्यताएं निरूपित की थीं। 'अलंकार' का लक्षण निरूपित करते हुए अलंकार सम्प्रदाय के आदि आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को सम्पूर्ण अलंकारों मे व्यापक बतलाते हुए इसे अलकार का एकमात्र आश्रय माना है। दण्डी ने "काव्य के शोभाकर धर्मों को 'अलकार' कहा है।" (काव्यादर्श, 2:1)। दण्डी ने भी अलंकार को काव्य का शोभाकर, धर्म माना है किंतु वामन उनका विरोध करते हुए अलंकार को शोभा के कर्त्ता न मानकर उन्हें अतिशयिता कहा है (काव्यालकार सूत्र 3:1)। ध्वनिकार एवं रसवादी आचार्य आनन्द वर्धन, मम्मट एवं विश्वनाथ आदि ने अलकार के लिए कहा है कि ये हार आदि आभूषणवत् हैं जो इसका उपकार करते हैं। अर्थ सौन्दर्य मे सहायक होने के कारण काव्य मे अलंकारों का विशेष महत्त्व है, किन्तु रस, ध्वनि एवं गुण को जो महत्त्व साहित्य में दिया जा सकता है वह अलकार को नहीं। पल्लव की भूमिका मे पन्त ने 'अलंकार' के सम्बन्ध में लिखा है कि 'अलंकार' केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं; पृथक् परिस्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।[1] पंत ने न केवल शब्दालंकार एवं अर्थालंकार की उपयोगिता पर ही प्रकाश डाला है अपितु भाषा की सम्यक अभिव्यक्ति के लिए उन्हें महत्त्वपूर्ण माना है। आचार्यों ने अलंकार भेद की दृष्टि से *उभयालंकार को भी पृथक् सत्ता के रूप मे माना है किन्तु मूलतः* यह शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का यौगिक रूप है। काव्य साहित्य मे जहां दोनो (शब्द और अर्थ सम्बन्धी) विशेषताएं विद्यमान हों वहां उभयालंकार होता है।

यहां अलंकार का तात्त्विक विवेचन करना हमारा ध्येय नहीं है, केवल साहित्य की शैली के क्षेत्र में उसकी उपस्थिति एवं उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करना है। काव्य के क्षेत्र में अलंकार का क्या स्थान रहा है, इस पर विचार करना भी अभीष्ट नहीं। मात्र इतना कह देना ही स्पष्ट होगा कि काव्य मे चमत्कार

---

1. पंत, पल्लव, पृ. 28।

उत्पन्न करने के लिए अलंकारों का बराबर प्रयोग होता रहा है। काव्य जगत् के कलापक्ष को आकृष्ट करने एवं उद्भूत शक्ति से मंडित करने में एक अन्यतम साधन के रूप में अलंकार का प्रयोग बराबर होता रहा है किन्तु यह सर्वमान्य तथ्य नहीं है कि अलकार गद्य शैली के लिए आवश्यक तत्व हैं। उनकी उपस्थिति भाव जगत् की शुष्क अभिव्यक्ति को सरस एवं मनोरम अवश्य बनाती है किन्तु वे अनित्य हैं, शाश्वत नहीं। गद्य में शब्दों और वाक्यों का प्रयोग बड़ी सतर्कता से करना पड़ता है, आंशिक अस्वाभाविकता ही शैली के प्रवाह को अयोग्य सिद्ध कर सकती है; अतः गद्य शैली के क्षेत्र में भी (यदि आवश्यक हो) अलंकार का प्रयोग बड़ी सजगता से करना चाहिए। बाबू गुलाब राय शैली में अलंकारों के उचित प्रयोग के समर्थक हैं। उनका मत है कि, "अलंकार शैली की उत्कृष्टता मे सहायक होते हैं। वे इतने ऊपरी नहीं हैं जितने कि समझे जाते हैं। उनका भी रस से सम्बन्ध है। उनकी भी उत्पत्ति हृदय के उसी उल्लास से होती है जिससे कि काव्य-मात्र की-(नारी के भौतिक अलंकारों को धारण करने मे भी एक मानसिक उल्लास के अभाव मे विधवा स्त्री अलंकार नही धारण करती)-इसलिए हृदय का ओज या उल्लास अलंकारों के मूल मे माना जाएगा।"[1] गुलाब राय की यह मान्यता कि 'अलकार रसानुभूति में भी सहायक होते हैं'-कुछ स्थिति तक ठीक है किन्तु यह सब, प्रसंग एवं उचित प्रयोग पर ही निर्भर करता है। अलंकार के अभाव में रसानुभूति सम्भव नहीं; इस तथ्य को स्वीकार नही किया जा सकता। इतना अवश्य है कि उनके उचित प्रयोग से शैली का बाह्य पक्ष (जिसमे सौन्दर्य एव विशिष्टता प्रमुख है) अवश्य प्रभावित होता है। सम्भव है कि पाठकों एवं श्रोताओं को कर्णप्रिय एवं मधुर भी लगे, क्योंकि प्रकट रूप मे शब्दालंकारों के उचित प्रयोग से भाषा-शैली मे शब्द माधुर्य की विशिष्टता उत्पन्न होती है। प्रसगानुकूल अलकारों के प्रयोग से, चाहे वे शब्दालंकार हों अथवा अर्थालंकार; शैली मे रोचकता एवं अभिव्यक्ति सामर्थ्य अवश्य उत्पन्न होता है।

डा. जेकब पी. जार्ज ने शैली के अन्तर्गत अलंकारों पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि, "सर्वप्रथम तो वे लेखक के मन की अव्यक्त अनुभूतियों को जगत् की ठोस वस्तुओं के साथ तुलना के सहारे मूर्त रूप में उपस्थित करने मे उसकी सहायता करते हैं और इस प्रकार लेखक अपने अव्यक्त और वायवी भावों को सुव्यक्त और सुनिश्चित रूप देने मे सफल सिद्ध हो जाता है।' (आधु. हिन्दी गद्य और गद्यकार) डा. जेकब ने अलंकारों के विशिष्ट धर्म एवं उपयोगिता की ओर संकेत किया है। वस्तुत: लेखक अलंकारों के माध्यम से अपनी अव्यक्त अनुभूतियों का तुलनात्मक अभिव्यक्तिकरण करता है किन्तु इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अलंकारों के माध्यम से ही भावों का सुव्यक्त और सुनिश्चित रूप प्रकट हो सकता है। तथ्य तो यह है कि अलंकारों के अभाव में भी 'शैली' की उपस्थिति सम्भव है।

1. बाबू गुलाबराय वर्मा, 'सिद्धान्त और अध्ययन'।

अलंकारों के सम्यक प्रयोग पर एक अभिव्यक्ति मात्र विशिष्ट अभिव्यक्ति ही बन सकती है जिसे हम अलंकृत शैली कहते हैं। समय-समय पर साहित्यिक प्रवृत्तियां एवं मान्यताएं बदलती रही हैं जिनके सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि आज का साहित्यकार अलंकारों के प्रयोग को विशेष महत्त्व नहीं देता। वह अपनी बात सीधे सादे ढंग से अभिव्यक्त करना उचित समझता है। अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णक शैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र उपयुक्त नहीं बन सकती। अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे अलकृत प्रयोग ही शैली नहीं है, वह शैली में मात्र विशिष्टता उत्पन्न करने का एक साधन मात्र है, किन्तु यह भी उसके उचित प्रयोग पर ही निर्भर करता है। अतः स्वीकार करना होगा कि गद्य में अलंकार सर्वस्व नहीं हैं एवं अनिवार्य भी नहीं। यदि भावो मे उत्कर्ष उत्पन्न करने, अभिव्यक्ति के अधीन रहकर योगदान देने एवं तुलनात्मक दृष्टि से अर्थ की अभिव्यंजना करने में वे योगदान देते हैं तो गद्य शैली मे उनके महत्त्व को स्वीकार किया जा सकता है। अलंकार को विषय-वस्तु एव वक्तव्य के अधीन रहना चाहिए, तभी गद्य शैली मे उनकी सार्थकता है।

12. शैली : लोकोक्ति एवं मुहावरे :

शैली मे अलंकारों की उपयोगिता, प्रयोग एव सार्थकता सिद्ध करने के पश्चात् यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि साहित्य की शैली को विशिष्टता प्रदान करने मे 'लोकोक्तियों एव मुहावरों' का क्या उपयोग एवं महत्त्व है ? यहा प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि अलंकारों की तरह लोकोक्तिया भी शैली मे नित्य न होकर अनित्य हैं, चाहे उनकी सार्थकता कितनी अधिक क्यो न हो। कुछ विद्वान लोकोक्ति को एक गौण अलंकार के रूप मे मानते है। उनका विश्वास है कि लोक विख्यात किसी कहावत के अनुकरण से लोकोक्ति अलकार होता है। यदि लोकोक्तियो को अलंकार ही स्वीकार कर लिया जाय तो उनकी उपयोगिता लोक साहित्य के क्षेत्र मे घट जायेगी। लोकोक्ति में गागर मे सागर भरने की प्रवृत्ति काम करती है। लोकोक्तियों में विभिन्न नीतियों की झलक निहित रहती है। 'लोकोक्ति' का रूप अपने आपमे इतना विस्तृत है कि विभिन्न कहावतें एवं मुहावरे इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। 'लोकोक्ति' के अन्तर्गत कुछ पहेलियो का प्रयोग भी मौलिक परम्परा मे होता है किन्तु उनका साहित्यिक महत्त्व नहीं है।

जीवन की कटु सत्यता एवं भावों की सहज अभिव्यक्ति का जितना सहज निर्देशन कहावतों एवं लोकोक्तियो में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हमारे आदिकालीन जीवन के स्वरूप, संस्कारों एवं मान दण्डों को स्थायी बनाने में कहावतें एवं लोकोक्तियां विशेष उपयोगी हैं। उर्दू मे एक उक्ति प्रचलित है—'खलक की जबान खुदा का नक्कारा'। अर्थात् लोकोक्ति जनता-जनार्दन की उक्ति है। जीवन का सत्य, व्यावहारिकता का रूप लिए हुए लोकोक्तियों मे उपस्थित होता है। क्या जीवन के इस सत्य स्वरूप को व्यक्ति अपनी भावात्मक अभिव्यक्ति में छोड़ सकता

है ? उत्तर होगा—नहीं। लोकोक्ति के प्रयोग से भाषा-शैली में अर्थ गर्भितता, चटपटापन वैचित्र्यमयी अभिव्यक्ति एवं हास्य विनोद का गुण उत्पन्न होता है। प्रकृति की दृष्टि से लोकोक्ति और अलंकार में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकारों के माध्यम से काव्य में चमत्कार उत्पन्न किया जाता रहा है तथा लोकोक्तियां भी मुख्यतः पद्यमयी अभिव्यक्ति का रूप रही हैं, जिनमें जीवन की सत्यता के सिद्धान्त समाहित हैं। कहावतों एवं लोकोक्तियों का भाषा साहित्य में इसलिए भी महत्व है कि उनमे पद्यात्मक अभिव्यक्ति का स्वरूप एवं आलंकारिक रूप की उपस्थिति रहती है। राजस्थानी कहावतो एवं लोकोक्तियो में तो यह स्थिति विशेष महत्वपूर्ण है।

उदाहरणार्थ—

मौत, मानगी, मामलो, मंदी, मांगण हार।
पाचू मम्मा एकता, पत राखे करतार॥

यहां जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों एवं कटु सत्यता का तो उपयोग हुआ ही है, साथ ही अनुप्रास अलंकार का प्रयोग भी उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न करता है। तुक के साथ लय भी कहावतों एवं लोकोक्तियों मे विद्यमान रहती है, जिससे भाषा शैली मे काव्यात्मकता उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ— 'घर का पूत कुंवारा डोले पाड़ोसी का फेरा।' एवं 'पांच सात की लाकड़ी एक जणें को भार।' आदि।

लोकोक्तियों, कहावतों एवं मुहावरो आदि के माध्यम से मनुष्य निरन्तर कुछ सीखता ही रहता है। अनेक समस्याओं का समाधान उसे इन उक्तियों के माध्यम से मिलता ही रहता है। जीवन की यह सत्यता कहावतों, मुहावरो एवं लोकोक्तियो के माध्यम से जब भाषा-शैली में अभिव्यक्त होती है तो शैली में सहजता एवं स्पष्टता का गुण स्वतः उत्पन्न होता है। इस प्रकार भाषा शैली सत्य एवं सौन्दर्य के गुण से मंडित होकर ठोस भूमि पर अवस्थित होती है। साहित्य की दृष्टि से भी कहावतो का महत्व कम नही है। वे भाषा का शृंगार हैं एवं उनके सफल एवं यथातथ्य प्रयोग से भाषा मे सजीवता एवं स्फूर्ति का संचार होता है। गद्य साहित्य (कथा साहित्य) मे तो लोकोक्तियों का प्रयोग एक प्रकार से अनिवार्य हो है क्योंकि लेखक एवं पाठक जीवन की कटु सत्यता के निकट आते हैं और कथा-साहित्य मात्र मनोरंजन का साधन न रहकर यथार्थ एवं सत्य का रक्षक बन जाता है। इन उपकरणो के माध्यम से भाषा-शैली मे चमत्कार के साथ साथ विशिष्टता का एक नया गुण आ जाता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इनकी महत्वपूर्ण उपयोगिता यह है कि इनके उचित प्रयोग से भाषा के प्राचीन शब्दों के स्वरूप को स्थायी रखने म सहायता मिलती है; तथा लोक-भाषा एवं साहित्यिक भाषा मे निकटता का सम्बन्ध स्थापित होता है। इनकी सर्वाधिक उपयोगिता इस बात मे है कि तथ्यो की प्रमाणिकता सिद्ध करने मे ये इतनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं कि शैली स्वतः गाम्भीर्य सजीवता एव रोचकता के गुण से युक्त हो उठती है। इसी सन्दर्भ मे डा. सहल ने

यह स्वीकार किया है कि, "मुहावरे वस्तुतः किसी भाषा की वैयक्तिक चाल ढाल हैं।" (राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन) भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इनका महत्त्व इस बात में भी है कि रूपक की तरह इनमे अभिधा की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजना का अधिक प्रयोग होता है। प्रत्यक्ष अर्थ भिन्न अर्थ की अभिव्यक्ति भी की जाती है, जैसे-अंगुलि पकड़ते पकड़ते पहुंचा पकड़ना।" आदि। यहा अभिधा के सहारे अर्थ की अभिव्यंजना संभव नहीं। अतः इनका प्रयोग लाक्षणिक ढंग से ही किया जाता है। अधिकांश कहावतों का प्रयोग दूसरों पर डालकर कोई बात कहने मे किया जाता है जिससे पाठक पर उसका प्रबल प्रभाव पड़ता है एवं अप्रस्तुत कथन के रूप में इनका प्रचलन बराबर चलता रहता है। कहावतों एवं मुहावरों आदि की उपयोगिता इस बात मे भी है कि उक्ति वैचित्र्य एव लक्षणा के माध्यम से प्रयोग करने पर शैली मे संक्षिप्तता, सारगर्भितता, प्रामाणिकता एवं चटपटे-पन का गुण उत्पन्न होता है। इसी सन्दर्भ में डा. सहल ने लिखा है कि, "कहावतें मानव स्वभाव और व्यवहार कौशल के सिक्के के रूप में उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती है।" (राजस्थानी कहावतें एक अध्ययन, पृ. 3) अतः साहित्य को जीवन से जोड़ने के लिए व्यावहारिक रूप में प्रचलित कहावतों एवं मुहावरों का प्रसंगानुसार प्रयोग भाषाशैली मे किया जाना चाहिए किन्तु इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि अलंकारों की तरह उनका प्रयोग भी स्वाभाविक रूप से ही किया जाय, चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं।

साहित्य की शैली में जिन अन्य तत्त्वों का सम्बन्ध है, वे किसी न किसी रूप में इन्हीं प्रमुख तत्त्वों के अन्तर्गत आते हैं। पृथक् से उन पर विचार किया जाना आवश्यक नहीं। बिम्ब एवं रूपक तत्त्वों की उपयोगिता साहित्य की शैली मे उनके उचित प्रयोग एवं प्रसंग पर ही निर्भर करती है। दोहरे अर्थों के माध्यम से तथ्य और भाव को संयुक्त करके साहित्य में आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास प्रारम्भ से ही किया जाता रहा है। 'बिम्ब' का प्रयोग शैली में चित्रात्मकता एवं भावोत्पादकता का गुण उत्पन्न करने के लिए ही किया जाता है। इसमें मात्र अभिधा शक्ति का ही प्रयोग होता है। शुष्क तथ्यों को रोचक बनाने में उसका प्रयोग सामान्यतया काव्य में ही किया जाता है किन्तु गद्य के स्थूल विषयों के प्रतिपादक में भी उसकी उपयोगिता प्रतीत होती है।

13. शैली में रूपक तत्त्व :

शैली के तात्त्विक विवेचन के अन्तर्गत विद्वानों ने शैली के उपकरणों की विविधता पर विचार किया है एवं इस विषय को अधिक जटिल बना दिया है। सुविधा की दृष्टि से यह स्वीकार किया जा सकता है कि जो उपकरण रचना शैली के कलापक्ष को प्रभावित करते हैं वे बाह्य उपकरण हैं एवं जो उपकरण लेखक की बौद्धिक भावात्मक एवं सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं वे शैली के आन्तरिक तत्त्व हैं। शैली में रूपक एवं लक्षणा के ऐसे तत्त्व है जो अलंकारों की निकटता के कारण शैली के बाह्य तत्त्व हैं किन्तु शैली में सौन्दर्य उत्पन्न करने के

कारण आन्तरिक तत्व भी हैं। दोनों ही तत्व काव्य शास्त्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं, अतः रीति के वे प्रमुख उपकरण हैं किन्तु गद्य शैली में इनकी उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। दोनों ही तत्व गद्य शैली में काव्यत्व को प्रदर्शित करते हैं।

रूपक शब्द विविध अर्थों में अभिव्यंजित हुआ है। दृश्य काव्य को भी रूपक कहा जाता रहा है; जो रूप धातु में ण्वुल प्रत्यय लगने से बना है। संगीत में ध्रुवताल को रूपक कहते हैं। रूपक एक अलंकार है और काव्य प्रकार भी, जिसे काव्य रूपक एवं अंग्रेजी में एलेगरी (Allegory) कहते हैं। शैली में रूपक का प्रयोग अलंकार एवं काव्य रूप दोनों ही अर्थ में होता है। रूपक आरोपमूलक अर्थालंकार है जिसमें साम्यता के कारण प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप करके अभेद दिखाया जाता है। भरत ने जिन चार अलंकारों (उत्प्रेक्षा, रूपक, यमक और उपमा) का उल्लेख किया है उनमें रूपक भी एक प्रमुख अलंकार है। वामन ने रूपक को उपमा का प्रपंच स्वीकार किया है। मम्मट ने उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक बताया है। विद्वानों ने रूपक अलंकार के अनेक भेदोपभेद किये हैं जिनमें अभेद, तद्रूप, समस्त वस्तु विषय, एक देश विवर्ति, निरंग रूपक एवं परंपरित रूपक प्रमुख हैं। रूपक उपमा के समान सहज सौन्दर्य बोध का अलंकार है।

रूपक कथा काव्य (Allegory) वह कथात्मक प्रबन्ध है जिसमें प्रस्तुत कथा के भीतर कोई अन्य अप्रस्तुत कथा भी छिपी रहती है। काव्य में ही नहीं, कथा साहित्य और नाटक में भी रूपक कथा होती है। हिन्दी में प्रतीक, अन्योक्ति एवं उपमित कथा आदि अनेक रूपक के पर्यायवाची शब्द प्रचलित हैं। कुछ विद्वान एलेगरी एवं रूपक में भिन्नता मानते हैं क्योंकि अंग्रेजी के एलेगरी में जो व्यापकता है वह हिन्दी के रूपक एवं प्रतीक आदि शब्दों में नहीं है। हिन्दी के ये प्रचलित शब्द केवल रूढ अर्थ को ही अभिव्यक्ति करते हैं जबकि एलेगरी शब्द अनेक अर्थों में अभिव्यक्त किया जाता है। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार एलेगरी के लिए हिन्दी में रूपक कथा ही सबसे अधिक उपयुक्त शब्द है। हिन्दी के मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रायः रूपक कथाकाव्य का प्रयोग हुआ है तथा आधुनिक काव्यों तक भी यह परम्परा चलती रही है।

अरस्तु ने रूपक तत्वों की उपयोगिता के सम्बन्ध में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ('Poetics') में विचार व्यक्त किये हैं। शैली में रूपक तत्वों का प्रयोग अभ्यास के द्वारा सम्भव नहीं होता अपितु वह लेखक की सहज प्रतिभा का परिणाम है। रूपक (अलंकार) के द्वारा गद्य शैली में चमत्कार एवं सौन्दर्य की वृद्धि होती है तथा रूपक कथा काव्य (Allegory) द्वारा शैली में काव्यत्व प्रदर्शित होता है। रामचन्द्र शुक्ल एवं डा. माता प्रसाद गुप्त की गद्य शैली में यही भिन्नता है कि शुक्ल जी कवि हृदय थे, जिससे उनकी शैली में काव्यत्व होने के कारण पाठकों को रुचिकर प्रतीत होती है तथा डा. गुप्त की शैली काव्यत्व के अभाव में शुष्क सी प्रतीत होती है।

'अंग्रेजी गद्य शैली' (English Prose stile) नामक पुस्तक में पाश्चात्य लेखक श्री एच. रीड ने सजीवता एवं काव्यत्व प्रदर्शित करने के लिए गद्य शैली में

रूपक तत्वों को अनिवार्य माना है। गद्य शैली में रूपक तत्व कल्पना के माध्यम से स्वाभाविकता के साथ प्रकट करने चाहिए; केवल सौन्दर्य वृद्धि के लिए थोपे गये रूपक तत्व गद्य शैली को कृत्रिम बना देते हैं। रूपक तत्वों से लेखक के मूल भाव की अभिव्यंजना पूर्ण हो जानी चाहिए अन्यथा मूल भावों की अभिव्यंजना के अभाव में रूपक शैली सफल सिद्ध नहीं हो सकती। आज गद्य का युग है। नयी कविता के माध्यम से कवि गद्य शैली की ओर बढ़ रहे हैं, अतः गद्य शैली में रूपक तत्वों की मान्यता अधिक बढ़ जाती है।

शैली के विभिन्न उपकरणों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करने के पश्चात् गद्य शैली के प्रमुख तत्वों (बौद्धिक भाव एवं सौन्दर्य तत्व) का उल्लेख करना भी आवश्यक है किन्तु काव्य परम्परा में शैली के समानार्थक रूप में 'रीति' शब्द प्रारम्भ से ही प्रचलित रहा है, अतः पहले इस तथ्य पर विचार करना भी आवश्यक है कि शैली और रीति परस्पर एक ही अर्थ की अभिव्यंजना करते हैं अथवा भिन्न की।

14 शैली और रीति:

साहित्य के क्षेत्र में 'रीति' शब्द शैली से अधिक प्रचलित है। संस्कृत साहित्य में 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। वामन ने विशिष्ट 'पद रचना को रीति' माना है—(विशिष्टा पद रचना रीतिः)[1]। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार इसका अर्थ है—प्रणाली, पद्धति, मार्ग, पन्थ, शैली आदि।[2] अर्थात् रीति विशिष्ट कार्य-पद्धति है। 'रीति' की यह विशिष्टता काव्य के सन्दर्भ में सम्बन्धित है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'रीति' शब्द संस्कृत की 'रीङ्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से बना है। 'रीङ्' का अर्थ-गतिशील होना, प्रवाहित करना है।[3] शब्द कोश में झरना, टपकना, ढंग, प्रकार, तरीका, चलन आदि अनेक अर्थ हैं जिनका सम्बन्ध 'रीति' शब्द से है।

के सम्बन्ध में उन्होंने आगे कहा है कि रीति का स्वरूप-निर्धारण समास की स्थिति अथवा आकार द्वारा होता है, उसकी स्थिति गुणों के आश्रय से है तथा वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है।

राज शेखर ने वचन-विन्यास के क्रम को रीति माना है—"वचनं विन्यास-क्रमोरीतिः"[1] रीति में शब्द अथवा पद मूल हैं तथा उनके क्रमिक विकास से ही साहित्य का विकास सम्भव है। विचारक के रूप में आचार्य कुन्तक ने रीति को साहित्य के क्षेत्र में मार्ग के रूप में अभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार काव्य में कवि स्वभाव मूल है तथा उसकी स्वाभाविक अनुभूति के द्वारा रीति अथवा मार्ग की रचना होती है। यहां कुन्तक का 'रीति' से अभिप्राय मूलतः विधि अथवा शैली से ही है। भोज और कुन्तक के विचारों में पर्याप्त साम्य है। भोज के अनुसार रीति का अर्थ है कवि गमन-मार्ग। कुन्तक ने इसे 'कवि प्रस्थान' कहा है। कुन्तक द्वारा उद्घाटित कवि-स्वभाव से यह स्पष्ट होता है कि शैली की तरह रीति में व्यक्तित्व की उपस्थिति स्पष्ट है। इसी सम्बन्ध में दण्डी की भी यह मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति की पृथक् रीति होनी चाहिए। विश्वनाथ ने मम्मट की तरह पदों की संघटना को रीति माना है। यह पद संघटना काव्य का बाह्य पक्ष है जो काव्य के मूल 'रस' को उद्घाटित करती है।

साहित्य शास्त्र में रीति के अतिरिक्त वृत्ति और प्रवृत्ति आदि अन्य शब्द भी हैं जो रीति के पर्यायवाची शब्द की तरह प्रयोग में आते हैं। 'वृत्ति' का शाब्दिक अर्थ परिस्थिति, पद्धति, ढंग, चाल-चलन, स्वभाव, दशा, अवस्था से है।[1] 'वृत्ति' का प्रयोग मनुष्य की सूक्ष्म वृत्तियों या मानसिक वृत्तियों के लिए किया जाता है जबकि 'प्रवृत्ति' का प्रयोग कार्य विशेष की अनुरक्ति के लिए किया जाता है। शाब्दिक रूप में प्रवृत्ति का अर्थ है—प्रवाह, मन का किसी विषय की ओर झुकाव, वार्ता, वृत्तान्त, आचार-विचार आदि।[2] विशिष्ट अर्थ में इन्द्रिय आदि का अपने अपने विषय में निरत होना, सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति आदि प्रयोग में आते हैं। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त की धारणा है कि, "सामान्यतः किसी भी समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं अर्थात् उसकी रुचि, स्वभाव एवं परम्परा से सम्बन्धित खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन और क्रिया-कलाप की विशिष्टता को ही प्रवृत्ति कहते हैं।"[3] उनके मतानुसार प्रवृत्ति का सामान्य अर्थ क्रिया-कलाप एवं व्यवहार की उस विशिष्टता से है जो किसी वृत्ति या मनोवृत्ति का सूचक होती है।

रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति मूलतः एक विशिष्टता की ओर संकेत करते हैं किन्तु 'रीति' शब्द का अर्थ व्यापक है। रीति का क्षेत्र विषय प्रधान होता है जबकि वृत्ति

---

1. चतुर्वेदी, संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ।
2. प० कालिका प्रसाद, वृहत् हिन्दी कोश।
3. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ. 226।

एवं प्रवृत्ति का मूल व्यक्ति है, वह व्यक्ति की आन्तरिकता की ओर संकेत करती है। साहित्य शास्त्र के अनुसार वृत्ति का सम्बन्ध नाटक में प्रदर्शित दृश्यमान वृत्तियों से है। आचार्य अभिनव गुप्त ने वृत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि, "नाटक के पात्र अथवा काव्य के नायक के शरीर, वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टाएं ही वृत्तियां कहलाती है।"[1] भोजराज के अनुसार चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच तथा विस्तार की दशा में पात्रों के जो व्यवहार, व्यापार या वर्तन हुआ करते हैं, उन्हीं का एक सामान्य नाम है–वृत्ति।[2] प्रान्तीय विशिष्टताओं के कारण पात्रों द्वारा अभिनीत अभिनय अथवा प्रदर्शन में एक विचित्रता पाई जाती है। नाटक में इन विशिष्ट शैलियों को ही प्रवृत्ति के नाम से पुकारा जाता है। राजशेखर के मतानुसार रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति के रूप में पार्थक्य है। उनका कथन है कि—वेष-विन्यास क्रमः प्रवृत्तिः। विलास-विन्यास क्रमो वृत्तिः। वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः।[3] अर्थात् वेष के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है, विलास का विन्यास वृत्ति है तथा वचनों का विन्यास-क्रम रीति है।

उपर्युक्त प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति की प्रकृति सामान्यतया एकसी ही है किन्तु इनमें पर्याप्त भेद है। रीति का सीधा सम्बन्ध काव्य पद्धति से है जबकि अन्य का नाट्य शास्त्र की अभिनय कला से है। वृत्ति एवं प्रवृत्तियों का सीधा सम्बन्ध व्यक्तित्व से भी है। इन्हें हम व्यक्तित्व का अंग भी कह सकते हैं जिनसे व्यक्ति की सामान्य विशेषताओं का ज्ञान होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की प्रवृत्तियां उसके व्यक्तित्व का ही अंग हैं; तथा वे अभिव्यक्त के क्षेत्र मे शैली को प्रभावित करती हैं। मूलतः वृत्ति अथवा प्रवृत्तियां ही शैली अथवा रीति नहीं हैं। डा. गणपतिचन्द्र गुप्त प्रवृत्ति को शैली का सजातीय शब्द मानते हैं।[4] उनकी यह भी मान्यता है कि प्रवृत्ति केवल एक विशेषता को सूचित करती है, जबकि "शैली" का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमे एक लेखक की सभी प्रवृत्तियों का समूह आ जाता है। वृत्ति व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया है तथा इनका एक व्यक्त रूप जो निश्चित स्वरूप धारण कर लेता है; प्रवृत्ति कहलाता है। ये प्रवृत्तियां ही व्यक्तित्व का अंग बनकर साहित्यिक अभिव्यक्ति मे प्रकट होती हैं। सारांश यह है कि वृत्ति अथवा प्रवृत्ति शैली का सजातीय शब्द नहीं है; और शैली अथवा रीति के लिए इस शब्द का कभी प्रयोग नहीं होता।

शैली, रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति के स्वरूप विवेचन के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शैली और रीति क्या एक ही अर्थ की अभिव्यंजना करते हैं और क्या दोनों एक ही हैं? क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से रीति शब्द काव्य-शास्त्र मे रीति

1. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, पृ 160।
2. वही, पृ. 160।
3. वही, पृ. 164।
4. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली।

संप्रदाय, शास्त्रीय नियम एवं काव्य रचना की रीति के रूप में अभिव्यक्त होता रहा है किन्तु इस शब्द का मूल धर्म था–साहित्य रचना की विधि, पद्धति, या उससे सम्बन्धित कोई विधान या नियम। इस तथ्य के मूल में जब रीति और शैली का तात्विक विवेचन किया जाता है तो दोनों शब्दों में अनेक समानताएं भी प्रतीत होती हैं और विषमताएं भी।

पं. बलदेव उपाध्याय एवं पं. रामदहिन मिश्र आदि भारतीय आलोचक शैली और रीति को एक ही मानते हैं। उपाध्याय जी का विचार है कि, "अंग्रेजी भाषा में रीति (मार्ग) के लिए स्टाइल शब्द प्रयुक्त होता है।[1] वे रीति में व्यक्तित्व के तत्व को भी स्वीकार करते हैं। व्यक्तित्व के सन्दर्भ में उनकी मान्यता है कि, "रीति काव्य के कतिपय शब्द गुणों पर आश्रित होने वाला काव्य तत्व नहीं है, प्रत्युत यह कवि के स्वभाव तथा शील, रुचि तथा वैशिष्ट्य पर रसौचित्य के सहारे खड़ा होने वाला सूक्ष्म तत्व है।"[2] श्री उपाध्याय जी का यह भी विचार है कि, "अपने मनोगत भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए लेखक नवीन तथा विशिष्ट मार्गों का अवलम्बन किया करता है। अर्थ तो एक ही होता है परन्तु उसके द्योतक शब्द तथा वाक्य विन्यास भिन्न भिन्न कवियों तथा लेखकों के हाथ में भिन्न भिन्न हो जाता है। इसी विशिष्ट लिखने के ढंग को शैली या रीति के नाम से पुकारते हैं।"[3] इतना तो स्पष्ट है कि वे रीति शब्द का प्रयोग कविता के लिए एवं शैली का गद्य के लिए करते हैं। संस्कृत के आचार्य दण्डी का कथन है कि रीतियां अनन्त हैं और उनका परस्पर भेद भी बहुत ही सूक्ष्म होता है। शब्दों का यह विचार पूर्णतः व्यक्ति ही शैली है,—की ध्वनि प्रदर्शित करता है। पं बलदेव उपाध्याय ने भी यह स्वीकार किया है कि, "प्रत्येक लेखक की अपनी खास शैली होती है जिसमें वह लिखा करता है, चाहे वह थोड़ा लिखे अथवा अधिक।"

पं. रामदहिन मिश्र के अनुसार, "रीति या वृत्ति का आधुनिक नाम शैली है।"[4] डा. नगेन्द्र की मान्यता है कि, "जहां तक शैली के वस्तु-रूप का सम्बन्ध है, वहां तक तो रीति से उसका पार्थक्य करना आवश्यक है।"[5] उनका तर्क है कि यूरोप के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शैली के तत्व नामान्तर से रीति के तत्त्वों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। भारतीय रीति में भी व्यक्ति तत्व की उपस्थिति निश्चित रूप से है तथा उसके महत्व को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता। दण्डी, कुन्तक एवं आनन्द वर्धन आदि आचार्यों ने रीति के स्वरूप में व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार किया है—चाहे उन्होंने इसका स्वतन्त्र निरूपण नहीं किया हो। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने

1. प बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र (दूसरा भाग), पृ. 213।
2. वही, पृ. 238।
3. वही, संस्कृत आलोचना, पृ. 155।
4. पं. रामदहिन मिश्र, काव्यालोक (द्वितीय संस्करण), पृ. 33।
5. नगेन्द्र, भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, पृ. 41।

"रीति और शैली" नामक निबन्ध में रीति का मूल अर्थ शब्दों और वाक्यों की संघटना से लिया है तथा रीति के अन्तर्गत उन्होंने वैयक्तिक एवं स्वभावगत विशेषताओं को स्वीकार किया है। उनका दृढ़ मत है कि "रीति और शैली" शब्दों में बहुत दूर तक समानार्थकता है। 'रीति' और 'शैली' का जो विषयगत स्वरूप प्रारम्भ मे प्रचलित था उसमें वे कोई विशेष अन्तर नही मानते हैं।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी और करुणापति त्रिपाठी रीति और शैली को मूलतः एक दूसरे से भिन्न मानते हैं। श्री चतुर्वेदी का विचार है कि, रीति केवल काव्य रचना का ढंग है। इसके विपरीत शैली वह साधन है जो वाणी की अभिव्यक्ति में अभिनय आकर्षण शक्ति का संचार करे। वामन ने पदो की विशेष रचना को रीति (विशिष्ट पद रचना रीतिः) माना है किन्तु गुणों के आधार पर दी हुई विशेष पद रचना की इस रीति को शैली के विशिष्ट और व्यापक रूप से सर्वथा भिन्न मानना चाहिए।[1] इधर करुणापति त्रिपाठी का तर्क है कि रीति और शैली का तात्त्विक अन्तर यह है कि पहली तो काव्य रचना की रीति है और दूसरी साहित्य की अभिव्यक्ति की प्रणाली है। दोनों की आधार भित्ति में तात्त्विक अन्तर है। डा. सुशील कुमार डे का मत है कि रीति में व्यक्ति तत्त्व का अभाव है जबकि व्यक्ति तत्त्व शैली का मूल आधार है; अतएव दोनों को एक मानना भ्रान्ति है। श्री डे का यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि यह प्रारम्भ में ही स्वीकार किया जा चुका है कि रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव प्राचीन एवं आधुनिक आचार्यों ने स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि वर्तमान रूप मे शैली मे व्यक्ति तत्त्व का जितना महत्त्व है; उतना भारतीय रीति में कभी नही रहा। व्यक्ति तत्त्व विश्लेषण की दृष्टि से इतना सूक्ष्म विषय है कि प्राचीन आचार्य काव्य की रीति के अन्तर्गत इसकी खुली व्याख्या नही कर सके; जिसका कारण यह था कि प्रारम्भ में इसकी उपादेयता ही नहीं समझी गई थी।

रीति और शैली के पारस्परिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में डा. जेकब पी. जार्ज ने दोनों को पर्यायवाची स्वीकार किया है। उनका दृष्टिकोण है कि, वैसे तो शैली और रीति के तत्त्व एक ही हैं, उनका विकास भी एक ही प्रकार हुआ है और यदि हम इन कारणों से उन्हें पर्यायवाची मानलें तो कोई औचित्य की हानि नही है।'[2] डा. जार्ज का यह मत कि शैली और रीति के तत्त्व प्रायः एक ही हैं; स्वीकार किया जा सकता है किन्तु शैली और रीति पर्यायवाची हैं—इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। दोनों मे मूल अन्तर यही है कि एक का सम्बन्ध गद्य से है जबकि दूसरी का पद्य से। रीति में पूर्व निश्चितता, सीमा एवं नियम होते हैं जबकि शैली में प्रायः ऐसा नही होता। रीति का लक्ष्य कथ्य को पूर्णता देना है, पूर्वाग्रह की रक्षा करना,

1. आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सर्वस्व, पृ. 610।
2. डा. जेकब. पी. जार्ज, आधुनिक हिन्दी गद्य और गद्यकार, पृ. 51।

आदर्श एवं मर्यादा की रक्षा करना है जबकि शैली का लक्ष्य एवं स्वभाव पूर्णतः कार्य मे नवीनता, विशिष्टता उत्पन्न करना तथा स्वच्छंदवादिता की ओर अग्रसर होना है ।

डा. गणपतिचन्द्र गुप्त ने रीति और शैली के सामान्य गुण एवं धर्म को एक ही माना है किन्तु उनका मत है कि एक सामान्य पद्धति है जबकि दूसरी विशिष्ट। डा. गुप्त दोनो को भिन्न स्वीकार करते हुए कहते हैं कि, 'किसी भी कार्य की सामान्य पद्धति 'रीति' है जबकि व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित विशिष्ट पद्धति 'शैली' है।'[1] वे रीति का सम्बन्ध मुख्यत. शास्त्र, विज्ञान एवं लोक व्यवहार से मानते हैं जबकि शैली का सम्बन्ध सामान्यतः कला, साहित्य, साज-सज्जा एवं वेश-भूषा आदि से । इस दृष्टि से यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि रीति का क्षेत्र सीमित है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से शैली का विस्तृत ।

अब विचारणीय प्रश्न यह रहता है कि साहित्य के क्षेत्र में रीति तथा शैली को एक ही माना जाय अथवा दोनों मे मूल-भूत वैषम्य स्वीकार किया जाय । पाश्चात्य साहित्य मे शैली का विवेचन एवं विकास उसी क्रम एवं पद्धति पर हुआ है जिस पर भारतीय रीति का । आचार्यों ने दोनो मे भौगोलिक भेदों को स्वीकार किया है । जिस प्रकार भौगोलिक आधार पर हमारे यहां वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियां प्रचलित थी, वैसे ही पाश्चात्य साहित्यकारों ने भी शैली के ऐटिक, एशियाटिक एवं रहोडियन आदि भौगोलिक रूपों का उल्लेख किया है । विषय, भाषा, गुण, ध्वनि, स्पष्टता एव औचित्य आदि अनेक तत्व हैं जो रीति एवं शैली मे समान रूप से पाये जाते हैं । व्यक्तित्व के सन्दर्भ मे भी प्रारम्भ मे उल्लेख किया जा चुका है, चाहे उसकी उपस्थिति रीति मे आंशिक मात्रा में ही क्यों न हो । शैली शब्द भारतीय साहित्य के लिए नवीन भी नही है, क्योंकि हमारे काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से लेकर आधुनिक युग तक 'रीति' शब्द के अन्तर्गत जो विवेचन होता आ रहा है; वह शैली तत्व का ही एक विवेचन है । अन्तर इतना ही है कि परिस्थितियों एवं साहित्यिक परम्पराओ मे घिर कर रीति शब्द रूढ़ि-बद्ध बन गया और उसका प्रयोग काव्य तक ही सीमित रहा । जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि काव्य में जो स्थान और उपयोगिता रीति की है वही स्थिति गद्य में शैली की है । अतः स्पष्ट है कि रीति का क्षेत्र काव्य है तथा शैली का गद्य । एक सीमित, निश्चित एवं रूढ़िगत अर्थ मे अभिव्यंजित होता है; जबकि दूसरा व्यापक, विशिष्ट एव स्वतंत्र रूप में । काव्य-शास्त्र की आदिकालीन परम्पराओ, सीमाओ एवं 'रीति' शब्द के उस रूढ़िगत अर्थ को भुलाकर यदि शाब्दिक रूप में शैली के लिए रीति शब्द का प्रयोग किया जाय तो कोई विरोध नही है ।

---

1. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ. 219 ।

'रीति' एवं शैली शब्द के सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् गद्य शैली के प्रमुख तत्वों एवं शैली को प्रभावित करने वाले साधनों का उल्लेख करना भी आवश्यक है।

गद्य शैली के प्रमुख तत्त्व एवं शैली को प्रभावित करने वाले साधन :

साहित्याभिव्यंजना का साधन भाषा है। मूर्तिकार की तरह प्रत्येक साहित्यकार अपनी कृति को शिलाखण्ड की तरह तरासता है और सहज अभिव्यक्ति के द्वारा अपने मनोभावों को समुचित शैली मे प्रकट करता है। किसी भी प्रकृति पर पड़ी युग की छाप का कारण मात्र लेखक ही नहीं होता अपितु उस युग की भाषा भी होती है। सामाजिक और बौद्धिक प्रवृत्तियां निरन्तर भाषा मे परिवर्तन पैदा करती हैं; क्योंकि साहित्य कभी भी सामाजिक एवं बौद्धिक प्रभाव से अछूता नही रह सकता। साहित्यकार का व्यक्तित्व निरन्तर बौद्धिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होता रहता है। भावना, अनुभूति, प्रखर बुद्धि, युग-बोध एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण आदि ही साहित्य सृजन मे सहायक हैं। ये तत्त्व साहित्यकार की शैली को निरन्तर प्रभावित करते रहते हैं, उनका यहां पृथक् पृथक् चित्रण किया जा रहा है।

1. बौद्धिक तत्त्वः

बौद्धिक पक्ष साहित्यकार के व्यक्तित्व का ही एक अंग है क्योंकि बुद्धि के अभाव मे व्यक्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। साहित्यकार के बौद्धिक पक्ष का क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि व्यक्ति की सामान्य एवं विशिष्ट ग्रहण एवं चिंतन शक्ति, स्मरण एवं कल्पना शक्ति आदि सृजना के समय इतनी सजग हो जाती है कि साहित्यकार अपने 'स्व' को भूलकर निपट अकेला अनुभव कर जो कुछ लिखता है उसमें उसका व्यक्तित्व तो समाहित होता ही है अपितु जीवन के अन्य उपादान भी क्रम से चित्रित होते चलते हैं,। सृजन-काल में शैलीकार किसी तथ्य और सत्य का विश्लेषण और निर्णय रुककर बुद्धि के बल पर हल नही करता, क्योंकि उसकी प्रत्येक धारणा, मान्यता एवं कल्पना शक्ति में अर्जित सत्य की झलक होती है जो बुद्धि के बल पर सृजना-काल से पूर्व ही ग्रहण करली जाती है। बौद्धिक शक्ति से संचित सत्य को लेखनी स्वतः अंकित करती चलती है। इन क्षणों में अकेला रहकर भी साहित्यकार सबके मध्य मे है। मूलतः बौद्धिकता अन्तःकरण की निश्चयात्मिक वृत्ति है, जिसके प्रभाव से साहित्य में सत्य का उद्‌घाटन होता है। डा. गणपतिचन्द्र गुप्त साहित्य की शैली के लिए बौद्धिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हैं किन्तु स्मरण शक्ति एवं चिन्तन शक्ति का सम्बन्ध वे साहित्य की विषय-वस्तु से मानते हैं तथा ग्रहण शक्ति एवं कल्पना शक्ति का सम्बन्ध शैली से।[1] डा. गुप्त की यह मान्यता तो स्वीकार की जा सकती है कि साहित्य की शैलो के लिए बौद्धिक पक्ष आवश्यक है किन्तु यह तथ्य स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ग्रहण शक्ति एवं कल्पना शक्ति का

---

1. डा. गणपतिचन्द्र गुप्त. साहित्य की शैली, पृ. 233।

सम्बन्ध मात्र शैली से ही है। सत्य तो यह है कि कल्पना शक्ति विषयवस्तु एवं शैली दोनों को ही प्रभावित करती है।

साहित्य-शैली के अध्ययन के क्षेत्र में स्मरण शक्ति एवं चिन्तन शक्ति तथा ग्रहण शक्ति एव कल्पना शक्ति को वर्गीकरण का आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि ये सभी शक्तियां मिलकर बौद्धिक तत्व का निर्माण करती हैं तथा शैली के निर्धारण में बौद्धिक तत्व संयुक्त रूप से कार्यशील रहते हैं। हडसन[1] ने शैली के बौद्धिक गुणों को तीन कोटियों में विभाजित किया है—1. यथा तथ्य अभिव्यक्ति–जो उचित शब्दों के उचित प्रयोग पर आधारित है। 2. स्पष्टता–जिसका समावेश उचित शब्दों द्वारा वाक्य में उचित स्थान पर चयन के कारण होता है। 3. औचित्य–जो वक्तव्य वस्तु के अनुसार शैली के नियोजन पर उद्भूत होता है। मिडिमटन मरे ने उपर्युक्त बौद्धिक तत्वों में से केवल 'यथा तथ्यता' को ही प्रमुख गुण माना है। उनके अनुसार, 'यह तत्त्व इतना महत्त्वपूर्ण है कि शैली की परिभाषा तक इसके आधार पर बनायी जा सकती है : शैली भाषा का वह गुण है जो लेखक के विशिष्ट भावों या विचारों–अथवा इनकी श्रृंखला का यथा तथ्य प्रेषण करता है।[2] जहां यथा तथ्य प्रेषण नहीं, वहां शैली भी नहीं है; क्योंकि लेखक का यह धर्म है कि वह अपने भावों को यथा तथ्य एवं सुसम्बद्ध तरीके से पाठक के समक्ष रखे। साधारणीकरण की स्थिति भी इसी तथ्य पर आधारित है। पाठक लेखक के विचारों एवं अनुभवों को यथा तथ्य प्रेषण शक्ति के माध्यम से ही ग्रहण कर सकता है। मरे साहब यथा तथ्यता को शैली का अनिवार्य गुण तो मानते हैं किन्तु उसे बौद्धिक तत्व न मानकर भावात्मक मानते हैं। यथा तथ्यता के सन्दर्भ में डा. जेकब. पी. जार्ज का विचार विशेष स्पष्ट है–'अभिव्यक्ति की यथा तथ्यता से मतलब केवल इतना ही है कि लेखक की अनुभूतियों और विचारधाराओं को उसी परिमाण में ही पाठकों में भी जागृत किया जाय, न ही अधिक और न कम।[3] अतः यथा तथ्यता साहित्य शैली का विशिष्ट गुण है जिसके माध्यम से लेखक अपने विचारों को सुसम्बद्ध ढंग से पाठक के सम्मुख रखता है एवं पाठक उसका अर्थ लेखक के अभीप्सित अर्थ से ही लेता है।

हडसन के अनुसार स्पष्टता भी शैली का एक विशिष्ट गुण है जिसकी उपस्थिति साहित्य शैली में बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा शब्दों और वाक्यों के सुस्पष्ट ढंग से प्रस्तुत की जा सकती है। स्पष्टता का गुण अपने आप में इतना व्यापक है कि 'यथा-तथ्यता के स्वयं इसके अन्तर्गत ही अभिव्यक्ति की जा सकती है। स्पष्टता का क्षेत्र व्यापक है जबकि यथा-तथ्यता उसका एक अंग है। अरस्तु ने स्पष्टता को शैली का अनिवार्य

1. हडसन, एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ लिटरेचर, पृ. 79।
2. लैसलेस एबरक्रोम्बिक, पोइट्री आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ 63।
3. डा. जेकब पी. जार्ज, आधुनिक हिन्दी गद्य और गद्यकार, पृ. 106।

गुण माना है। क्विण्टीलियन का मत है कि लेखक का उद्देश्य इतना ही नहीं होना चाहिए कि पाठक उसे बिना किसी कठिनाई से समझ सके, परन्तु उसका ध्येय यह होना चाहिए कि पाठक के लिए गलत समझना असम्भव रहे।[1] स्पष्टता से हमारा मन्तव्य मात्र भावों से ही नहीं है अपितु भावाभिव्यक्ति एवं भाषा की शुद्धता से भी है। शब्दों, वाक्यों की भ्रामक एवं असंगत अभिव्यक्ति ही अभिव्यक्ति को अस्पष्ट सिद्ध कर सकती है। प्रकृति की दृष्टि से विषय दुरूह-हो सकता है किन्तु उसकी सरल एवं सरस अभिव्यक्ति ही शैलीकार की कुशलता की परिचायक है। वक्तव्य का उचित एवं वैज्ञानिक चयन जटिलता को भी स्पष्टता एवं सरलता में बदल सकता है।

औचित्य साहित्य की आत्मा है अतः उसकी उपस्थिति शैली में अनिवार्य है। औचित्य लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति बनकर साहित्य की शैली में प्रादुर्भूत होता है। कथा साहित्य में औचित्य का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि पाठक इन विधाओं का अध्ययन करते समय विशेष संवेदनशील रहता है और साहित्यकार उसे भुलावे में नहीं डाल सकता। अरस्तु के अनुसार 'शैली में औचित्य का समावेश तब समझना चाहिए जब वह (वक्ता में) भाव तथा व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करे और विषय वस्तु के अनुकूल हो।[2] साहित्य में बौद्धिक तत्वों का प्रयोग विषयानुसार किया जाना चाहिए। एक साधारण विषय में पाण्डित्यपूर्ण बौद्धिक प्रदर्शन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। साहित्य-शैली में बुद्धि तत्व का यही उद्देश्य है कि साहित्यकार परिमार्जित, सुसंस्कृत एवं उच्च भावों को पाठकों के सम्मुख रखे जिससे साहित्य का स्तर बना रहे, इसी में लेखक का कौशल तथा उसकी प्रतिभा अभिव्यक्त होती है। लेखक का बौद्धिक पक्ष ही उसके अंतःकरण की भावनाओं को साकार बना सकता है।

2. भाव तत्वः

भाव एवं आवेग बराबर उत्पन्न होते रहते है। जब उसकी अनुभूतियां स्वतः प्रकट होती हैं तो सत्-साहित्य का स्वतः निर्माण होता है। लेखक विषय-वस्तु, भाषा, वातावरण एवं पात्र आदि का चयन एकमात्र अपनी भावनाओं के अनुरूप ही करता है। बौद्धिक प्रक्रिया तो इन तथ्यों का विश्लेषण मात्र ही करती है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि भाव तत्त्व एवं बौद्धिक अनुभूतियों के सहयोग से साहित्य-शैली का निर्धारण होता है।

3. सौन्दर्य तत्त्व :

सौन्दर्य क्या है और उसका जीवन में क्या महत्त्व है? यह अभिव्यक्ति का विषय न होकर मात्र अनुभूति का ही विषय है। जीवन की सुखद अनुभूति ही सौन्दर्य है जिसकी उपस्थिति सर्वत्र व्याप्त है। जो दृश्य अथवा अनुभूति मानस-ग्राह्य है और इन्द्रियों को सुख की उपलब्धि प्रदान करे, सौन्दर्य, है। सौन्दर्य चाहे भौतिक हो, नैतिक हो अथवा मानसिक, वह हमारे शुद्ध एवं व्यावहारिक जीवन के लिए न केवल रुचि का विषय है अपितु जीवन के लिए अनिवार्य तत्त्व है। साहित्य में यदि सौन्दर्य की उपस्थिति नही तो वह एकांगी है एवं अधूरा है क्योंकि साहित्य जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य शाश्वत एवं चिर नवीन है (A thing of beauty is joy for ever) अतः साहित्य को शाश्वतता एवं चिर नवीनता के गुणों से युक्त करने के लिए उसमें सौन्दर्य की अभिव्यंजना करनी होगी। सौन्दर्य की अनुभूति अनेक साधनों से की जा सकती है किन्तु भाव जगत् के क्षेत्र मे सौन्दर्य की अभिव्यंजना करने वाला सशक्त साधन साहित्य ही है। श्यामसुन्दर दासजी सौन्दर्य को साहित्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि "सौन्दर्य प्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर जटिल और नीरस दार्शनिक तत्वों से अलग करती है तथा दूसरी ओर उसे मानव मात्र के लिए आकर्षक बनाती है।"[1] हडसन ने सौन्दर्य तत्त्व के अन्तर्गत संगीतात्मकता, आन्तरिक सौन्दर्य, बाह्य सौन्दर्य तथा आकर्षण आदि गुणों का समावेश किया है। इन गुणों का समावेश हो जाने के कारण शैली सौन्दर्य का स्रोत बन जाती है। शैली में सौन्दर्य की अभिव्यजना संगीतात्मकता, कोमल कांत पदावली, आलंकारिक चित्रण, ध्वन्यात्मकता शब्द विन्यास एवं सुस्पष्ट वाक्यों की रचना से ही सम्भव है। गद्य शैली के लिए काव्यात्मकता अनिवार्य तो नही किन्तु उसमें आकर्षण उत्पन्न करने के लिए वह उपयोगी अवश्य है। मुहावरे एवं कहावतें भी शैली मे कलात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं। संगीतात्मकता एवं काव्यात्मकता के आधिक्य से यदि अर्थ की अभिव्यंजना मे बाधा उपस्थित होती हैं तो इसका तिरस्कार करना चाहिए। मोहकता एवं सरसता शैली का गुण है किन्तु छन्दबद्धता का प्रयोग शैली को अस्वाभाविक बना देता है। रस सिद्ध लेखकों की शैली मे ये गुण स्वतः प्रकट होते है; उनका आह्वान

---

1 श्याम सुन्दर दास, साहित्यालोचना, पृ. 204।

नहीं किया जा सकता। पं. रामचन्द्र शुक्ल एवं बाबू जयशंकर प्रसाद की गद्य शैली में इन सौन्दर्य-शास्त्रीय तत्वों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। प्राचीन राजस्थानी बात साहित्य पर भी इनका प्रभाव है।

शैली के बौद्धिक, भावात्मक एवं सौन्दर्य-शास्त्रीय तत्वो के विवेचन के पश्चात् शैली को प्रभावित करने वाले तत्वो पर विचार करना भी आवश्यक है। प्राकृतिक देन, अभ्यास, शिक्षा, जातीय गुण (व्यक्तित्व सहित) आदि अनेक अंग है जो साहित्यकार की अभिव्यक्ति पद्धति (शैली) पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अपना प्रभाव डालते हैं। शैली पूर्णतः नही तो बहुत कुछ प्राकृतिक देन है। जिस प्रकार कविता का आह्वान बौद्धिक खुजलाहट से सम्भव नही, वैसे ही सफल गद्य शैली की कल्पना मात्र प्रयास से सम्भव नही। अंग्रेजी भाषा के श्रेष्ठ आलोचक श्री एफ. एल. लूकस की मान्यता है कि अन्य कलाएं सिखाई जा सकती है किन्तु शैली सिखाई नहीं जा सकती। प्रेमचन्द जी की तरह अनेक कथाकारों ने अपने गद्य में उर्दू को स्थान दिया है किन्तु वे प्रेमचन्द जैसी सरसता एवं रोचकता प्राप्त नही कर सके। व्यक्ति जन्म से ही अपने वैयक्तिक संस्कार लेकर आता है जो उसकी कला को प्रभावित करते रहते हैं। साहित्य के क्षेत्र मे भी इन संस्कारो का प्रभाव अक्षुण्य रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में भी प्रदेश विशेष का प्रभाव कुछ न कुछ मानना ही पड़ेगा। डा० नगेन्द्र, आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि विद्वानों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। उपाध्याय जी लिखते हैं: "एक भौगोलिक इकाई में उत्पन्न होने वाले कवियो के ऊपर स्थानीय भौगोलिक स्थिति का, साहित्यिक परम्परा का तथा समान शिक्षण का प्रभाव अवश्यमेव पड़ता है। "शिक्षा, अभ्यास एवं शोध व्यक्ति को अच्छा लिखना एवं बोलना सिखाते हैं। शिक्षा एवं अभ्यास से व्यक्ति भाषा का सम्यक ज्ञान अर्जित करता है। व्याकरण भाषा को संतुलित करती है और भाषा शैली को। इसी कारण शैली विवेचन के सन्दर्भ मे लूकस महोदय ने लिखा है— "Bad Grammar can spoil style". शिक्षा और अभ्यास के मूल में यही प्रेरणा छिपी है कि "जिस विषय पर लिखा जाय उसके सन्दर्भ में मूल विचार अथवा समस्या का समाधान लिखने से पूर्व ही कर लेना चाहिए। शिक्षा और अभ्यास से ही गुणा-गुण, ज्ञान एवं अनुभव ग्रहण किया जा सकता है जो शैली को सफल अभिव्यक्ति का गुण प्रदान करते हैं।

शिक्षा एवं अभ्यास की तुलना में यह स्वीकारा तो नही जा सकता, किन्तु फिर भी जातीय गुण साहित्यकार के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं और व्यक्तित्व शैली को। शैली और व्यक्तित्व के सन्दर्भ में इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला जा चुका है। व्यक्तित्व का शारीरिक पक्ष भी शैली को परोक्ष रूप से प्रभावित करता है। शारीरिक हीनता शैलीकार के मन पर हीनता के भाव अंकित कर देती है जिसके परिणामस्वरूप उसके मानस में निरन्तर प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होती रहती हैं। शारीरिक भेद को शैली में स्वीकारते हुए भी लूकस लिखते हैं कि, 'स्त्रिया

अच्छा बोलती हैं, मैं नहीं समझता किन्तु इतना जानता हूँ कि वे पत्र लिखना अच्छा जानती हैं।'[1] राजस्थानी की प्राचीन परम्परावादी साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर यह स्वीकार अवश्य किया जाता है कि प्रत्येक लेखक अपने जातीय संस्कार लेकर आता है जो उसकी अभिव्यक्ति को एक विशिष्टता देते हैं। सारांश यह है कि बौद्धिक, भावात्मक एवं सौन्दर्य तत्त्व निरन्तर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से शैली एवं शैलीकार को प्रभावित करते हैं। शैली के तात्त्विक विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि अभिव्यक्ति के किस विशिष्ट रूप (शैली) को उत्तम अथवा आदर्श रूप स्वीकार किया जाय ?

4. उत्तम एवं आदर्श शैली :

शैली के तत्वों, उपकरणों एवं विभिन्न पक्षों पर विचार करने के पश्चात् यह स्पष्ट होगा कि पद्य की अपेक्षा गद्य रचना में लेखक को विशेष सजग रहना पड़ता है। शब्द एवं वाक्य रचना से लेकर भावाभिव्यक्ति के विविध उपकरणों को उसे विशिष्टता के साथ प्रस्तुत करना पड़ता है। एक अयोग्य शब्द अथवा वाक्य ही सम्पूर्ण रचना शैली के अस्तित्व को अयोग्य घोषित कर सकता है। कतिपय वाक्यांश, रचना भंगिमाएं अथवा अभिव्यंजना की जो प्रौढ़ता गद्य के लिए उपयुक्त है वह पद्य के लिए अनुपयुक्त है; अतः यह बिना किसी तर्क के स्वीकार किया जा सकता है कि पद्य की अपेक्षा गद्य मे शैली का अधिक महत्त्व है तथा प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली है। लेखक के विचारों को पाठक तक जोड़ने का काम यदि शैली करती है तो यही उसका धर्म है, अस्तित्व है। शैली का एक स्थायी प्रारूप निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह सब विषय-वस्तु एवं प्रसंग पर निर्भर करता है। शैली के विभिन्न रूपों पर प्रसंगानुसार पृथक् से विचार किया जायेगा, यहां हमारा ध्येय शैली के आदर्श एवं उत्तम रूप की ओर संकेत करना है।

यह एक जटिल प्रश्न है कि अभिव्यक्ति के किस रूप को उत्तम अथवा आदर्श स्वीकार किया जाय ? अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रसंग एवं विषय होते है तथा प्रत्येक स्थल पर शैली का एक ही प्रारूप नही रहता। विवाद से बचने के लिए इतना ही कहा जा सकता है कि अनुभूत विषय-वस्तु को अधिक स्पष्ट, सजाने एवं प्रभावपूर्ण बनाने मे जो अभिव्यक्ति अधिक सफल सिद्ध होती है, वही शैली का उत्तम एवं आदर्श रूप है। अच्छी शैली के लिए यों तो कोई निश्चित एवं स्पष्ट स्वरूप निर्धारित नही किया जा सकता किन्तु विषय का स्पष्ट प्रतिपादन हो जाने पर यह कहा जा सकता है किन्तु विषय का स्पष्ट विचार करने पर ही उत्तम साहित्यिक रचना सम्भव हो सकती है। उपयुक्त विषय का चयन एवं मानस दृष्टि की संतुलित करना उत्तम अभिव्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। अध्ययन की दृष्टि से हमें अनेक विषयों का अध्ययन करना चाहिये किन्तु लिखना उसी विषय पर चाहिये

1. एफ. एल. लूकास, स्टाइल, पृ. 32।

जिसका हमारे मन पर गहरा प्रभाव पड़ चुका है। आर्थर क्यूलर कोच का इस सम्बन्ध में स्पष्ट विचार है कि "उत्तम शैली का प्रथम तथा अन्तिम रहस्य भी यही है कि उसमें हृदय और मस्तिष्क का योग रहता है।"[1]

जिस प्रकार शैली के स्वरूप के सम्बन्ध मे विद्वान एक मत नहीं, वैसे ही शैली के भेद प्रभेद के सम्बन्ध में भी विद्वान एक मत नही हैं। विषयो की विविधता, व्यक्तित्व में नित्य परिवर्तन एवं भाषा की विविधता के कारण गद्य की शैलियों का वर्गीकरण एवं उत्तम रूप निर्धारण अत्यन्त ही कठिन है। प्लेटो ने जहा शैली के सहज, सरल, विचित्र एवं मिश्र आदि रूपो को श्रेष्ठ माना है, वहां अरस्तु ने साहित्यक शैली एवं विवाद शैली को ही विशेष महत्त्व दिया है। सिसरो एवं होरेस ने एटिक तथा एशियाटिक दो ही शैलियां मानी हैं। सिसरो की दृष्टि से एटिक शैली सर्वश्रेष्ठ है। भारतीय परम्परा की तरह पाश्चात्य में भी बहुत प्राचीन काल से व्यक्ति विशेष, कृति विशेष एवं काल विशेष के आधार पर शैलियो का प्रचलन रहा है। डा. रामकुमार वर्मा ने युग के अनुसार शैलियों मे परिवर्तन को स्वीकार किया है, "यदि आज के वैज्ञानिक युग में यौन परिवर्तन सम्भव है तो गद्य की शैलियो का यह विपर्यय भी सम्भव हो सकता है।"[2] साहित्य के क्षेत्र मे अभिव्यक्ति-प्रकाशन की दृष्टि से नित्य नये प्रयोग एवं परिवर्तन होते रहते हैं किन्तु स्थायित्व उसी अभिव्यक्ति-पद्धति को प्राप्त होगा, जो शब्द और अर्थ का समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने में पूर्ण समर्थ होगी। अच्छी शैली के सम्बन्ध मे डा. दशरथ ओझा की मान्यता है कि "अच्छी शैली में भाषा की लक्षणा-व्यंजना आदि सभी शक्तियों का उपयोग किया जाता है और कथन को प्रभावात्मक और पुष्ट कर बनाया जाता है।"[3] डा. ओझा ने शब्द-शक्तियो एवं प्रेषणीयता को अच्छी शैली का आधार माना है। उन्होने अभिधा शक्ति की ओर तनिक भी सकेत नही किया जबकि कथा साहित्य की कसौटी अभिधा शक्ति ही है।

श्री चौन्ऋषि का दृष्टिकोण है कि, "उत्तम अथवा विकसित शैली अधिक सरल स्पष्ट, महत्त्वपूर्ण, सुष्ठु, सुगठित, संतुलित, लयात्मक एवं सुबोध होनी चाहिए।"[4] यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साहित्य की शैली का एक निश्चित (Standa'd) रूप भी निर्धारित नही किया जा सकता। विभिन्न विधाओं की अपनी मौलिक विशेषताएं एवं सीमाएं होती हैं और उन्ही के अन्तर्गत लेखक को अपनी अभिव्यक्ति प्रकट करनी पड़ती है। भाषा मे शब्दों तथा वाक्यो का प्रयोग भी विधा की प्रकृति के अनुरूप करना पड़ता है। रामचन्द्र वर्मा ने इसी प्रसंग में लिखा है कि "साधारण पत्र, उपन्यासों और नाटकों के कथोपकथन तथा समाचार पत्रों के लिए समाचार आदि लिखते समय साधारण और छोटे-छोटे वाक्य ही अधिक उपयुक्त होते

1. आर्थर क्यूलर कोच, आन दी आर्ट आफ राइटिंग, पृ 210।
2. डा. रामकुमार वर्मा, साहित्य शास्त्र. पृ. 133।
3. डा. दशरथ ओझा, समीक्षा शास्त्र, पृ. 195।
4. श्री चौन्ऋषि, द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन, पृ 40।

हैं।"[1] रचना का सौन्दर्य इसी में है कि वाक्य यथा साध्य संक्षिप्त और स्पष्ट हों। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव हों। भाषा स्वाभाविक होनी चाहिए; उसमे किसी प्रकार की कृत्रिमता नही होनी चाहिए। जिस प्रकार बोलचाल मे हम अपने विचार प्रकट करते हैं, उसी प्रकार रचनाओं में भी सजगता के साथ विचार प्रकट करने चाहिए।

उत्तम शैली के लिए यह आवश्यक है कि शैली में सौन्दर्य लाने के लिए मुहावरो कहावतों और आवश्यकतानुसार अलंकारो का भी प्रयोग किया जाना चाहिए : इन सबका अपने अपने स्थान पर निजी महत्व होता है। उत्तम शैली मे भाषा पूर्णतः चलती हुई न होकर विषयानुसार होनी चाहिए। भाषा मे प्रौढ़ता का गुण तो अनिवार्य ही है। यों तो उत्तम शैली का कोई निर्धारण नही किया जा सकता और न साहित्यकार ही किसी एक विशिष्ट शैली पर सहमत हो सकता है। होरेस ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि एक शैली को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट कहना उचित नही है। शैली के विषय में कोई निश्चित, बधे हुए नियम नहीं हैं, अन्तिम प्रमाण तो मात्र विवेक अथवा औचित्य ही है। उचित शैली के निर्धारण मे पाठकों की रुचि का भी प्रश्न महत्वपूर्ण होता है। अनेक पाठकों पर किसी विशिष्ट साहित्यकार का प्रभाव इतना गहरा रहता है कि वे अपने निर्दिष्ट साहित्यकार की शैली की तुलना मे अन्य शैली को उत्तम स्वीकार नही कर सकते। यह सब वैचारिक साम्यता, व्यक्तित्व अथवा रुचि पर भी निर्भर करता है। संक्षेप मे इतना कहा जा सकता है कि सुष्ठु, निर्मल एवं शुभ फल देने वाली तथा देश, काल एवं विद्या के अनुरूप लेखक की सशक्त अभिव्यक्ति ही उत्तम एवं आदर्श शैली है।

शैली का तात्विक दृष्टि से विवेचन करने के पश्चात् भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी उसके उपकरणों पर विचार किया जाना चाहिए अन्यथा शैली का अध्ययन अपूर्ण ही सिद्ध होगा। अतः शैली रूप, ध्वनि, शब्द सौन्दर्य एवं वाक्य रचना पर पृथक् से विचार किया जा रहा है।

---

[1] श्री रामचन्द्र वर्मा, अच्छी हिन्दी, पृ. 41।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से शैलीगत विवेचन

1. गद्य शैली के उपकरण :

शैली की उपयोगिता मात्र भाषा अथवा साहित्य के लिए ही नहीं है, अपितु हमारे व्यवहारिक जीवन में भी उसका महत्त्व कम नहीं है। किसी बात को यदि हम रोचक ढंग से प्रस्तुत करें, विनीत होकर कहें अथवा अच्छी शैली में कहें तो निश्चित रूप से हमारा कार्य सिद्ध हो जाता है; श्रोता हमारी अभिव्यक्ति पद्धति से प्रभावित होकर हमारा सहायक हो जाता है। इस दृष्टि से शैली साहित्यिक वर्ग के लिए तो अध्ययन का आवश्यक अंग है ही साथ ही जन सामान्य के लिए भी वह एक कला का विषय है। उसका महत्त्व सामान्य तथा विशिष्ट दोनों ही क्षेत्रों में है। साहित्य के अन्तर्गत शैली का स्थूल विवेचन किया जा चुका है; उसके विभिन्न उपकरण (आन्तरिक एवं बाह्य) आदि का उल्लेख भी शैली के तात्त्विक विवेचन के सन्दर्भ में हो चुका है किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से शैलीगत विवेचन अपना विशेष स्थान रखता है। भाषा शैली को प्राणवान बनाने में भाषा-विज्ञान के विशिष्ट उपकरणों का ही विशेष महत्त्व है। अभिव्यक्ति अपने आप में सर्वस्व नहीं, विशिष्टता ही उसे उच्च पद प्रदान करती है। इसी कारण यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति साहित्य की कड़ी में नहीं जोड़ी जा सकती। भाषागत वैशिष्ट्य के कारण साहित्यकार की अभिव्यक्ति में विशिष्ट आकर्षण का संचार होता है जिससे वह विशिष्टता का रूप ग्रहण कर साहित्य की शैली के रूप में सम्मान प्राप्त करती है। भाषा के जिन विशिष्ट तत्त्वों के कारण साहित्य की शैली का निर्माण होता है, उन्हें गुण, अलंकार, ध्वनि, वक्रता, प्रतीक, रूपक गुण आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है, उनकी व्याख्या प्रथम प्रकरण में की जा चुकी है। अत. यहां भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से मात्र उन तत्त्वों पर विचार करना है जो रचना की प्रक्रिया को व्यावहारिक रूपाकार प्रदान करते हैं। शैली के भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन का यही आधार है।

2. रूप-विचार :

किसी भी विषय का अध्ययन तीन दृष्टियों से किया जाता है—1. शक्ति (Energy) की दृष्टि से, 2. द्रव्य (Matter) की दृष्टि से एवं 3. रूप (Form) की दृष्टि से। साहित्य का मूल ध्येय एवं उसकी प्रेषणीय शक्ति उसके शक्ति-तत्त्व के

अन्तर्गत ही आते हैं। साहित्य के मूलभूत तत्त्वों का अध्ययन द्रव्य के अन्तर्गत किया जाता है एवं साहित्य के रूप को शैली के अन्तर्गत ही स्वीकारा जा सकता है। वस्तुनः साहित्य का रूप हमें शैली के माध्यम से ही देखने को मिलता है तथा उसके सत्-असत्य की परीक्षा भी मात्र शैली पर ही निर्भर करती है। हिन्दी शब्द-कोश के अनुसार 'रूप' के अनेक अर्थ हैं—सूरत, स्वरूप, पदार्थ, स्वभाव, सौन्दर्य, बनावट आदि। साहित्य की शैली के अध्ययन में 'रूप' शब्द का सम्बन्ध मात्र 'रूप' धातु से है जिसका अर्थ है–बनाना या गढना।[1] रूप शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के फार्म (Form) शब्द के समानार्थक अर्थ में भी किया जा सकता है, जिसके मूल में भी फार्म (Form) का अर्थ–स्वरूप–बनावट या किसी वस्तु की सीमा अथवा आकृति निर्धारण करना है। सामान्यतया व्यावहारिक प्रयोग में 'रूप' का अर्थ सौन्दर्य से भी लिया जाता है। यहां शैली के सन्दर्भ में 'रूप' शब्द का उल्लेख करना साहित्य के स्वरूप की रचना प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। साहित्य की समस्त विधाएं किसी न किसी आकृति में स्थिर रहती हैं जिन्हें शैली के माध्यम से रूपाकार किया जाता है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब हम पदार्थ की बनावट या गठन पर विचार करते हैं तो उसका वास्तविक 'रूप' हमारे सामने आता है। यह नया 'रूप' जो विभिन्न पदार्थों की सहायता से तैयार हुआ है कोई नयी उपलब्धि नहीं है अपितु स्वरूप परिवर्तन है। यही स्थिति साहित्य में भी है।

शब्द, अलंकार, मनोवेग एवं भाव आदि सब लेखक के पास रहते हैं किन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम से जब कोई रचना हमारे सामने आती है तभी उन भावागत एवं भावात्मक तत्त्वों की उपयोगिता सार्थक होती है। अतः कहा जा सकता है कि साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट अभिव्यक्ति पद्धति (शैली) अथवा विषय प्रतिपादन की पद्धति ही साहित्य का 'रूप' है। शैली ही साहित्य की पहिचान कराती है। इस दृष्टि से शब्द योजना से लेकर कृति के आन्तरिक एवं बाह्य पक्ष के समस्त तत्त्व 'रूप' के अन्तर्गत आयेंगे। भाषा के उपकरण (शब्द, वाक्य, अनुच्छेद, अलंकार, रीति, ध्वनि, प्रतीक एवं बिम्ब आदि) तथा विषय-वस्तु का संगठन एवं साहित्यकार का व्यक्तित्व आदि सभी इकाइयां रूप निर्धारण में सहायक होंगी। साहित्य के क्षेत्र में रूप की अन्विति ही नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध का निर्धारण करती है। सारांश यह है कि साहित्य का 'रूप' शैली को प्रभावित करता है तथा शैली का रूप सम्पूर्ण साहित्य को। साहित्य के रूप का अर्थ उसकी विभिन्न विधागत प्रवृत्तियों से भी प्रकट होता है जबकि शैली का रूप मात्र उसकी विशिष्ट अभिव्यंजना पद्धति से। दोनों के मूल में समन्विति का आधार सौन्दर्य ही है। यदि साहित्य का रूप सुन्दर होगा तो स्वतः शैली भी सुन्दर होगी। अतः शैली का 'रूप' मात्र सुन्दर एवं सफल अभिव्यक्ति तथा उत्तम विषय के निर्धारण पर निर्भर करता है। साहित्य

1. संस्कृत शब्दार्थ–कौस्तुभ के अनुसार।

की शैली का 'रूप' उसके विभिन्न उपकरणों (बाह्य एवं आन्तरिक) के सुन्दर संयोग से ही सम्भव है।

3. ध्वनि विस्तार :

शैली के गुण एवं रूप के अन्तर्गत शब्द शक्तियों पर आधारित ध्वनि सिद्धांत का विवेचन किया जा चुका है। हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका में डा. नगेन्द्र ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'जहां अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते है, उस काव्य विशेष को विद्वान लोग ध्वनि काव्य कहते हैं।'[1] यहां वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह प्रतीयमान अर्थ ही व्यंग्यार्थ का पर्यायवाची है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि ध्वनि मात्र व्यंजना का ही नया नामकरण है। यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि ध्वनि के अन्तर्गत वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों की ही उपस्थिति रहती है, दोनों से ही अर्थ की अभिव्यंजना होती है; अतः दोनों ही ध्वनि के रूप हैं। ध्वनि भेद की दृष्टि से शब्द शक्तियां एवं कथन शैली तथा दूसरा विषय वस्तु की दृष्टि से दो भेद स्वीकार किये जा सकते हैं जिन्हें शाब्दी एवं आर्थी ध्वनियां कह सकते हैं। शाब्दी ध्वनि में अभिधेयार्थ एवं लाक्षणिक अर्थ की अभिव्यंजना होती है जबकि व्यंजना में शाब्दी एवं आर्थी दोनों रूप विद्यमान रहते हैं। विषम वस्तु की दृष्टि से ध्वनि भेद मानने वाले विद्वान रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि एव वस्तु ध्वनि की सत्ता मे भी विश्वास करते हैं। मूलतः रस साहित्य की आत्मा होता है, वह ध्वनि नही कहला सकता क्योंकि उसका सम्बन्ध साहित्य के आन्तरिक (भाव पक्ष) से है जबकि ध्वनि साहित्य का बाह्य तत्त्व है।

विश्व की प्रत्येक भाषा में अर्थ की अभिव्यजना कराने मे अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजनात्मक ध्वनियों का उपयोग होता है जो राजस्थानी-साहित्य-शैली मे भी प्रचलित है किन्तु भाषा में प्रकृतिगत संस्कारों के कारण शब्दों मे उच्चारण की दृष्टि से भी अनेक ध्वनियां होती हैं जो विशिष्ट शैली मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। ये ध्वनियां कंठ, तालु, मूर्धा, दांत एवं होठ के सहयोग से उच्चारित की जाती हैं। राजस्थानी भाषा में इन सभी स्थानों पर प्रायः जिह्वा के सहयोग से (प वर्ग को छोड़ कर) भिन्न भिन्न ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है। हिन्दी भाषा की तरह अनुनासिक ध्वनियों के लिए नाक का प्रयोग ही किया जाता है। यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वाणी की उच्चारण विधि एवं समान परिस्थितियां होने पर भी हर व्यक्ति, जाति, प्रान्त और देश के अपने भिन्न भिन्न ध्वनि स्तर होते हैं। सभी भाषाओं में प्रायः ध्वनि साम्य भी पाया जाता है और ध्वनि भेद भी। राजस्थानी भाषा की ध्वनियां मुख्यतया संस्कृत से मिलती जुलती हैं किन्तु फिर भी एक नहीं हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से अन्य भाषाओं की तरह

1. डा. नगेन्द्र, हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका, पृ. 35–39।

राजस्थानी में भी ग्र, इ, उ तीन मुख्य स्वर ध्वनियां प्रचलित हैं; जिनके योग से अनेक संयुक्त स्वरों का निर्माण होता है। स्वर ध्वनियों में 'ए', 'ग्रो' की अपेक्षा राजस्थानी में 'ऐ' और 'ग्रौ' की ध्वनि का उच्चारण ग्रधिक होता है किन्तु यह सब ग्राधुनिक राजस्थानी में ही है। प्राचीन राजस्थानी कृतियों में चूंकि अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव था, ग्रतः वहां 'उ' कार तथा 'इ' कार ध्वनियों का प्रयोग होता था। यह परम्परा राजस्थानी गद्य की प्रारम्भिक रचनाग्रों में मिलती है। ग्राजकल 'ऐ' ग्रौर 'ग्रौ' ध्वनियों के कारण ही शब्दों के उच्चारण में चौबोली, साम्हौं, सूवौ, जाणौ ग्रादि का रूप मिलता है।

राजस्थानी में 'ऋ' की ध्वनि को 'रि' करके लिखा जाता है जैसे—रितु, रिसी आदि। लृ, दीर्घ लृ एवं अः की कोई ध्वनि नहीं है। 'ट' तथा 'ठ' की संयुक्त ध्वनियां राजस्थानी में मिलती हैं, जैसे—इकट्ठो। तालव्य 'स' ग्रौर मूर्धन्य 'ष' की ध्वनियां तो प्रचलित हैं किन्तु लिपि की दृष्टि से सबको दन्त्य 'स' की तरह ही लिखा जाता है। 'ज्ञ' को 'ग्य' की तरह लिखा जाता है तथा 'क्ष' के लिए 'छ', 'क', या 'ख' ध्वनियों का प्रयोग होता है, जैसे—पक्षी के लिए पंखी या पछी, लक्ष्मण के लिए लछमण तथा राक्षस के राकस आदि। 'क्त' की कोई संयुक्त ध्वनि राजस्थानी में नहीं है। इसे 'ग' या 'क' के रूप में लिखा जाता है; जैसे—रक्त का रगत तथा 'वक्त' का वगत या वकत ग्रादि।

राजस्थानी मे 'ल' की ध्वनि के साथ 'ळ' मूर्धन्य की ध्वनि इतनी महत्वपूर्ण ग्रौर आवश्यक है कि उसके प्रयुक्त न होने से पूर्णतया ग्रर्थ ही बदल जाता है। उदा. 'काजल' के लिए राजस्थानी मे 'काजळ' का प्रयोग किया जायेगा। कल के लिए काल तथा हिन्दी के काल (मृत्यु) के लिए 'काळ' ध्वनि का उच्चारण होगा। ध्वनि परिवर्तन से यहां सम्पूर्ण अर्थ ही परिवर्तित हो जाता है। संस्कृत ग्रथवा प्राकृत में शब्दों के उच्चारण मे जहां 'ल' की ध्वनि होती है वही उसके स्थान पर राजस्थानी में 'ळ' का प्रयोग किया जाता है। इस ध्वनि का प्रयोग राजस्थानी गद्य की 13 वीं शताब्दी (उत्तरार्द्ध) की रचनाग्रों तक में मिलता है। इस सम्बन्ध मे डा. चाटुर्ज्या का मत है कि, "पुरानी राजस्थानी मे सिर्फ 'ल' में लिखा जाता था पर 'ळ' का उच्चारण भाषा मे था।"[1]

पुरानी राजस्थानी में मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण प्रायः 'ख' के रूप में किया जाता था, जैसे—कृषि का रिखि। यह उच्चारण सम्भवतः गुजराती के प्रभाव के कारण ही था, क्योंकि ग्राज भी गुजरात के निकटवर्ती राजस्थानी प्रदेशों (बांसवाड़ा डूंगरपुर ग्रादि) में मूर्धन्य 'ष' का 'ख' के रूप मे तथा 'स' का 'ह' के रूप में उच्चारण करते हैं। राजस्थानी गद्य शैली में आज यह परम्परा धीरे धीरे समाप्त होती जा रही है। डिंगल में 'य' का उच्चारण 'ज' की तरह किया जा रहा है, उदा. 'यजमान' के लिए जजमान एवं 'योद्धा' के लिए 'जोधा', 'यमलोक' के लिए 'जमलोक' ग्रादि

1. डा. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, राजस्थानी भाषा, पृ. 13।

शब्दों का प्रयोग मात्र ध्वनि परिवर्तन के कारण ही होता रहा है। कही कहीं 'स' ध्वनि के लिए 'ह' ध्वनि का प्रयोग भी राजस्थानी में मिलता है, जैसे—केसरी के लिए 'केहरी'। 'म' के महाराणा के रूप में 'म्ह' का प्रयोग कई शब्दों में (Stress) के कारण) मिलता है, जैसे—म्हाराज, म्हारी आदि। राजस्थानी में रेफ का प्रयोग नहीं होता। रेफ या तो पूरे रेकार में बदल जाता है अथवा स्थानान्तरित हो जाता है; जैसे दुर्लभ का दुरलभ दुर्ग का दुरग, धर्म का धरम या ध्रम, कर्म का करम या क्रम, निर्मल का निरमल या निमल आदि। राजस्थानी में 'विसर्ग' की परम्परा भी नहीं है।

राजस्थानी में उर्दू एवं अंग्रेजी के अनेक शब्द प्रचलित हैं किन्तु उनमें राजस्थानी की प्रचलित ध्वनियों के अनुसार परिवर्तन होता जा रहा है। स्टेशन के लिए राजस्थानी में 'ठेसण' शब्द का ही प्रयोग होगा। सारांश यह है कि राजस्थानी भाषा ने संस्कृत भाषा से अनेक ध्वनियां लीं किन्तु उन्हें पृथक् करना असंभव है। भाषा में ध्वनि का सीधा सम्बन्ध शब्दों की रचना प्रक्रिया से है, अतः ध्वनि के अध्ययन के पश्चात् राजस्थानी गद्य के शब्द सौन्दर्य पर विचार करना भी आवश्यक है।

4. शब्द सौन्दर्य :

शब्द भाषा की लघुतम किन्तु महत्त्वपूर्ण इकाई है। भाषा की कल्पना शब्द के अभाव में सम्भव नहीं। सम्पूर्ण भाव जगत् शब्द के माध्यम से ही स्पंदित है। शब्द एक व्यापक और अखंड तत्त्व है; वह नित्य है एवं असम्भ्य शक्ति का भण्डार है। ज्ञान राशि के क्षेत्र में अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधन शब्द ही है। शब्द में ग्राह्यता और ग्राहकता दोनों ही शक्तियां होती हैं। वह पदार्थ की पहिचान है। सार्थक एवं निरर्थक दोनों ही प्रकार के शब्द अखण्ड विश्व में व्याप्त है किन्तु वाणी का साहचर्य पाकर सार्थक शब्द ही भाव जगत् में आलोकित होते हैं। सार्थक शब्द सदैव वर्णनात्मक अथवा ध्वन्यात्मक होते हैं। साहित्य में दोनों ही रूप प्रचलित हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से शब्द शक्तियों के अन्तर्गत शब्द सौन्दर्य पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहां भाषा विज्ञान की दृष्टि से राजस्थानी भाषा में प्रचलित शब्दों का परिचय कराना है। प्रत्येक भाषा की पहिचान उसके शब्द भण्डार से ही सम्भव होती है तथा भाषा में विकास भी शब्दों के बल पर ही होता है। प्रत्येक भाषा अपनी सजातीय तथा सम्पर्क भाषा से शब्दों के आदान प्रदान के माध्यम से ही प्रभावित होती है। राजस्थानी का विकास आर्य भाषाओं के अन्तर्गत पाली से शौरसेनी प्राकृत एवं गुर्जरी अपभ्रंश के माध्यम से हुआ है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि यह भाषा अपनी जन्मदात्री भाषाओं से अनेक परम्परागत संस्कार लेकर आयी है, जिनमें शब्द एवं ध्वनियां मुख्य हैं। हिन्दी की तरह प्रारम्भ में इस भाषा का भी एक स्टेन्डर्ड रूप नहीं था, जिससे इसकी विभिन्न बोलियों (मारवाड़ी, ढूंढाड़ी, मालवी, मेवाती एवं बागड़ी) के शब्द रचनाओं मे सामान्य रूप से प्रचलित रहे।

साहित्यकार अपनी-अपनी बोलियों में रचना किया करते थे, किन्तु आज सर्वाधिक रचनाएं मात्र मारवाड़ी मे ही होती हैं; अतः वही इसका स्टेन्डर्ड रूप है। प्राचीन राजस्थानी की समस्त बोलियों में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द विशेष मिलते है। विदेशियों का विशेष सम्पर्क होने के कारण, अरबी, फारसी के शब्द भी सम्मिलित हो गये हैं।

भाषा मे अनेक तरह के अर्थवान् शब्द प्रचलित रहते हैं किन्तु यह आवश्यक है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ से वाच्य-वाचक का सम्बन्ध रहता है। जो शब्द प्रसंगानुसार उचित अर्थ की प्रतीति करायें, वे सार्थक हैं, सुन्दर हैं तथा साहित्यिक सौन्दर्य के उपकरण है। शब्द चाहे तत्सम हो अथवा तद्भव, समास युक्त हों अथवा समासहीन, उनका प्रसंगानुकूल उपयोग ही बोधगम्य है। इस सन्दर्भ मे पाश्चात्य आलोचक हरबर्ट रीड का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'अच्छा लेखक शब्दों का प्रयोग शब्द की निरुक्ति, परम्परा तथा पांडित्यपूर्ण प्रयोग में नही देखता अपितु वह अर्थ की सीमित मर्यादाओं में विशिष्ट शब्द-वर्ण में निहित प्रेषण शक्ति को परखता है।'[1] सुन्दर शब्द मैत्री तथा श्रुति सुखद शब्दों के प्रयोग से भी शैली में भाषा वैज्ञानिक सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

शब्दो का सौन्दर्य उनकी मौलिकता एवं उचित प्रयोग पर ही निर्भर करता है। राजस्थानी भाषा में तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी चार प्रकार के शब्द प्रचलित हैं। जैसा कि प्रारम्भ मे राजस्थानी के विकासक्रम के सन्दर्भ में कहा गया है कि उसने अपनी जन्मदात्री भाषाओं से अनेक संस्कार ग्रहण किये हैं। राजस्थानी के तत्सम शब्द भी इसी परम्परा मे संस्कृत से प्राप्त किये गये हैं। पुरानी राजस्थानी मे अपेक्षाकृत तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिक होता था। तत्सम शब्दों में अधिकांश प्रतिपादित रूप मे आये है, किन्तु कुछ प्रथमा विभक्ति के एक वचन के रूप में आये हैं। उदाहरण नर, विद्या, पति, धर्म, चक्र, धवल, चन्द्र, सत्य, भ्राता, कर्म, स्वामी ज्ञानी आदि। संस्कृत से परिवर्तित शब्द जिन्हे तद्भव शब्द कहते हैं, राजस्थानी मे तत्सम शब्दों की तरह प्रचलित है। उदाहरणार्थ—धरम, ग्रहन, सूरज, कालो, ग्यानी साचो आदि। देशी शब्द वे हैं जिनका संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे शब्द देश की संस्कृति के अनुसार प्राचीन भाषाओं से आये हैं अथवा जो बोल-चाल की भाषा से स्वतः उत्पन्न हो जाते है; उदाहरणार्थ—पेट, खिड़की, घणो, डांग आदि। अनेक अनुकरणात्मक शब्द भी राजस्थानी भाषा-शैली में देशी शब्दो के रूप में प्रचलित हैं जिनमें उच्चारण की दृष्टि से सौन्दर्य होता है; जैसे—खड़ खड़, सर-सर, तड़ा-तड़

1. "A good writer does not select his word by virtue of any pedantic meaning to this or that theory of their origin and proper use, but within the limits of accepted meaning, is solely governed by the due measure of expressiveness implied in the syllabus of a particular word." H. Reade, English Prose Style, p. 5.

फटा-फट, भिर-भिर, गड़गड़ाहट आदि । विदेशी शब्दों में तुर्की, अरबी, फारसी, पुर्तगाली एवं अंग्रेजी भाषाओं के अनेक शब्द प्रचलित हैं जो चलते चलते यहां के आंचल में समा गये हैं, उदाहरणार्थ—चक्कू, दरोगा, बेगम (तुर्की) इमारत, तसवीर, किताब, दवात, दवाई, सनद (अरबी) कागद, तकिया, नरम, बन्दोबस्त खुदा (फारसी) अलमारी, कमीज, गोदाम, तमाखू, बाल्टी, भिस्त्री (पुर्तगाली) तडा इंजण, अफसर, अस्पताल, ठेसण, दरजण, माचिस, रपोट, लालटेन एवं मोटर आदि (अंग्रेजी)।

राजस्थानी भाषा में शब्दो की रचना प्रत्यय लगकर तथा परसर्ग लगाकर की जाती है किन्तु उन्हें एक ही शब्द बनाकर लिखा जाता है; जैसे—उदारता, टाबरपणो, गाड़ीआलो, बागवान (प्रत्यय मूलक) रामने, घरेसूं, मिनखरो (परसर्ग)। ऐसे युगल शब्दो का प्रयोग भी राजस्थानी में किया जाता है जिनमे दोनो पक्षों मे क्रिया का भाव छिपा रहता है; जैसे—ले जावणो, जाया करणो, कर देलो, आयो-चावै, जीमता-जासी, पढ़ती हुबैला, उठियो हो, जावां हां आदि । आंचलिकता का प्रयोग होने से शब्दो में सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है । तद्भव शब्दों के मध्य में जहा सामान्यतया 'इ' का प्रयोग होता है वहां राजस्थानी में 'इ' का लोप हो जाता है तथा 'ह' और उसके पास की ध्वनि को मिलाकर 'अ' का उच्चारण किया जाता है; जैसे गहणों के लिए गैणो, गहरो के लिए गैरो, चहरो के लिए चैरो, लहर के लिए लैर आदि ।

हिन्दी की तरह रूप-भेद भी राजस्थानी की अपनी विशेषता है । एक ही शब्द के अनेक रूप इसमे मिलते हैं; जैसे 'भूमि' के लिए—भोम, जगां, जमीन, धरती, भुंई, भंय भुंवि, भुमि, इला आदि ।

राजस्थानी में पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग एक प्रकार से सामासिक शब्दों की तरह किया जाता है; जैसे—रोम-रोम, लोटां-लोटां, भाई-भाई, पूगतां-पूगतां, जको-जको, साची-साची, कुण-कुण, कदे-कदे आदि । कभी पुनरुक्त शब्दों के बीच में कोई संयोजक शब्द भी जोड़ दिया जाता है; जैसे—कोर-म-कोर, लारै-रो-लारै, काल-रो-काल, आज-को-आज, दूध-रो-दूध आदि । कभी कभी पुनरुक्त शब्दों मे उनके पर्याय शब्द भी जोड़ दिये जाते हैं जिससे शब्द चमत्कार उत्पन्न हो जाता है; जैसे—सदा-सर्वदा, लुच्चो-लफंगो, लूलो-लंगड़ो, मोटो-ताजो, ठीक-ठीक, जल-थल जियां-तियां, मंधो-सूघो, मिनख-जमारो, आदि । प्रतिध्वनि युग्म-प्रयोग के अन्तर्गत-रोटो-मोटी, पाणी-वाणी, कपड़ो-कपड़ो आदि । शब्दों का अर्थ-घनत्व सूचक युग्म प्रयोग भी राजस्थानी की अपनी विशेषता है, जैसे घोलो-चुटु, मीठो-गट्ट, सूघो-सट्ट, लीलो-चक, कालो-भरट, सीधो-सड़ाग आदि । घनत्व सूचक शब्दों में बल-बलती, खा-खूपेर, निपट-निपटारे आदि ।

अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग न केवल पद्य में ध्वन्यात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए किया जाता है अपितु गद्य मे भी ऐसे शब्दों का प्रयोग पुरानी राजस्थानी से होता आ रहा है । इसे हम शब्दों का द्वित्व प्रयोग अथवा पुनरावृत्य युग्म

प्रयोग भी कह सकते हैं। जैसे--गड़-गड़, घड़-घड़, टर-टर, खटा-खटा, धीरी-धीरी घर-घर हालना, तड़ाक-तड़ाक, खल्-खल् प्रादि।

राजस्थानी के उन शब्दों के प्रति, जिनमें राजस्थान के वातावरण के विशेष प्रयोग के कारण स्पष्ट झांकी प्रकट हुई है, प्राग्रह रखना उचित ही नहीं परन्तु नितान्त आवश्यक है। ऐसे शब्दों का अधिकतर प्रयोग करने की ओर पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए, जिससे कि रचना मे भाषा की स्वतन्त्र सत्ता एवं उसके संस्कार स्पष्ट रूप से प्रकट हो सकें। उदाहरण के लिए पूर्व पश्चिम के स्थान पर 'अगूण-आथूण, जंजीर के लिए 'सांकल' सेवा कार्य के लिए 'हीड़ा' याद के लिए 'प्रोल्यू' आत्मीयता प्रकट करने के लिए 'आणेस', 'सम्पूर्ण' के लिए 'माखो' तथा 'गर्व' के लिए गुमान आदि ऐसे ही शब्द हैं जो राजस्थानी भाषा के निजी हैं तथा इनमे राजस्थानी वातावरण साकार होता है। जीवित भाषा मे ऐसे शब्दों के प्रयोग से चित्रात्मकता एवं अभिव्यंजना का विकास होता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आधुनिक राजस्थानी मे साहित्यिकता का गुण धीरे-धीरे घट रहा है, जिसके लिए संस्कृत की शब्द राशि का प्रयोग अधिकाधिक किया जाना चाहिए। यह तो निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि आधुनिक राजस्थानी भाषा मे उसकी अपनी शब्दावली (देशज शब्द) का प्रयोग बहुत बढ़ रहा है। राजस्थानी गद्य को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए शब्दों का एक सर्वमान्य रूप अवश्य निर्धारित किया जाना चाहिए तथा ऐसे शब्द जो प्रांचलिक भेद के रूप मे राजस्थानी की समस्त बोलियो मे प्रचलित हैं; उनका पारस्परिक अन्तर समाप्त कर उन्हें व्यावहारिक प्रयोग में स्वीकार कर लेना चाहिए। राजस्थानी शब्दों के व्यावहारिक प्रयोग की एक विशेषता यह भी है कि उच्चारण के अनुरूप ही वे लिपिबद्ध भी किये जाते हैं। शब्दों के इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शब्द भंडार की दृष्टि से राजस्थानी एक समृद्ध भाषा है जिसमें शैलियो के विविध रूप देखे जा सकते हैं। शब्दो के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के पश्चात् रचना की महत्त्वपूर्ण इकाई (वाक्य) पर भी विचार करना आवश्यक है।

5. वाक्य विचार :

रचना की लघुतम इकाई के रूप में शब्दों का प्रयोग होता है किन्तु 'वाक्य रचना' के बल पर भाषा-शैली का स्वरूप निर्धारित होता है। वाक्य भाषा की महत्त्वपूर्ण सफल इकाई है। शब्दों का महत्त्व मात्र वाक्यों के अन्तर्गत ही सम्भव है। [illegible]त: वे वाक्य के ही अंश हैं। उचित स्थान पर उचित क्रम से शब्दों का प्रयोग ही वाक्य है जिसके माध्यम से भावाभिव्यक्ति सम्भव होती है। वाक्य की सार्थकता इसी में है कि वह वक्ता के आशय की अभिव्यंजना करे। 'अच्छी हिन्दी' में वाक्यों एवं शब्दों के उचित उपयोग एवं महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए श्री रामचन्द्र वर्मा ने [illegible] है, 'साहित्य में अच्छे वाक्य वही समझे जाते हैं जिनमें व्यंजना से सूचित होने

वाला व्यंग्यार्थ रहता है। शब्दों या वाक्यों का यही व्यंग्यार्थ सबसे अधिक चमत्कार पूर्ण और प्रभावशील होता है।"[1] वाक्यों के आकार-प्रकार के सम्बन्ध में कोई निश्चित सीमा रेखा अंकित नहीं की जा सकती क्योंकि उसका स्वरूप लेखक की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति सामर्थ्य से है। इस सम्बन्ध में डा. श्याम सुन्दर का कथन है, "वाक्यों मे सबसे अधिक ध्यान देने की वस्तु अवधारणा का संस्थान है।.......... साधारण नियम यह है कि जिस बात पर जोर देना है, वह वाक्य के आदि या अंत में रखी जाय।"[2] आदि में रखने से वह पहले ही ध्यान को आकर्षित करती है तथा पाठकों को अध्ययन के साथ साथ चिन्तन करने एवं दृष्टिकोण निर्धारित करने का अवसर भी देती है। अंत में रखने से स्मृति में अधिक काल तक ठहर सकती है। रचना में मध्य का स्थान साधारण तथा अप्रधान बातों के लिए छोड़ देना चाहिए। जैसा कि प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि वाक्यों की निश्चित लम्बाई निर्धारित नही की जा सकती किन्तु इतना अवश्य है कि जिस रचना मे वाक्य छोटे-छोटे होते हैं वह शैली सुबोध एव स्पष्ट होती है। अतः जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हो, उसके लिए छोटे छोटे वाक्यो का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है।

साधारणतया व्याकरण की दृष्टि से तीन प्रकार के वाक्य स्वीकार किये जा सकते हैं:—सरल, मिश्र और संयुक्त। यों तो प्रत्येक रचना शैली में तीनों ही प्रकार के वाक्यो का प्रयोग किया जाता है किन्तु इनका उचित प्रयोग विषय की प्रकृति पर ही निर्भर करता है। शैली मे एक ही प्रकार के वाक्य रोचक भी प्रतीत नही होते; अतः प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति के लिए लेखक को वाक्यों की अनेक रूपता का प्रयोग करना चाहिए। प्रभाव की दृष्टि से भी विभिन्न वाक्यों का प्रयोग शैली में उत्तम प्रतीत होता है। रचना-शैली में गाम्भीर्य एवं अर्थ विस्तार उत्पन्न करने के लिए संयुक्त वाक्यों का प्रयोग सार्थक सिद्ध हो सकता है जबकि साधारण अभिव्यक्ति के लिए सरल वाक्य ही उपयुक्त है। मिश्र वाक्यों मे एक प्रधान और एक या अनेक आश्रित उपवाक्य होते हैं; जैसे—"बरखा चोखी हुई, जिण सूं बाजरो मोकलो हुयो है।" यहां दोनों वाक्य आपस में स्वतन्त्र नहीं हैं, दोनों के अर्थ की ध्वनि 'जिणसूं' शब्द लगने पर होती है। संयुक्त वाक्य में दो या अधिक वाक्य परस्पर अनाश्रित (स्वतन्त्र) होते हैं जो योजक शब्द के बल पर ही जोड़े जाते हैं। जैसे-रामू ने बजार में गुरुजी मिल्या जिणानै बो नमस्कार कर्यो और आपणो हाल सुणायो।" इसमें तीनों वाक्य अपने आपमें स्वतन्त्र हैं जो योजक शब्दों से जुड़कर एक संयुक्त वाक्य के रूप में बन गये है। अन्य समस्त बातों के समान रहने पर एक छोटा वाक्य अच्छा समझा जाता है क्योंकि उसमें दुरूहता नहीं होती। वाक्य का धर्म जटिलता से सरलता की ओर बढ़ रहा है, जिसमें भाषा का सच्चा विकास प्रकट हो रहा है।

1. रामचन्द्र वर्मा, अच्छी हिन्दी, पृ. 97।
2. डा. श्याम सुन्दर दास, गद्य कुसुमावली, पृ. 79।

"जिसे तुम प्रकट करना चाहते हो, उसे स्पष्ट कहो"—की प्रवृत्ति भाषा शैली में होनी चाहिए, तभी उसकी अर्थगत सार्थकता है। राजस्थानी भाषा में भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से साहित्यकार सरलता की ओर आ रहे हैं।

अर्थ की दृष्टि से राजस्थानी भाषा में हिन्दी की तरह वाक्यों की रचना की जाती है। निषेधार्थक वाक्यों का प्रयोग तो पूर्णतः हिन्दी के अनुरूप ही होता है, जैसे—"रामू गांव कोनी गयो।" प्रश्न वाचक वाक्यों के प्रयोग में हिन्दी में जहां 'क्या' प्रारम्भ में लगाया जाता है वहां राजस्थानी मे यह सामान्यतया अन्त में जोड़ा जाता है, जैसे—रामू गांव गयो कांई ? सम्बोधन और विस्मयादि बोधक शब्द वाक्य के प्रारम्भ में आते हैं। आज्ञार्थक, इच्छार्थक एवं सम्भावनार्थक वाक्यों का प्रयोग हिन्दी की परम्परानुसार ही होता है। वाक्यों की रचना में विराम चिन्ह का विशेष ध्यान रखना चाहिए अन्यथा सामान्य असावधानी से अर्थ का अनर्थ हो सकता है। सत्य तो यह है कि वाक्य की सफलता शब्द पर निर्भर करती है और शैली की सफलता वाक्य पर।

वाक्यों के उचित संगठन से अनुच्छेद का निर्माण होता है तथा ऐसे ही अनेक अनुच्छेद मिलकर अध्याय का गठन करते हैं जिसमें साहित्य की शैली अवस्थित होती है। अनुच्छेद किसी विशिष्ट प्रकरण का एक अंश है जिसमें सम्पूर्ण विषय के किसी एक पहलू पर प्रकाश डाला जाता है। अनुच्छेद परिवर्तन की प्रक्रिया भी "शैली' को प्रभावित करती है क्योंकि अनुच्छेद भी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का एक भाग है। अनुच्छेद का सीधा सम्बन्ध प्रसंग परिवर्तन से है। वाक्य की तरह अनुच्छेद भी अपने आप में पूर्ण होना चाहिए अन्यथा वह शैली के प्रवाह को शिथिल कर सकता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से शैली निर्धारण में रूप, ध्वनि, शब्द, वाक्य एवं अनुच्छेद आदि तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्येक की उपयोगिता उनके उचित, स्पष्ट एवं यथातथ्य प्रयोग पर ही निर्भर करती है। उक्ति में स्पष्टता का ऐसा गुण होना चाहिए कि वाक्य को देखते ही या सुनते ही पाठक या श्रोता लेख के अभिप्राय को समझ ले। वाक्य में लेखक जिस बात को महत्त्व देना चाहता है उसे वाक्य में ऐसा स्थान दे कि उसके द्वारा वह अंश मुख्यता प्राप्त कर सके। भाषा-शैली का माधुर्य उत्तम शब्द एवं वाक्यों से ही प्रकट होता है; अतः इस दिशा में साहित्यकार को सफल वाक्यों की रचना के लिए वाक्य के अवयवभूत शब्दों, मुहावरों एवं वाक्य-खंडों को इस रूप में सजाना चाहिए कि वाक्य अधिक से अधिक प्रभावशाली हो सके। इस सफलता के लिये रचना मे स्पष्टता, समर्थता, यथातथ्यता एवं श्रुतिमधुरता का होना आवश्यक है।

शैली के विविध रूपों का विवेचन तो एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिस पर पृथक् से प्रकाश डाला जा रहा है किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जब हम 'शैली' का तात्त्विक विवेचन करते हैं तो शब्द, वाक्य, ध्वनि एवं अनुच्छेद के बल पर स्पष्ट रूप से दो प्रकार की शैलियां साहित्य मे देखते हैं जिन्हें समास एवं व्यास शैली कहते

हैं। साहित्य की अन्य विविध शैलियों में भी ये शैलियां उपस्थित रहती है, अतः यहां इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

6. समास एवं व्यास प्रधान शैली :

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि शैली के तात्विक विवेचन के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की शैलियों का उल्लेख किया गया है जिनका वैधानिक विवेचन राजस्थानी की आधुनिक शैलियों के सन्दर्भ में सम्भव होगा। राजस्थानी की प्रारम्भिक विधाएं विविध प्रकार की शैलियों से युक्त हैं, चाहे वे अपनी विशिष्ट साहित्यिक मान्यताएं रखती हों। समास और व्यास प्रधान शैलियो की उपस्थिति राजस्थानी गद्य की विभिन्न शैलियों में भी देखी जा सकती है।

7. समास शैली।

समास का शाब्दिक अर्थ है–योग, मेल, संक्षिप्त करना आदि। व्याकरण में दो शब्दों को मिलाकर एक नया शब्द बनाया जाता है, उसे भी समास कहते हैं। वस्तुतः दोनों ही विशिष्टताओं का योग समास शैली मे देखने को मिलता है। लेखक अनेक ऐसे शब्दों को जिनमें संयोग सम्भव है, मिलाकर एक नये शब्द मे परिवर्तित कर देता है तथा ऐसे ही सामासिक पदों की जब अभिव्यक्ति में बहुलता हो जाती है तो उस रचना शैली को समास शैली कहते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि साहित्यकार जब अपने वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करते समय अपने विचारों का संग्रह करता चलता है और उन विचारों के स्पष्टीकरण में शब्दों या वाक्यों के प्रयोग मे संकोच की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है तब वह समास शैली का अनुसरण करता है। समास शैली के माध्यम से विचारों मे एक क्रमबद्धता का सूत्रपात होता है तथा उक्ति के अनावश्यक विस्तार का लोप हो जाता है, किन्तु सन्दर्भ में से किसी एक-आध वाक्य को हटा देने से विचारों की श्रृंखला टूट जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि विचार ठूंस-ठूंस कर वाक्यों में भर दिये जाते हैं। संक्षिप्तीकरण की कला मे भी इसी शैली का प्रयोग किया जाता है।

8. व्यास प्रधान शैली :

समास शैली की प्रकृति के ठीक विपरीत साहित्य मे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से व्यास शैली प्रचलित है। व्यास का शाब्दिक अर्थ है—पार्थक्य, अंगो मे विभाग करना, समस्त पद के अंगो को अलग-अलग करना, विस्तृत विवरण आदि। सरल भाषा मे व्यास का अर्थ है विस्तार या फैलाव। जब साहित्यकार अपने वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करते समय इस बात का ध्यान रखता है कि उसमे वर्ण्य विषय का अंग-प्रत्यंग पाठक के समक्ष स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत कर दिया जाय तब वह विषय वस्तु को विस्तृत व्याख्या के माध्यम से प्रकट करता है। इसी प्रयास में व्यास शैली का विकास होता है। एक ही विचार को भिन्न-भिन्न शब्दों अथवा वाक्यों द्वारा स्पष्ट करने से उसमे विस्तार आ जाता है, इसीलिए इस शैली को व्यास शैली कहा जाता है। किसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए तथा अपनी बात को पुष्ट एवं प्रामाणिक

बनाने के लिए प्रसिद्ध एवं मान्य सूक्तियों, वचनों आदि का उद्धरण प्रस्तुत करना भी आवश्यक हो जाता है, जिससे शैली स्वतः व्यास युक्त हो जाती है। सूक्तियों के प्रयोग से उक्ति की प्रभावोत्पादकता और प्रामाणिकता बढ़ जाती है तथा शैली अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न करने मे अधिक सशक्त हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि समास शैली की प्रकृति संक्षिप्तता की ओर है जबकि व्यास प्रधान शैली की विस्तार की ओर। साहित्य में दोनों ही शैलियों का महत्त्व एवं उपयोग विषय की प्रकृति पर निर्भर करता है।

साहित्य की शैली के तात्त्विक विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि 'शैली' क्या है एवं साहित्य में उसकी क्या उपयोगिता है ? अतः अब अपने मूल विषय पर आकर राजस्थानी गद्य शैली के विकास पर तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए।



द्वितीय-प्रकरण
राजस्थानी गद्य की प्राचीन विधाओं का तात्त्विक विवेचन

1. राजस्थानी गद्य की विभिन्न प्राचीन शैलियों का तात्त्विक विवेचन :

प्रत्येक भाषा में गद्य का विकास पद्य के पश्चात् ही मिलता है। राजस्थानी गद्य की स्थिति भी ठीक ऐसी ही है, किन्तु उसका प्रारम्भिक गद्य साहित्य विधागत विशिष्टताओं एवं साहित्यिक रूपों की दृष्टि से अनेक आर्य भाषाओं के गद्य से समृद्ध है। राजस्थानी साहित्य मे गद्य लिखने की परम्परा का विकास 14वीं शताब्दी से पूर्व ही हो चुका था किन्तु अपभ्रंश के प्रभाव से युक्त होने के कारण उसे निश्चित रूप से विशुद्ध राजस्थानी गद्य का रूप नहीं माना जा सका। श्री नारायण सिंह भाटी ने "राजस्थानी साहित्य का आदिकाल" शीर्षक ग्रन्थ (परम्परा) की भूमिका मे यह संकेत किया है कि राजस्थानी गद्य के उदाहरण 12वी शताब्दी तक में मिलते हैं। इसी सन्दर्भ में श्री अगरचन्द जी नाहटा ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि 11वीं शताब्दी की अपभ्रंश रचनाओं में राजस्थानी भाषा के विकास के चिह्न मिलते हैं।[1] राजस्थानी गद्य का प्राचीन-तम उदाहरण बीकानेर के नाथूसर गांव के एक शिलालेख पर अंकित है, जिसका समय सं. 1280 दिया गया है। इसका उल्लेख राजस्थानी की प्रारम्भिक गद्य रचनाओं के सन्दर्भ में आगे किया जा रहा है। राजस्थानी गद्य का विकास 13वीं शताब्दी के पश्चात् द्रुतगति से होता गया किन्तु 15वी शताब्दी तक की रचनाओं पर अपभ्रंश का प्रभाव बना रहा। 14वी शताब्दी से पूर्व की गद्य रचनाओं को इसी कारण राजस्थानी के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे पूर्णतया अपभ्रंश की ही रचनाएं हैं; हां उनमें राजस्थानी भाषा के प्रकृति जनित संस्कार एवं भाषा-विज्ञान सम्बन्धी रूप अवश्य विकसित होते है।

16वी शताब्दी तक राजस्थानी और गुजराती का स्वतन्त्र रूप निर्धारित नहीं हो सका था। इन्हें प्राचीन राजस्थानी के नाम से पुकारा जाता था, किन्तु इस काल में रचित सम्पूर्ण गद्य साहित्य को प्रकाश में लाने का प्रयास नहीं किया गया। कुछ भाषाविद पश्चिमी राजस्थानी का समय 15वीं शताब्दी तक ही मानते हैं क्योंकि उनके मतानुसार आधुनिक राजस्थानी का रूप 16वीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गया

---

1. अगर चन्द नाहटा, परम्परा, भाग 12, पृ. 152।

था, किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह स्वीकार करना होगा कि गुजराती तथा आधुनिक राजस्थानी ने इस समय तक स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित नहीं किया था। 16वीं शताब्दी तक की भाषा प्राचीन राजस्थानी के ही निकट थी तथा उसका प्रभाव आंशिक रूप में 17वीं शताब्दी तक की रचनाओं पर पड़ा है। भाषाओं का विकास क्रमिक होता है। उनकी विशिष्ट परम्पराओं का भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यांकन किया जा सकता है किन्तु काल विभाजन की दृष्टि से कोई निश्चित सीमा रेखा अंकित नही की जा सकती, क्योंकि विकसित भाषाएं लम्बी अवधि तक अपनी पूर्ववर्ती एवं पैत्रिक भाषाओं से प्रभावित होती रहती हैं। ठीक यही स्थिति प्राचीन राजस्थानी एवं राजस्थानी भाषा की है। प्राचीन राजस्थानी पर अपभ्रंश का एवं आधुनिक राजस्थानी पर गुजराती भाषा का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। यह निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि जितना प्राचीन और विकसित गद्य राजस्थानी भाषा में मिलता है उतना किसी अन्य विकसित भारतीय आर्य भाषाओ मे नही। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि राजस्थानी की विशिष्ट बोलियां अपने आपमें राजस्थानी का ही रूप हैं किन्तु साहित्यिक राजस्थानी का आधार मारवाड़ी (पश्चिमी राजस्थानी) ही रहा है, क्योंकि इसमें सर्वाधिक रचनाएं मिलती है तथा इसका गद्य साहित्य भी अपनी प्राचीनता तथा प्रौढ़ता के लिए उल्लेखनीय है। वस्तुतः आज यही राजस्थानी की 'स्टेन्डर्ड' भाषा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे हमें राजस्थानी गद्य के ऐतिहासिक विकास क्रम की ओर संकेत न करके उसके रूपगत एवं शैलीगत वैशिष्ट्य का सम्यक् चित्रण करना है। शैली के तात्विक विवेचन के सन्दर्भ में शैली के मूलभूत तत्वों, जैसे—व्यक्तित्व, भाषा, विषय-वस्तु, शब्द, ध्वनि आदि पर विचार किया गया है किन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्राचीन राजस्थानी गद्य में लेखकों ने मात्र सामन्ती व्यवस्था को आधार बनाकर उनसे सम्बन्धित विषयों पर अधिक लिखा है; अथवा जैनाचार्यों ने अपने धर्म पर प्रकाश डाला है। सामान्य जन जीवन का उल्लेख मात्र कुछ कलात्मक बातो में ही किया गया है। विषय-वस्तु की भिन्नता के दर्शन होते हैं किन्तु उनमें सामान्य जन जीवन का अभाव है।

प्राचीन राजस्थानी गद्य के ऐतिहासिक एवं धार्मिक गद्य साहित्य मे विविध विधाओ के दर्शन होते हैं जिनकी शैली में आंशिक भिन्नता ही मिलती है। विधाएं अपने आप मे शैली का रूप-सी प्रतीत होती हैं तथा कुछ ऐतिहासिक विधाओ में तो अभिव्यक्ति का एक 'स्टेन्डर्ड' रूप मिलता है किन्तु महत्त्वपूर्ण गद्य साहित्य मे व्यक्तित्व के दर्शन सर्वत्र होते हैं। इस सन्दर्भ मे डा. नरेन्द्र भानावत की यह मान्यता कि, 'प्राचीन राजस्थानी गद्य में 'Style is the man' जैसी शैली का विकास नहीं मिलता,'[1] पूर्णतः असत्य है। उन्होने ने तो यहा तक स्वीकार किया है कि प्राचीन राजस्थानी गद्य मे उसकी अपनी कोई शैली नही है। सत्य तो यह है कि डा. भानावत

1. डा. नरेन्द्र भानावत, राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियां, पृ. 1, 2।

ने शैली का निर्धारण मात्र जातिगत या समूह गत विशेषताओं के अन्तर्गत स्वीकार कर जैन शैली और चारण शैली को ही प्राचीन राजस्थानी गद्य की शैली माना है जबकि यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य में जितनी विविध शैलिया प्रचलित हैं उनमें से निबन्ध साहित्य की कुछ विशिष्ट शैलियो तथा आधुनिकतम शैलियों को छोड़कर प्राचीन राजस्थानी गद्य में समस्त शैलियों के दर्शन होते हैं। धार्मिक जैन साहित्य में सहज, सुबोध एवं सरल शैली के दर्शन सर्वत्र होते हैं तथा प्राचीन राजस्थानी बातें वर्णनात्मक, अलंकृत, कलात्मक एवं चित्रात्मक शैलियो की दृष्टि से आज भी अपना महत्व रखती है। प्राचीन राजस्थानी गद्य में यदि 'Style is the man' की स्थिति नहीं होती तो बांकीदास और दयालदास सिंढायच की ख्यातों मे कोई अन्तर नही होता; जबकि स्थिति यह है कि दयालदास की ख्यात ऐतिहासिक महत्व रखती है। चूंकि रचनाकार का उद्देश्य मात्र ऐतिहासिक विवरण देना ही था; अतः उसमें कलात्मकता नही आ पायी,जबकि दूसरी ओर बाकीदास की ख्यात के गद्य में शैलीगत प्रांजलता एवं कलात्मकता है। उसमें स्थल-स्थल पर काव्यात्मक सौन्दर्य भी मिलता है। स्पष्ट है कि भाषा-शैली की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। मुंहणोत नैणसी की ख्यात की भाषा-शैली से भी यह अन्तर स्पष्ट हो सकता है। व्यक्तित्व का स्पष्ट प्रभाव रचनाकार की कृतियों में देखा जा सकता है। अतः इस तथ्य को स्वीकार नही किया जा सकता कि प्राचीन राजस्थानी गद्य में शैलियों का अभाव है तथा वहां व्यक्तित्व के दर्शन नहीं होते प्रत्येक रचनाकार के व्यक्तित्व का प्रभाव उसकी कृति पर अवश्य प्रकट होता है।

कुछ आलोचक राजस्थानी भाषा को एक 'स्टेन्डर्ड' भाषा के रूप में न मानकर उसे विभिन्न बोलियों का समूह-मात्र मानते हैं तथा डिंगल और राजस्थानी शब्दों के माध्यम से राजस्थानी में प्रचलित बोलियो के स्थायित्व एवं उपयोगिता के विषय को लेकर विवाद उत्पन्न कर रहे हैं किन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'डिंगल और राजस्थानी में मात्र काल और नामकरण की दृष्टि से अन्तर है। जहां तक गद्य के स्वरूप का प्रश्न है, उसमें पूर्णतः एक रूपता है चाहे वह उदयपुर में लिखा गया हो अथवा कोटा, जोधपुर या बीकानेर क्षेत्र में। आंशिक स्थानीय अन्तर तो प्रत्येक भाषा मे मिलता है। राजस्थानी गद्य विकास की दृष्टि से जातीय परम्पराओं में अवश्य ही विभाजित हुआ है किन्तु उसमें अभिव्यक्तिगत भिन्नता नहीं आ पायी है। कुछ विद्वान इन जातीय परम्पराओ को जैन शैली एवं चारण शैली के नाम से सम्बोधित करते हैं किन्तु मूलतः इनमें शैलीगत अन्तर न होकर विषयगत अन्तर ही है। दोनों परम्पराओं में लौकिक साहित्य की ही तरह विविध गद्य शैलियों के रूप मिलते हैं। अतः विशिष्ट जातीय साहित्य को 'शैली' के नाम से सम्बोधित नहीं किया जा सकता।

2. जैन गद्य साहित्य परम्परा :

राजस्थानी गद्य साहित्य की उत्पत्ति और विकास में जैन धर्म का प्रमुख हाथ

रहा है, जिसका मुख्य कारण यह है कि राजस्थान से जैन धर्म का सम्बन्ध बहुत पुराना है। अनेक जैन तीर्थंकर धार्मिक उद्देश्य से यहां पधारते थे तथा अपने आवास-काल में धार्मिक प्रचार के माध्यम से साहित्य की सेवा भी करते थे। आज भी हजारों जैन श्रावक राजस्थान प्रदेश में इसी उद्देश्य के लिए भ्रमण करते हैं जो धर्म प्रचार का कार्य एकमात्र यहां की भाषा (राजस्थानी) में ही करते हैं। जैनाचार्यों की खरतरगच्छ एवं तपागच्छ परम्परा का प्रभाव 14 वी शताब्दी तक रहा जिनके अन्तर्गत जैन लेखकों ने राजस्थानी साहित्य की सेवा धार्मिक प्रचार के माध्यम से की। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि इस प्राचीन गद्य साहित्य पर नागर अपभ्रंश का काफी प्रभाव रहा है। जैन गद्य साहित्य के मूल में मानव प्रेम की भावना समाहित है। धर्म के माध्यम से जैन आचार्यों ने विश्व बंधुत्व की भावना का स्वप्न साकार किया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि विषयों का न केवल धार्मिक वातावरण में विश्लेषण किया अपितु सामाजिक एवं व्यावहारिक पक्ष को भी साहित्य में उपस्थित किया है। आध्यात्मिक ढंग से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को जीवन के विविध पहलुओं पर अवस्थित किया है। साहित्यिक माध्यम से जीवन के कला पक्ष को भी, जिनमें वास्तुकला, मूर्ति कला, चित्रकला एवं संगीत कला आदि प्रमुख हैं; उद्घाटित किया है। वस्तुतः इस धर्म की मान्यताएं व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही सार्थक हैं। जीवन और साहित्य के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि जो साहित्य धार्मिक वातावरण लेकर उपस्थित होता है वह चाहे जातीय गुणों से युक्त क्यों न हो, किन्तु काल विशेष में लोकप्रिय होता है। यदि उसमें सम्पूर्ण मानव जीवन के कल्याण की भावनाएं निहित हैं, तो वह जातीय साहित्य होते हुए भी स्वीकार किया जाता है, और लोक साहित्य बन जाता है। राजस्थानी का जैन साहित्य भी इन्ही परम्पराओं को लेकर प्रकट हुआ था किन्तु कालान्तर में वह जन जीवन का साहित्य बन गया, चाहे प्रारम्भ में उसका उद्देश्य धर्म प्रचार ही क्यों न रहा हो।

जैसा कि प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है कि जैन साहित्य विषय की दृष्टि से बहुत विशाल है। धर्म, ज्योतिष, वैद्यक मन्त्र-तन्त्र, इतिहास, भूगोल, राजनीति एवं जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों का वर्णन पद्य एवं गद्य में किया गया है। गद्य साहित्य दो रूपों मे मिलता है—मौलिक और अमौलिक गद्य (टीका एवं अनुवाद) के रूप मे। मौलिक गद्य साहित्य का विषय धार्मिक (कथात्मक), ऐतिहासिक, (गुर्वावली, पट्टावली, वंशावली, उत्पत्ति ग्रन्थ, दफ्तर बही एवं टिप्पण) तथा कलात्मक (वचनिका, दवावैत, सिलोका) आदि रूपों में मिलता है। अमौलिक गद्य टीकाएं एवं अनुवाद आदि रूपों में मिलता है। इस युग में प्रचलित बालावबोध एवं टब्बा पद्धतियां मात्र टीकाओं से ही सम्बन्धित होती थीं। जैन साहित्यकारों की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वे भाषा को व्याकरण के जटिल नियमों में न बांधकर उसे मुक्त रूप से जन सुलभ बनाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने अपने सम्पूर्ण जैन

साहित्य में राजस्थानी और गुजराती जैसी प्रचलित भाषाओं में ही साहित्य की रचना की। जैन साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि उसका साहित्य कला के लिए न होकर जीवन के लिए है। सहजता एवं सरलता का गुण उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति मे मिलेगा। बालावबोध पद्धति इसी दृष्टि से विशेष लोकप्रिय हुयी। आवश्यकतानुसार अनुप्रासान्तक एवं अलकृत शैली का प्रयोग भी बड़ी सजगता के साथ हुआ है। जैन लेखक अलंकारों के लिए आग्रह नही करते थे।

जैन गद्य साहित्य में कुछ स्थलों पर अलौकिक तत्वों की भी झलक मिलती है। मुख्यतः इनके द्वारा लिखित कथा साहित्य में अलौकिक तत्वों का विशेष उपयोग किया गया है तथा शैली में कथात्मक प्रवाह लाने के लिए जीवन के आदर्शों की प्रतिस्थापना की गई है। जैन गद्य-साहित्य में गद्य के विभिन्न परम्परावादी एवं नवीन प्रयोग मिलते हैं। अनेक जैन साहित्यकारों के गद्य में तुकान्तता का भी प्रयोग मिलता है। टीका एवं अनुवाद के माध्यम से उन्होने राजस्थानी गद्य को समृद्ध करने का बराबर प्रयास किया। केवल जैन धर्म से सम्बन्धित टीकाएं ही नहीं अपितु गीता, राम कथा आदि विषयों से सम्बन्धित कृतियों के सुन्दर अनुवाद एवं टीकाएं राजस्थानी में प्रस्तुत कीं। जैन गद्य साहित्य में बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ है किन्तु उसमें संस्कृत की विभक्तियों के रूप भी मिलते हैं। कहीं कहीं आलंकारिक एवं शृंगारिक चित्रण भी मिलता है।

अन्त मे यह स्वीकार किया जा सकता है कि जैन धर्म की साहित्यिक सेवा भावनात्मक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की थी। राजस्थानी भाषा और साहित्य की दृष्टि से उसमे औदार्य प्रकट होता है। कथानक की सृष्टि से दृष्टिकोण का अन्तर भले ही रहा हो, किन्तु उसके मूल में मानव कल्याण की भावना ही रही है। यही कारण है कि जैन धर्म का साहित्यिक रूप आज भी अवस्थित है। विषय एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से आदिकालीन राजस्थानी गद्य साहित्य में जैन साहित्य का गौरवपूर्ण स्थान रहेगा। जैन साहित्य परम्परा के समानान्तर राजस्थानी गद्य में चारण साहित्य परम्परा भी प्रचलित रही है जिसका गद्य ऐतिहासिक एवं कलात्मक दोनो ही दृष्टियों से विकासोन्मुख रहा है।

3. चारण गद्य साहित्य :

राजस्थानी गद्य के विकास में जहां जैन साहित्यकारों का योगदान है वहां चारण साहित्यकारों के प्रभावशाली गद्य साहित्य को भुलाया नहीं जा सकता। मुहणोत नैणसी, बांकीदास एवं दयालदास सिंढायच जैसे साहित्यकार एवं इतिहासकार-शैलीकार की दृष्टि से राजस्थानी गद्य में सदैव अमर रहेंगे। चारण गद्य साहित्य मूलतः जातीय साहित्य तो है किन्तु वह राजस्थानी लोक जीवन के अधिक निकट है, अतः जातीय साहित्य होते हुए भी उसे स्वीकार किया जा सकता है। सम्पूर्ण साहित्य में सामान्य जन जीवन का चित्रण इसलिए नही हो सका कि चारण कवि सामन्त-

वादी परम्परा से इनने प्रभावित थे कि उन्हें समाज के विषय में सोचने का अवसर भी नहीं मिला। चारण एवं भाटों ने पद्य साहित्य की तरह गद्य के लिए भी मात्र सामन्तकालीन प्रवृत्तियों का ही उद्घाटन किया। जैन साहित्य की तुलना में चारण साहित्य के पिछड़ने का यही एक मात्र कारण था कि जहां जैन आचार्यों ने सामान्य जनजीवन के लिए लिखा वहां चारण कवियों ने मात्र अपने आश्रयतदाताओं के लिए ही साहित्य रचना की। दूसरे शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है कि एक ओर जहा जैन लेखको ने अपने धर्म के दृष्टिकोण को विस्तृत भावभूमि प्रदान की वहां चारण कवियो ने परम्पराओं को तोड़ना उचित नहीं समझा। चारण लेखकों द्वारा रचित गद्य साहित्य आकार में जैन गद्य साहित्य से न्यून है किन्तु प्रकार में किसी प्रकार कम नहीं। साहित्य की शैली के विविध रूप उसमें बराबर देखने को मिलते हैं। चारण लेखको द्वारा रचित वात साहित्य में जो कलात्मकता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जैन गद्य साहित्य का विकास अपेक्षाकृत पहले हुआ था, अतः उस पर अपभ्रंश का प्रभाव चारण साहित्य की तुलना में अधिक है। चारण गद्य साहित्य मे प्रारम्भ से ही देशज शब्दों का प्रयोग मिलता है। कृतित्व की दृष्टि से चारण लेखको ने अनेक ऐतिहासिक एवं कलात्मक कृतियो की रचना की है जो ख्यात, वात, पीढियावली, हाल हगीगत, विगत, पट्टे-परवाने, अरजदास्त, वचनिका आदि गद्य विधाओं के रूप मे मिलता है। डा. मानावत ने वंशावली और दफ्तर वही गद्य पद्धतियों को जैन परम्परा के अन्तर्गत माना है;[1] जबकि चारण लेखक भी अपने आश्रयदाताओ की वंशावलियो का उल्लेख अनेक दफ्तर बहियो में करते थे। यह परम्परा चारण तथा जैन आचार्यों में बराबर ही प्रचलित रही है। चारण कवियो द्वारा लिखित दफ्तर बहियो का साहित्यिक महत्त्व तो है ही, साथ ही ऐतिहासिक महत्त्व भी है। इन दफ्तर बहियो में ऐतिहासिक क्रम से राजपूतों के वंश-परम्पराओं, राजकीय समारोहों एवं दैनिक व्यवहार का इतना सुन्दर लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है कि उनमे अनेक ऐतिहासिक भ्रांतियों का निवारण सम्भव हो सकता है। डा. मानावत ने इन विशिष्ट गद्य रूपों अथवा विधाओं को इसी प्रसंग में शैलियों की संज्ञा दी है, किन्तु मूलतः ये गद्य की शैली न होकर गद्य के ही साहित्यिक रूप हैं। अभिव्यक्ति मूलक विशिष्टताओ की द्योतक अवश्य हैं किन्तु इनके अन्तर्गत लेखको ने प्रसंगानुसार विविध शैलियों का प्रयोग किया है।

प्राचीन राजस्थानी गद्य चाहे वह जैनाचार्यों द्वारा लिखा गया हो अथवा जैनेत्तर लेखकों का, उसमे परम्पराओं का विशेष ध्यान रखा गया है। चारण परम्परा मे लिखित गद्य साहित्य का रूप संवत् 1480 से पहले नही मिलता। परम्परा को देखकर यह अनुमान तो लगाया जा सकता है कि चारणों ने इससे पूर्व

1. डा० नरेन्द्र भानावत, राजस्थानी साहित्यः कुछ प्रवृत्तियां; (विशिष्ट शैलियो का चार्ट), पृ०3।

भी रचनाएं तो की होंगी किन्तु सम्भवतः वे सुरक्षित न रह पायी हों, क्योंकि चारण कवि मात्र रचना ही नहीं करते थे अपितु युद्ध का आह्वान भी करते थे। जैन साहित्य की सुरक्षा का कारण उनके धार्मिक भंडार रहे हैं - चारणों द्वारा रचित गद्य साहित्य मे अनेक कथानक रूढ़ियों एव अलौकिक तत्त्वों के दर्शन भी होते है जिनका प्रयोग अधिकतर वातों मे हुआ है। चारण गद्य परम्परा में चारण शिवदास द्वारा रचित अचलदास खींची री वचनिका सर्वाधिक प्रौढ़तम रचना कृति है, जिसे डा० टैसीटरी ने "दी ग्रेट क्लासिकल माडल" कहकर इसके गद्य के महत्त्व को स्वीकारा है। चारण गद्य साहित्य की भाषा अधिक परिमार्जित है। स्थल-स्थल पर प्रसंगानुसार विविध शैलियों के दर्शन होते हैं जिनमे अलंकारो के साथ-साथ कहावतों का प्रयोग भी मिलता है। कलात्मक गद्य की अपेक्षा ऐतिहासिक गद्य साहित्य में अरबी तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। कलात्मक गद्य के अन्तर्गत चारण लेखकों ने वात, वचनिका, दवावेत, सिलोका आदि गद्य साहित्य लिखा है जिसमें साहित्य की विविध शैलियों के दर्शन होते है। यहा यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि चारण साहित्य के अन्तर्गट भाट, ढोली एवं ढाढ़ी आदि गायक जातियों का भी साहित्य आता है। इस काल मे ब्राह्मण साहित्य का उल्लेख राजस्थानी गद्य में नाम मात्र को ही मिलता है। ब्राह्मण लेखक मूलतः राजस्थानी मे रचना करना अपना अपमान समझते थे; अतः उन्होने इस दिशा मे नही के बराबर प्रयास किया। उन्होने मात्र भागवत एव पुराणो आदि के अनुवाद ही किये।

राजस्थानी गद्य का जितना प्राचीन साहित्य प्रकाश मे आया है, उसके अनुसार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जैन तथा चारण दोनो ही जाति के लेखकों ने इस काल में विपुल मात्रा मे गद्य साहित्य की रचना की। जैन एव चारण साहित्य पर प्रकाश डालने के पश्चात् प्राचीन राजस्थानी गद्य की परम्परा विधाओं पर विचार करना भी आवश्यक है। ये विधाएं मौलिक और अमौलिक दोनों ही रूपों मे मिलती हैं जिनका विषय धार्मिक, ऐतिहासिक एवं कलात्मक रहा है। यहा उनका पृथक्-पृथक् चित्रण किया जा रहा है।

राजस्थानी गद्य की प्राचीन विधागत शैलियां

4. टीका एवं अनुवाद पद्धति :

टीका एवं अनुवाद राजस्थानी गद्य साहित्य का अमौलिक साहित्य है जो टीका एवं अनुवाद के रूप मे हमें मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य से मिला है। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश मे रचित विद्वानों का धार्मिक एवं उपदेशात्मक साहित्य जनसाधारण के लिए जब कठिन हो गया तो उनके शिष्यों ने सामान्य बोलचाल की राजस्थानी भाषा मे अनुवाद एवं व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। विषय को अनुवाद के पश्चात् व्याख्यात्मक पद्धति से स्पष्ट किया जाता था, उसे टीकात्मक पद्धति

एवं जिसका यथातथ्य अनुवाद किया जाता था; वह अनूदित साहित्य के रूप में प्रचलित रहा। प्रत्येक भाषा के साहित्य का परिष्कार प्रारम्भ में अनुवादों के माध्यम से ही उत्पन्न होता है। उपयोगिता की दृष्टि से टीकात्मक पद्धति विशेष रूप से उपयोगी रही क्योंकि जो स्थल धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होते थे, वहाँ उनका अर्थ शाब्दिक दृष्टि से भी स्पष्ट किया जाता था। तथ्य को अधिक स्पष्ट एवं प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न प्रासंगिक कथाओं का भी सहारा लिया जाता था। राजस्थानी अनुवादों की विविध विधागत शैलियां हैं। जैन ग्रन्थों या जैन आचार्यों द्वारा लिखे हुए राजस्थानी अनुवाद और टीकाओं को प्रधानतया 'बालाबोध', 'टब्बा' और 'वार्तिक' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यहां प्रत्येक का पृथक् विवेचन किया जा रहा है। टीकाओं की परम्परा ब्रज भाषा में भी प्रचलित रही है।

5. बालावबोध :

बालावबोध के शाब्दिक अर्थ से ही उसके उपयोग एवं महत्त्व की ध्वनि प्रकट होती है कि उसके द्वारा बालक को किसी विषय का ज्ञान कराया जाय। अभिव्यक्ति की यह इतनी सरल पद्धति है कि छोटे छोटे वाक्यों के बल पर किसी गूढ़ तथ्य का सरलीकरण किया जाता है जिससे सामान्य व्यक्ति भी मूल विषय की सूक्ष्मताओं को समझ सके। बालावबोध पद्धति के अन्तर्गत रचित अधिकांश रचनाएं कथात्मक एवं धार्मिक होती थी। यह वह मार्ग था जिसके माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्तों को जन-साधारण तक पहुंचाया जाता था। इनकी सरल, सरस, सहज एवं बोधगम्य शैली से मन्द बुद्धि भी जैन धर्म के स्तोत्र, चरित्रों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को हृदयंगम कर लेता था। वस्तुतः बालावबोध पद्धति धर्म प्रचार का अच्छा साहित्यिक साधन रहा है। बालावबोध परम्पराओं के अन्तर्गत कुछ टीकाएं जैन गद्यकारों द्वारा लिखित अजैन ग्रन्थों पर भी मिलती है, जैसे–गीता, वेलि क्रिसन रुकमणी री टीका, भक्तमाल एवं राम विषय कृतियों पर टीकाएं आदि। 'व्याकरण सम्बन्धी क्लिष्ट विषय का सरलीकरण भी इसी पद्धति में किया जाता है, अतः व्याकरण सम्बन्धी 'बालावबोध' कृतियां भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। यह परम्परा इतनी प्राचीन है कि अनेक विद्वान राजस्थानी गद्य का विकास भी इसी पद्धति से मानते हैं। इस पद्धति में 'कथा साहित्य' के तत्त्व भी मिलते हैं, क्योंकि अनेक तथ्यों का उद्घाटन स्थल स्थल पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक वार्ता, किवदंतियों एवं बोध कथाओं के माध्यम से भी किया जाता था जिससे तत्कालीन सामाजिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी साकार हो जाती थी। बालावबोध विषयक विपुल गद्य साहित्य को देखकर यह कल्पना की जा सकती है कि जैन अजैन लेखकों द्वारा रचित यह साहित्य अपने समय में विशेष लोकप्रिय रहा है।

आचार्य तरुण प्रभ सूरि, सोम सुन्दर सूरि, मेरु सुन्दर, पार्श्व सुन्दर सूरि, कुल मंगल सूरि तथा अन्य जैनाचार्यों ने भी बालावबोध पद्धति में विपुल साहित्य

लिखा है। आचार्य तरुण प्रभ सूरि द्वारा रचित 'षडावश्यक बालावबोध'[1] राजस्थानी गद्य की प्रौढतम रचना है। बालावबोध परम्परा में लिखित उपदेश माला बालवबोध, शीलोपदेश, पुष्पमाला बालावबोध, नवतत्व बालावबोध विषयक रचनाएं साहित्यिक महत्व रखती हैं। व्याकरण तथा योगशास्त्र से सम्बन्धित बालावबोध विषयक कृतियां भी विशेष उपयोगी हैं। सबसे अधिक बालावबोध ग्रन्थ 'षडावश्यक बालावबोध' शीर्षक के अन्तर्गत लिखे गये हैं। इनमे जैन धर्म से सम्बन्धित छः आवश्यक कर्मों तथा सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इन कृतियों मे भाव प्रकाशक एवं शब्द चयन की अपूर्व शक्ति मिलती है। अपभ्रंश का प्रभाव शब्दों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है, किन्तु प्रवाहगत शिथिलता कहीं नहीं मिलती। तरुण प्रभ सूरि द्वारा रचित षडावश्यक बालावबोध[2] मे जाणिउ। आवइ, आविउ, पूछिउ, कहइ, एवं पाराविउ आदि अनेक अपभ्रंश के शब्द है जो उस समय 'उ' एवं 'इ' प्रत्यय के कारण प्रचलित थे।

'नव तत्व बालावबोध'[3] से उद्धृत अवतरण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इस पद्धति में पहले संस्कृत या प्राकृत आदि भाषा में एक सूत्र दिया जाता था तथा उसका राजस्थानी गद्य में व्याख्यात्मक टिप्पण प्रस्तुत किया जाता था, जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि इन 'बालावबोध' शीर्षक ग्रन्थों मे टीकात्मक गद्य शैली का बराबर प्रयोग किया जाता था। उदाहरणार्थः—

॥ श्री जिनाय नमः। गाथा ॥ जीवायनव दय आवा अवदस जंत जय समलावा। अवरोण वहणंप्त म्हं करता नव करें।

राजस्थानी अर्थ—जीव आदि दइन इन वपदाथी कहा कहीइ जीव 1 अजीव 2 बंध 3 पुण्य 4 पाप 5 आश्रव 6 संवर 7 निर्ज्जरा 8 मोक्ष 9 एवं नव इनउ उपादेश आजीवइ पणि जईन जीवनि काय छइ। आत्मासमाना लखवी नइ। उपादश दीजइ काहिं जीव उपरि। शग अनइ देषन उपादसीइ। तह उपादसाइति उपादश कही इ'तिह प्रवचन कही। इतिह सिद्धान्त कही इति सूत्र कहाइ। तेर समसि कही। इति ह्यान कही। इतिह अर्थ कही। इतिह नवकार कही।

'नव तत्व बालावबोध' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक बालावबोध मिलते हैं जिनकी रचना 18वी शताब्दी तक होती रही है। प्रारम्भ की रचनाओं में अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है। कही-कही गुजराती की परम्परानुसार क्रिया शब्द 'है' के लिए 'छइ' का प्रयोग किया गया है। जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, जैन धर्म के अतिरिक्त टीकात्मक पद्धति में अन्य स्वतन्त्र टीकाएं भी मिलती हैं जिनमें प्राकृत आदि के अनुवाद भी मिलते हैं। उदा.

---

1. हस्तलिखित प्रति-अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित।
2. वही।
3. राज. प्राच्य शोध संस्थान, जोधपुर की ह. लि. प्रति रचना काल 17वी शताब्दी।

॥ श्री ॥ परमात्मने नमः ॥ श्री भगवद्गीता पां प्रकृत भाषा वेलि रूपक लिख्यते ॥ श्री परम गुरु दे न्म ॥ पद पंकज प्रणाम करिसि । परमेश्वर सदगुणवां मि प्रणाम सदीव गु प्रसन वचन प्रकासि सरसती । सिव तत ग्यान जगाविसि जीव ॥1॥ तत वचन प्रकासि किसन कथ ततमत । विघ विवेक सुधि ब्रह्म विलास । सबद ग्ररथ सुधि सार प्रसंसा । वदु सुमति सहवाद सुवास ॥2॥ किसु कहि सकु ग्यान अनंत कथा ग्रलप बुद्धि मुम ग्यान अपारा गुरु परताप कहि से तो कीरतन वित विसि भगति वसु चेतन पारा ॥ 3 ॥

प्राकृत भाषा के शब्दों के साथ संस्कृत भाषा के अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन साहित्यकार 17वीं शताब्दी तक अपने राजस्थानी गद्य मे प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रयोग मात्र विद्वता सिद्ध करने के लिए ही करते थे। सबसे अधिक टीकाएं 'वेलि कृष्ण रुकमणि री' तथा 'गीता' पर मिलती हैं। यहां 'वेलि' की ढूंढ़ाड़ी (पूर्वी राजस्थानी) टीका सं. 1673 में लिखित, का उद्धरण प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें छोटे-छोटे वाक्यों से सफल अभिव्यक्ति की गयी है।

॥ दोहला 2 ॥ कवि कहै छै। जि गुणं उपायो । जे परमेश्वर सुगुणां की निधि छै। जाके गुण को पार कोई न पावे। मैं निगुण थको तै को गुण कहिवा को आरम्भ कीयो। ता को दृष्टांती जैसे काठ की पूतली कों कारीगर करे। फेरि कारीगर को पूतली चित्रण चाहे। तैमे परमेश्वर कर्त्तम कर्त्ता इह आपणी लघुता करे छै।

राजस्थानी गद्य में भागवत दसम स्कंध भासा, महाभारत भासा, गरूड़ पुराण भासा आदि अनेक टीकाएं मिलती हैं जिनका विषय मांगलिक पर्व से सम्बन्धित भी हो सकता है। उदाहरणार्थ—'शीघ्र बोध टीका' के गद्य पर विचार किया जा सकता है। गणेश वन्दना के पश्चात् संस्कृत का श्लोक दिया गया है तथा उसकी टीका को इन शब्दों मे व्यक्त किया गया है—

"शीघ्र कहतां उतावलि बोध कहतां बुद्धि-बुद्धि कहतां ज्ञान संग्रहंता पाठिवो या पढया सुं उतावलो ज्ञान होय ताते शीघ्र बोध कह हैं।"

विवाह मंगल के सन्दर्भ में इसी टीका में आगे लिखा है—"रोहीणी उत्तराफाल्गुनी उत्तराषाढ उत्तरा भाद्र पद रेवती मूल स्वति मृगसिर मघा अनुराधा हस्त एताण का दश नक्षत्र विवाहिक है मंगलिक कहियें और नक्षत्र इ सोमधि मद इनको तू किर्करिक श्रोर नक्षत्र म विवाह नाही कीजे नक्षत्रां त सारो करिये नांही।"

उपर्युक्त अवतरण में लेखक ने वैवाहिक लग्न का उल्लेख किया है जिसमें लक्ष्य की स्पष्टता का गुण है। भाषा का रूप अपभ्रंश की परम्परा को छोड़कर शुद्ध राजस्थानी की ओर बढ रहा प्रतीत होता है किन्तु फिर भी संस्कृत के शब्दों का प्रयोग किया गया है। मांगलिक पर्वों के अतिरिक्त व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विविध विषयों से सम्बन्धित अनेक टीकाएं एवं अनुवाद राजस्थानी गद्य मे मिलते हैं। इन टीकाओं मे स्थान एवं काल की दृष्टि से रूपगत अन्तर अवश्य है

किन्तु यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि इस परम्परा में राजस्थानी गद्य का विकास अबाध रूप से हुआ है। कुछ टीकाओं के राजस्थानी गद्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव प्रकट होता है जो 19वीं शताब्दी तक चलता रहा किन्तु अभिव्यक्ति मूलक सरलता सर्वत्र विद्यमान है। टीकात्मक पद्धति केअन्तर्गत 'टब्बा' शैली पर भी विचार कि या जाना आवश्यक है। यहां, यह भी कहा जा सकता है कि बालावबोध पद्धति 'टब्बे' से कुछ विस्तृत विवेचन का ही नाम है, जिसे कुछ विद्वान 'सूद' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

6. टब्बा :

टीका पद्धति के अन्तर्गत बालावबोध की तरह टब्बा पद्धति भी राजस्थानी गद्य में 14 वी शताब्दी से प्रचलित है। बालावबोध की तुलना में टब्बा का स्वरूप बहुत लघु होता है। बालावबोध में मूल गाथा का पद लिखकर उसका विस्तृत विवेचन शब्दार्थ सहित दिया जाता है जबकि इसमें मूल शब्द का अर्थ राजस्थानी गद्य में ऊपर, नीचे अथवा पार्श्व में लिख दिया जाता है। राजस्थानी के अनेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में इसका रूप मिलता है, मुख्यतया संस्कृत के ग्रन्थो की टीकाओ के रूप में। भागवत गीता, वेलि की टीका आदि में टब्बा शैली का प्रयोग मूल पाठ के चारों ओर हासियों आदि मे आंशिक विस्तार के साथ भी किया जाता था। श्री अगर चन्द जी नाहटा ने इसे त्रिपाठ एवं पंचपाठ की संज्ञा दी है। बालावबोध पद्धति में जहां व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग किया जाता है तथा प्रासंगिक कथाओ के माध्यम से कथन को अधिक सरल, स्पष्ट एवं सहज बनाया जाता है वहां टब्बा में ऐसा नही होता। टब्बा पद्धति मे संक्षिप्तिकरण की प्रक्रिया की झलक मिलती है किन्तु सरलता एवं सुबोधता का बराबर ध्यान रखा जाता है उदाहरण के लिए वेलि कृष्ण रुकमणि री टीका जिसमे टब्बा पद्धति का प्रयोग किया गया है, प्रस्तुत किया जा सकता है।

सं.	आरभमइ कीयउ जेणि उपायउ	गावण गुण निधि हुं निगुण
टीका (राज)	हिव प्रकवि आपाणअ अभिप्राय कहइ जिणि हुं उपाय उत्तम गाइ वामेह मोय सो रूप गुणकहिवातणि मइ प्रारम्भ कीधउ छइ।	परस्ते केहवउ उबइ छइ सरयर उत्तम गुण सहित छइ हुं ज्ञानादिक गुण प्रकारी रहित छंउ।
सं.	कीरी कठ चित्र पुतली	सं. निअकरी चित्रार इ लागी चित्रण
टीका	इहां दुष्टान्त कहइ चित्राम कीधी पूतली। किरि निश्चइ काठउ परित आपणइ करि हाथ करी।[1]	चितेरा कहतांई चित्रण लागी तिउ जिणि उपाय प्रात गावता असम्भव।

1. ह. लि. प्रति, लिपिकर्त्ता–बालचन्द्र सं. 1637 (रा. शो. सं. चोपासनी)

संस्कृत के अनेक मूल ग्रन्थों की टीकाएं राजस्थानी गद्य में प्राप्त होती हैं किन्तु उनका सांगोपांग अर्थ राजस्थानी गद्य में नहीं दिया जाता अपितु संकेतात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा प्रसंग को स्पष्ट किया जाता है। वाक्यों का संगठन भी उचित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार टब्बा पद्धति के अन्तर्गत राजस्थानी शोध संस्थान चोपासनी में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र'[1] संस्कृत के मूल का राजस्थानी टब्बा पद्धति में भावार्थ प्रस्तुत किया गया है, महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ मे जैन धर्म का स्तुति पाठ किया गया है। संवेग देव द्वारा रचित चोशरण टब्बा, सोम विमल सूरि द्वारा कल्पसूत्र टब्बा, भागवत दसम स्कंध मासो तथा गरूड़ पुराण आदि अनेक प्रमुख टब्बाएं राजस्थानी गद्य में मिलती हैं किन्तु इनकी संख्या बालावबोध ग्रन्थों से कम है। टीका पद्धति के अन्तर्गत प्रचलित वर्तिक नामक गद्य परम्परा का कुछ विद्वानों ने उल्लेख किया है किन्तु ऐसी रचनाएं राजस्थानी गद्य में बहुत कम मिलती हैं तथा उनका कोई पृथक् महत्त्व भी नहीं है। राजस्थानी गद्य साहित्य में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश से राजस्थानी गद्य में अनुवाद की परम्परा भी टीका पद्धति के साथ साथ ही चलती आ रही है। अनेक विदेशी भाषाओं से अनूदित ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। श्री अगरचन्द जी नाहटा के अनुसार, राजस्थानी भाषा में अनुवाद की परम्परा 14वीं शताब्दी से प्रारम्भ हो जाती है। उस समय की नवकार व्याख्यान, सर्वतीर्थ नमस्कार एवं अतिचार आदि रचनाएं भावानुवाद के रूप में हैं।"[2] 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक राजस्थान और गुजरात की भाषा एक ही थी और पीछे की भाषा में भी अधिक अन्तर नहीं है। जैन विद्वान धर्म प्रचार के लिए बराबर दोनों ही प्रान्तों में विचरण करते थे, अतः पारस्परिक आदान-प्रदान से दोनों भाषाओं का धार्मिक गद्य-साहित्य एक दूसरे से काफी निकट है। राजस्थानी में गुजराती का प्रभाव व मिश्रण पाया जाना स्वाभाविक ही है। अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में राजस्थानी अनुवाद के अनेक ग्रन्थ टब्बा, बालावबोध एवं वर्तिक के रूप में विद्यमान हैं जो जैन धर्म, प्रकरण, नीति, चरित्र, व्याकरण राजनीति, वैद्यक, ज्योतिष से सम्बन्धित हैं। 'नक्षत्र जल विधि, नाड़ी परीक्षा, व्याकरण टीका एवं दिनमान गणक विधि' शीर्षक टीकाएं हस्त लिखित रूप में सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध होती हैं, जिनमें राजस्थानी गद्य के दर्शन होते हैं। अंत में यही कहना पर्याप्त होगा कि राजस्थानी गद्य का अनुवाद एवं टीकाओं की परम्परा प्रधानतया बालावबोध एवं टब्बा पद्धतियों में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। टब्बा पद्धति में सर्वाधिक रचना पार्श्वचन्द्र सूरि ने की है, जिनमें दंडक टब्बा, क्षेत्र समास टब्बा, उपदेश माला टब्बा आदि प्रमुख हैं। अनुवाद पद्धति के अन्तर्गत राजस्थानी गद्य में 15वीं शताब्दी का 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' या वाग्विलास वर्णनात्मक तुकान्त गद्य का सुन्दर उदाहरण है।

---

1. लि. क. केशवनरसिंह, लि. का. सं. 1662।
2. श्री अगरचन्द नाहटा, परम्परा भाग 9, 10, पृ. 17।

7. बात साहित्य :

विश्व के प्रत्येक साहित्य मे कथा साहित्य का सर्वाधिक महत्त्व है तथा इसका विकास भी अपेक्षाकृत सबसे पहले हुआ है। सामान्य पाठक से लेकर विशिष्ट पाठक तक के लिए कथा साहित्य की उपयोगिता बनी ही रहती है। जीवन की अनुभूतियों एवं यथार्थता का जितना सूक्ष्म विश्लेषण कथा साहित्य मे सम्भव है, अन्यत्र नहीं। राजस्थानी में कहानी को बात के नाम से पुकारने की परम्परा है। राजस्थानी का बात साहित्य परिमाण, गहराई तथा प्रेषणीयता की दृष्टि से समृद्ध है जो मध्यकालीन राजस्थानी समाज का चित्रण प्रस्तुत करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी बात का साहित्य राजस्थान की थाती है। आदिकालीन राजस्थानी गद्य साहित्य मे उपन्यास के दर्शन तो नहीं होते किन्तु श्रुतिनिष्ठ परम्परा मे ऐसी अनेक विशाल बातें हैं जिनमें औपन्यासिक तत्त्व की झलक मिलती है। इन बातो मे राजस्थान की संस्कृति का सजग चित्रण हुआ है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य मे कथा का स्वरूप काव्य रूप मे उपलब्ध होता है जो अपभ्रंश के माध्यम से राजस्थानी बातो में प्रयुक्त हुआ है। कथा साहित्य का यह विकसित रूप लोक गाथाओं के द्वारा भी प्रभावित हुआ है। स्वतन्त्र गद्य साहित्य के रूप में राजस्थानी भाषा मे प्रथम इतिहास, बात, प्रसंग एवं दास्तान रूप मे गद्य साहित्य उपलब्ध होता है। बात और दास्तान कथा साहित्य से सम्बद्ध हैं तथा ख्यात और प्रसंग इतिहास से सम्बन्धित है राजस्थानी मे बात साहित्य की परम्परा 13वी शताब्दी से ही प्रारंभ हो चुकी थी किन्तु सर्वाधिक साहित्य की रचना सोलहवी शताब्दी में हुई। इस संदर्भ मे डा० सहल की मान्यता है कि "मेरा विश्वास है कि वैदिक युग की आख्यान परम्परा भारत के सभी राज्यों की अपेक्षा राजस्थान मे सर्वाधिक सुरक्षित रही हैं और वह आज भी अक्षुण्ण है। शौर्य, देश–भक्ति, धर्म-रक्षा, दान-शीलता आदि के असंख्य गद्य पद्यात्मक आख्यान राजस्थान मे प्रचलित है।"[1]

राजस्थानी गद्य प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं अपितु अपनी रूपगत एव शैलीगत विशिष्टताओं के कारण भी सम्पूर्ण भारतीय गद्य साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाए हुए है। उसका साहित्य चाहे राज घरानों से सम्बन्धित हो किन्तु भाषा एवं संस्कृति की दृष्टि से वह राजस्थान प्रदेश का सजीव चित्रण करता है। इस सन्दर्भ मे डा० मेनारिया का मत है कि "राजस्थानी पद्य साहित्य जिस प्रकार अपनी ओजस्विता, चित्रात्मकता और सजीवता के लिए प्रसिद्ध है उसी प्रकार उसका गद्य साहित्य अपनी स्पष्ट भाव व्यंजना, यथा तथ्य चित्रण क्षमता और एक विशेष प्रकार की सानुप्रासिक झंकारमयी शैली के लिए विश्रुत है।"[2] राजस्थानी भाषा का बात साहित्य जीवन की अनेक भूमियों को पावर करता हुआ वर्तमान रूप मे आया है। वैदिक, उपनिषद् एवं पौराणिक काल की अनेक परम्पराओं तथा उनके मूल से कथा-

1. डा० कन्हैयालाल सहल, 'गिर ऊंचा ऊंचा गढा' की भूमिका।
2. राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियां।

नकों को लेकर अन्य भाषाओं की तरह राजस्थानी में वातों की रचना हुई तथा महाभारत एवं रामायण काल की अनेक कहानियों को राजस्थानी गद्य साहित्य ने नवीनता दी है। कालान्तर में राजनीतिक परिवर्तन, धार्मिक मान्यताओं आदि का राजस्थान के साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। विदेशी जातियों के सम्पर्क से भाषा मे नये विदेशी शब्दो का प्रचलन हुआ एवं विषय-वस्तु की दृष्टि से नये नए परिवर्तन हुए।

मनोरंजन करना इन बातों का प्रधान गुण है, जिसके लिए बात का कहना तथा सुनना आवश्यक है, अतः कथन, चित्रण, वर्णन, शैली, भाषा और मनोवैज्ञानिक दृष्टि ये हिन्दी की आधुनिक कहानियों से पूर्णतया भिन्न हैं। आज का कहानीकार कहानी लिखता है, कहता नहीं। लिखने और कहने मे भाषा, शैली और भावों का जो अन्तर हो सकता है, वही इनमे भी है। लिखने में लेखक एक-एक वाक्य को नापतोल कर एवं साज संवार कर अभिव्यक्ति देता है किन्तु कहानी को कहने में ऐसा सम्भव नही हो सकता। संक्षिप्तता एवं परिमार्जन कहानी का आवश्यक गुण है किन्तु राजस्थानी वातों मे इसका अभाव ही है क्योंकि कहने पर मार्मिक स्थलों के चित्रण में अनावश्यक विस्तार स्वतः उत्पन्न हो जाता है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से यह स्वीकार किया जा सकता है कि "राजस्थानी बातों में राजपूत समाज का चित्रण विशेष रूप से हुआ है। उसका स्पष्ट कारण है कि राजपूत शासक जाति रही है। अनेक राज्यों के उत्थान पतन की कहानी राजपूतों के साथ जुड़ी हैं।"[1] वस्तुतः राजस्थानी का अधिकांश साहित्य एकांगी जातीय साहित्य है जिसमें वंश-गौरव, नारी सम्मान, अलौकिक तत्त्व एवं आश्रयदाताओं का प्रशस्ती गान किया गया है। आकार प्रकार की दृष्टि से राजस्थानी गद्य में विविध प्रकार की वातें मिलती हैं। स्थूल रूप से 17वीं शताब्दी से पूर्व का वात साहित्य मौखिक परम्परा के रूप मे मिलता है। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने राजस्थानी ख्यातों एवं बातो की परम्परा को नवीं शताब्दी से माना है जो गीतो आदि के रूप में प्रचलित थी। उनकी अनेक वातें चरणों से सम्बन्धित हैं। चरणो और राजपूतो का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का रहा है। उन्होंने समय के साथ बदलती हुई परिस्थितियों में राजपूती समाज का साहित्य में वर्णन किया है। ये बातें ऐतिहासिक, धार्मिक एवं आंशिक रूप से सामाजिक भी हैं। ऐतिहासिक बातो में तथ्यो को तोड़ा-मरोडा गया है तथा कहीं-कही बातो में ऐतिहासिक पुट देने के लिए स्थान, नामकरण एवं काल को संदिग्ध एवं असंबद्ध चित्रित किया गया है। मूल कथाओ के अन्तर्गत अनेक अन्तर्कथाएं, काव्य-रूढ़ियां एवं अतिमानवीय तत्वों का प्रयोग किया गया है। घटनात्मक बातों मे घटनाएं एक शृंखला की तरह चलती रहती हैं। मूल कथानक से अनेक उपकथानक जुड़ते चले जाते हैं जिससे बातें

1. डा० मनोहर शर्मा, मरुभारती, अप्रेल, 1966, पृ० 48।

उपन्यास की सी झलक देती हैं। कही कहीं बातों में गद्य के साथ साथ चमत्कार उत्पन्न करने के लिए पद्य का भी प्रयोग किया गया है।

मौखिक एवं लिखित दोनों परम्पराओं को मिलाकर राजस्थानी गद्य मे इतना बात साहित्य है कि उसके साथ अन्य भाषाओं के कथा साहित्य की तुलना नहीं की जा सकती। जैसा कि प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि राजस्थानी बातो का क्षेत्र कहने और सुनने तक सीमित था। अतः श्रोता पर प्रभाव डालने के लिए उनमे अभिव्यक्ति की एक ऐसी सजग अलौकिकता डाल दी जाती थी कि कहने और और सुनने वाले मध्य एक कृति और पाठक का निकट का सा सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। श्रोता के मन में एक सफल कथानक का सा चित्र अंकित हो जाता था। राजस्थानी गद्य में ही बात के लिए कहीं कहीं 'वारता' शब्द का प्रयोग किया गया है। डा. नरेन्द्र भानावत ने 'बात' को संस्कृत के 'वार्ता' शब्द से ही उत्पन्न माना है।[1] मूलतः बात और वार्ता एक ही कथात्मक साहित्य के द्योतक हैं। शेखावाटी आंचल मे आज भी घुमक्कड़ जातियां अपने वाद्य-यन्त्रों के साथ अनेक लोक वार्ताएं प्रस्तुत करते हैं जिनमें गद्य के साथ-साथ पद्य का भी प्रयोग होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे बात के लिए वार्त्ता शब्द ही प्रचलित था तथा 'बात' शब्द उसी का विकृत रूप है। इन वार्ताओं में वर्णन प्रधानता एवं भाव वैविध्य रहता था। अधिकांश वार्त्ताएं गद्य-पद्य मिश्रित होती थी। रचना-शिल्प, कथानक, वर्णन क्रम एवं प्रवाह की दृष्टि से राजस्थानी साहित्य में 'रतना हमीर की वार्त्ता', फूलती फूलमती की वार्त्ता, पन्ना वीरभदे की वार्त्ता, जलाल महाणी री वार्त्ता, कुतुबद्दीन-शाहजादे की वार्त्ता और राहब-साहब की वार्त्ता विशेष प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हैं। राजस्थानी साहित्य में वार्त्ताओं की परम्परा 20वी शताब्दी तक प्रचलित रही है। यहां तक कहानी के लिए बात और वार्त्ता दोनों शब्द प्रचलित थे किन्तु कालान्तर मे केवल 'बात' शब्द ही प्रचलित रहा। जहां तक भाषा-शैली का प्रश्न है, 20वी शताब्दी के पूर्व और बाद की बातों मे विशेष अन्तर है। आज की बातों मे भाषा-शैली सामान्य जन-जीवन के अधिक निकट है तथा कथानक की दृष्टि से भी यही अन्तर स्पष्ट प्रकट होता है। आधुनिक राजस्थानी बात साहित्य लौकिक अधिक है और जातीय कम। आज का कहानीकार अपने उद्देश्य को सफल दिशा-दर्शन करता है। उसके सामने समाज और युग है जबकि प्राचीन राजस्थानी साहित्यकार के सामने व्यक्ति एवं सीमाएं थी। कथानक के आधार पर प्राचीन राजस्थानी कहानीकार के साहित्य से उस युग का सम्पूर्ण ऐतिहासिक एवं सामाजिक चित्र तैयार किया जा सकता है। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियां, राजपुरुषों की व्यक्तिवादी मनोवृत्तियां राजकलह एवं अन्तर्कलह, षड़यन्त्र, सामाजिक अन्याय, शोषण, राजकीय नियम-उपनियम, अन्धविश्वास, सौतिया डाह, सती प्रथा, वीरों का उत्साह आदि अनेक

1. डा. नरेन्द्र भानावत, राजस्थानी साहित्य; कुछ प्रवृत्तियां, पृ. 20।

विषय हैं जिन पर सम्पूर्ण बात साहित्य टिका हुआ है । साहित्यकार ने कहीं यथार्थ को छोड़ा है तो कही आदर्श को अस्वीकारा है । कहने का अभिप्राय यह है कि राजस्थानी बातो मे देश-काल की व्यापक पृष्ठभूमि उद्घाटित हुई है । यहाँ हमारा उद्देश्य बात साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अथवा उसके लोकशास्त्रीय पक्ष का उद्घाटन करना नहीं; अपितु साहित्यिक दृष्टि से शैलीगत मूल्यांकन करना मात्र है।

राजस्थानी का अधिकांश बात साहित्य आज भी मौखिक परम्परा मे प्रचलित है । कुछ बातें जो अपना साहित्यिक महत्त्व रखती हैं, लिपिबद्ध अवस्था में अनेक धार्मिक भण्डारों एवं साहित्यिक संस्थाओं मे पड़ी हैं जिनमे से कुछ प्रकाशित भी हुई हैं । इस सम्बन्ध मे पहले ही कहा जा चुका है कि राजस्थानी बात अथवा वार्ताओं मे गद्य के साथ-साथ पद्य का भी प्रयोग किया गया है । प्रारम्भ मे यह परम्परा अधिक प्रचलित थी किन्तु धीरे-धीरे समाप्त होती गई । तवारीख के अन्तर्गत भी वार्ता की पद्धति प्रचलित थी । दोहों का प्रयोग तो विशेष होता ही था किन्तु कहीं कही दोहा चौपाई की पद्यात्मक पद्धति भी प्रचलित थी । उदाहरण के लिए 'तवारीख वार्ता जलाल बुबनारी[1] को लिया जा सकता है ।

'मोटो नगर लोक सुखि वरी ।
चावो सुवर कूल चीउ दीसै ।।
आठ सहंस हय वरसत सु भीलै ।
पाच सहंस पाय कदल मीलै ।।
वार्ता।।–इण भांत रो जलाल छै ।
पुन: दोहा चोपाई का प्रयोग ।'

वार्ता–दोहा सुणने पठांण जलाल महुणी रो सोभाग पूछै ।।

पातसाह भवरक हुयो ।। जलाल पूरो छैन छै । बुबना पूरी छैल छै । तिण सुं बुबना जलाल नै दयो । नै मुमनां आधी छेन छै तिकाम पातसाह""""तीण रै तीन से साठ महिल भाणै छै । पिण सगो मोटो छै । इतरोम चकुर करी ती कै दरबार मे । मुदायत ■ । वले का जी मूमां साथ देने हाथी घोड़ा ।। दो बड़ा मेर दे बीदा किया ।

दोहा—

वारता—'इसी बात करी बूबना आपरै महल गई । सांवण रे मास आयौ। तीजरो दिन तद नेत्र बारी ने कह्यो ।। आज जलाल साहिब ने कहवाई आज वेगा पधार जो । म्हिलण नु आवु छु ।। आप महल कनै नेड़ा बाग छै । तठे बीराज ज्यो। इतरो कहीया छी आई । बुबनाने कह्यो घणो राजी हुवो ।। सिणगार करणै मंडियो ।। अबै जलाल पोसाख बणाइ । अमल पांणी करी दोय तीन घडी दिन थकां एकलो ही ज चालीयो ।।'

---

1. तवारीख वार्ता जलाल बुबनारी–ह. लि प्रति, राज. पुरातत्व विभाग, बीकानेर लेखक व काल अज्ञात ।

कथानक की दृष्टि से प्रस्तुत वारता महत्त्वपूर्ण है। दोहों मे काव्यत्व प्रदर्शित किया गया है। वाक्य छोटे छोटे हैं। शैली में कथात्मक प्रवाह है जो दोहा-चौपाई की पद्धति से जुड़ता चढ़ता चला गया है। भाषा में न अलकारों का प्रयोग किया गया है और न विशिष्ट चमत्कार ही। कही कही रचना सम्बन्धी अशुद्धियां अवश्य हैं। उदाहरणार्थ—'खाना खाया रंग के प्याला पीवते हैं।' आदि। स्थल-स्थल पर परसियन भाषा के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। जैसे—फजर की बखत, खुस बखत, सिर पाव, हजरत, पातसाह, सलामत आदि। को' के स्थान पर 'कु' का प्रयोग विदेशी प्रभाव के कारण ही हुआ है। जैसे 'जलाल को' के लिए—'जलाल कु'। भाषा शैली में कहीं-कही असलिस दोष भी आया है। उदाहरणार्थ 'हरामजादी लुडी'। राजस्थानी बात साहित्य मे 'जलाल बूबना' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक बातें मिलती हैं जिनमें आंशिक रूप से कथानक सम्बन्धी परिवर्तन भी मिलता है।

गद्य-पद्य परम्परा में रचित 'सिंहासन बत्तीसी' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक वारताएं मिलती हैं जिनमे भाषा सामयिकता सम्बन्धी अन्तर है। श्री हीर कलश द्वारा रचित 'सिंहासन बत्तीसी'[1] यह रचना भी गद्य पद्यात्मक है जिसमे स्थल-स्थल पर दोहों का प्रयोग किया गया है।

"इहांसा जाए च्यार पहर रात्र लीयो उठही रह्यो।

प्रभात हुई तब दोनु स क्षात पगे लाग। अब इन्द्र प्रसंसा री बात कही देवता कह्यों मांग म्हें तुठा राजा कह्यो म्हारे सर्व थोक छैं देवता बोलीया देव दर्शन निफल न जाइ। तरे देवताइ काम धेन दीधी। कामधेनु ले आवतां एक ब्राह्मण रे पुत्र जायो। उणता घर माहे लावण नु वयू ही नही बालक दूध बिना रावें। ब्राह्मणी रे हाथ धन नहीं।"

यह कथा अनेक भागों मे लिखी गयी है। स्थल-स्थल पर संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया गया है। शैली में कथ्यात्मक प्रवाह है। वाक्यों में विराम चिह्न का ध्यान नहीं रखा गया है।

सिंहासन बत्तीसी[2] की भांति राजस्थानी बात साहित्य मे 'बेताल पचीसी' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक कथाएं प्रचलित है जिनमे गद्य के साथ साथ पद्य का भी प्रयोग हुआ है। इन कथाओं का शीघ्र ही प्रकाशन राजस्थान प्राच्य शोध संस्थान, जोधपुर के निदेशन मे होने जा रहा है। पद्य-गद्य शैली में रचित 'हाला झाला री बात'[3] भी कथात्मक दृष्टि से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। छप्पय एवं कुंडलियों के द्वारा कथा को बल दिया गया है। उदाहरणार्थ—

"हाडो सुरजमलजी द्वारका परसण गया। पाछा फिरतां नरै नगर जांभ जसराज मनवार कीवी खणा जतन जावता कीया पछै सुरजमलजी बुंदी आया रावजी

1. हीर कलश, ह. लि. प्रति 'सिंहासन बतीस, रचना संवत् 1788 फलोदी में।
2. ह. लि. राजस्थान प्राच्य शोध सस्थान, जोधपुर।
3. ह. लि. राजस्थान पुरातत्त्व विभाग बीकानेर।

विषय हैं जिन पर सम्पूर्ण बात साहित्य टिका हुआ है । साहित्यका
को छोड़ा है तो कहीं आदर्श को अस्वीकारा है । कहने का अभिप्रा
स्थानी बातों मे देश-काल की व्यापक पृष्ठभूमि उद्‌घाटित हुई
उद्देश्य बात साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अथवा उसके लो
उद्‌घाटन करना नहीं; अपितु साहित्यिक दृष्टि से शैलीगत मूल्य

राजस्थानी का अधिकांश बात साहित्य आज भी मौखि
है । कुछ बाते जो अपना साहित्यिक महत्त्व रखती हैं, लिपि
धार्मिक भण्डारों एवं साहित्यिक संस्थानो मे पड़ी हैं जिनमें
हैं । इस सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि राजस्था
मे गद्य के साथ-साथ पद्य का भी प्रयोग किया गया है ।
अधिक प्रचलित थी किन्तु धीरे-धीरे समाप्त होती गई ।
वार्ता की पद्धति प्रचलित थी । दोहों का प्रयोग तो वि
कही दोहा चौपाई की पद्यात्मक पद्धति भी प्रचलित थी
वार्ता जलाल बुबनारी[1] को लिया जा सकता है ।

आनुप्रासिक शब्दावली के साथ साथ 'आमो-सामो' आदि समासिक शब्दों का भी उपयोग मिलता है। पनघट वर्णन का सजीव चित्रण किया गया है। वर्णन शैली मे ठेठ राजस्थानी के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

राजस्थानी वातो में शैली के विविध रूप मिलते हैं। कहीं कहीं वातों की शैली मनोरंजकता के लिए अद्वितीय है। मनोरंजकता के साथ साथ प्रसाद गुण के भी दर्शन होते हैं।

8. वर्णनात्मक शैली (प्रसाद गुण से सम्पन्न) :

"मालवो देश माहें धारा नगरी। तठै पंवार उदियादित राज करे। नै तिणरे राणियां दो, तिण माहें पटराणी वाघेली। तिणरै कंवर रिणधवल हुवो। दूजी राणी सोलंखिणी। तिका दुहाकण। तिणका कवर को नाँव जगदेव दीधो। सांवलै रंग, पिण ज्योति धारी नै रिण धवल राजरो धणी। यों करता वरस 12 मोहे जगदेव हुवो। तदै राजा कह्यो संसार माहे बेटा समान कोई वस्त नही।"[1]

9. दृश्य चित्रित करने वाली मनोरंजक वर्णन शैली :

"रात घड़ी एक दो गई। तद्दं डंको सुणियो। तरै योगेसर जाणियो कोई सिरदार आवै छः तिसै हाथी री वीर घंट सुणी, तुररी सहनाई सुणी, घोड़ा की कलहल सुणी। घराकां सौ-एक मूंढा आगै हुवा चंवर ढुलता हाथी माथै बैठो सिरदार दीठो। तिसैं केइक असवार महिला आया। तिसै फरास आय मैलां आगे चोक माहे जाजम दुलीचा विछाया, गिलमा बिछई, तकिया लगाया। तिसै तेजसी जी गादी तकियां आप बैठा। जोगेनर तमासा देखे छै।[2]

सरल से सरल भाषा में उत्तम से उत्तम, स्वाभाविक एवं लोच भरे भावो की सफल अभिव्यक्ति राजस्थानी बातों में सम्भव हुई है। कहानी की गति मे सजीवता एवं स्फूर्ति है। शैली में प्रत्येक शब्द का मूल्य है।

10. सहज एवं सुबोध शैली :

"तद गाडा छोडेने पाबूजी रे महल आया। कह्यो पाबूजी कठे ? ताहरां धाय कही जू पाबूजी सिकार गया छे। तद अं पण वांसे सिकार गया। आगे पाबूजी हिरणा नूं तीर सांधियो छै। साढ बैठी छै। इतरै भोरिया पूछियो। कही रै छोकरा, पाबूजी कठै छै ? तद पाबू जी बोलिया। कहीं-पाबूजी आप सिकार खेलण नूं पधारिया छे।"[3]

साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से राजस्थानी मे अनेक बातें है जिनमें शैली के विभिन्न रूप मिलते हैं। राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग 3, के अन्तर्गत पांच राजस्थानी प्रेम वार्ताओं का सकलन प्रकाशित हुआ है जिसमें बात बगसी राम

---

1. सं. सूर्यकरण पारीक, राजस्थानी वातां, जगदेव पंवार री वात, पृ. 1।
2. वही, पाबूजी री वात, पृ. 179।
3. सं. सूर्यकरण पारीक, पाबूजी री वात, पृ. 179।

नारायणदास जी नें कयो राजा के वाहरो ब्याव नवें नगर-जाय जसराज सूं करमां रावजी वरजिया पण कयो मानियो नहीं जब हाथी घोड़ा जवाहर दे भला मिनख मे लिया नें सगाई करी सुध न परो ब्याव कियो जां परें नें सुरजमल जी रे बडा हेत जान चार महना रावण रो मन हुतो जितें सावण री तीज रो दिन जां परे ने हाडी जी रें एकण सेर ने गोली वावण ने गया जठै आपस में बोला चाली होय गइ जांभ वे राजी होय चढ गयो पछें दिन वीसां पछें हाडी जी हजार होय घोड़ा से नवें नगर रा गांव लूटीया जद गांव ग्रोर करण लागो जरां सगलां मरजी दाना अरज करी अब मो मोटे टिकाणे ब्याव कियो हमें लड़ता आछा नहीं लागो।"

रचना के अन्त मे लेखक का नाम दिया है किन्तु रचना काल नही दिया। भाषा शैली से रचना प्राचीन प्रतीत नही होती। वाक्य संगठन ठीक है किन्तु विराम चिन्हों का ध्यान नही रखा गया है। 'जा परें' आदि की ध्वनि से रचना मारवाड़ प्रान्त की प्रतीत होती है। कथात्मक प्रवाह के साथ साथ शैली में सहजता एवं सरलता का गुण है। गद्य-पद्य शैली में रचित 'कुतुबुद्दीन साहिजादें री वारता',[1] खींची गमेव नीवावतरो दो पहरो, राजान राउतरो वात वणाव,[2] रामदास वेरावत री झालडी री वात[3] आदि भाषा शैली की दृष्टि से अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इनमें दोहा पद्धति के साथ साथ कथात्मक एवं वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।

राजस्थानी वातो में वर्णनात्मक शैली का स्थल स्थल पर प्रयोग हुआ है। वर्णन इतने सफल बन पड़े हैं कि उनमे कथा की गति कहीं भी शिथिल नही हुई है। युद्ध, विभिन्न स्थलो, नायिका का सौन्दर्य एवं प्राकृतिक सौन्दर्य का यथा तथ्य चित्रण वर्णनात्मक शैली मे किया गया है। उदाहरण के लिए सजना-सुजाण की वार्ता[4] कथात्मक प्रवाह संजोये हुए वर्णनात्मक शैली की उत्कृष्ट रचना है।

पनघट वर्णन—

"सात कोस का फेर में समुद्र भरियो छै। जल जको पवन रा झकोला सूं झाभी-साभी फिर रयो छै। तरंग उठे छै। जल पवन बादोवाद यडे छै। सरोज भाण हेत उगलावे छै। सुपेत स्याम लाल जरद, तरे-तरे रो समुद्र छावे छै। कमादणी जको संकोच रही छै। मगर, पातलां सूस, छाछला, मुरगाव्या, सरदा, माटिया, सारस किलोल करे छै। चपलां कपोत मयूर सुवा मैणां कोकलां चात्रक आनन्द करे छै। सीपा जकी मोती भर रही है। जलरी नहर रिस रिस वाग दोलू लाग रही छै। अनोखी पाल जकी दसेरां पथरां सूं संधी थकी थबोला खावे छै।"

---

1. ह. लि. प्रति, अनूप संस्कृत पु. बीकानेर 17वी शताब्दी।
2. सं. नरोत्तम दास स्वामी।
3. ह. लि. प्रति—राज. प्राच्य शोध संस्थान, जोधपुर।
4. ले. सरदार देवी सिंह, विक्रम सं. 1910, मेवाड़ राज्य के मदारिया परगने मे पांउली ग्राम।

अनुप्रासिक शब्दावली के साथ साथ 'ग्रामो-सामो' आदि समासिक शब्दों का भी उयोग मिलता है। पनघट वर्णन का सजीव चित्रण किया गया है। वर्णन शैली में ठेठ राजस्थानी के शब्दो का प्रयोग किया गया है।

राजस्थानी वातों में शैली के विविध रूप मिलते है। कही कहीं बातो की शैली मनोरंजकता के लिए अद्वितीय है। मनोरंजकता के साथ साथ प्रसाद गुण के भी दर्शन होते है।

8. वर्णनात्मक शैली (प्रसाद गुण से सम्पन्न) :

"मालवो देश माहें धारा नगरी। तठै पंवार उदियादित राज करे। नै तिणरे राणियां दो, तिण माहें पटराणी वाघेली। तिणरै कंवर रिणधवल हुवो। दूजी राणी सोलखिणी। तिका दुहाकण। तिणका कवर को नाँव जगदेव दीधो। सावलै रंग, पिण ज्योति धारी नै रिण धवल राजरो धणी। यो करता वरस 12 मोहे जगदेव हुवो। तदै राजा कह्यो संसार माहै बेटा समान कोई वस्त नहीं।"[1]

9. दृश्य चित्रित करने वाली मनोरंजक वर्णन शैली :

"रात घड़ी एक दो गई। तठ डंको सुणियो। तरै योगेसर जाणियो कोई सिरदार आवै छः तिसैं हाथी री वीर घंट सुणा, सुररी सहनाई सुणी, घोड़ा की कलहल सुणी। चराकां सो-एक मूंढा आगे हुवां चंवर ढुलता हाथी माथै बैठो सिरदार दीठो। तिसैं कैइक असवार महिला आया। तिसै फरास आय मैलां आगे चोक माहे जाजम दुलीचा बिछाया, गिलमां बिछई, तकिया लगाया। तिसै तेजसी जी गादी तकियां आप बैठा। जोगेनर तमासा देखे छै।[2]

सरल से सरल भाषा में उत्तम से उत्तम, स्वाभाविक एवं लोच भरे भावों की सफल अभिव्यक्ति राजस्थानी बातों में सम्भव हुई है। कहानी की गति में सजीवता एवं स्फूर्ति है। शैली मे प्रत्येक शब्द का मूल्य है।

10. सहज एवं सुबोध शैली :

"तद गाडा छोडेने पाबूजी रे महल आया। कह्यो पाबूजी कठे ? ताहरां धाय कही जू पाबूजी सिकार गया छे। तद अं पण वांसे सिकार गया। आगे पाबूजी हिरणा नूं तीर साधियो छै। साढ बैठी छै। इतरै भोरिया पूछियो। कही रै छोकरा, पाबूजी कठै छे ? तद पाबू जी बोलिया। कहीं-पाबूजी आप सिकार खेलण नूं पधारिया छै।"[3]

साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से राजस्थानी में अनेक बातें है जिनमे शैली के विभिन्न रूप मिलते हैं। राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग 3, के अन्तर्गत पांच राजस्थानी प्रेम वार्ताओं का संकलन प्रकाशित हुआ है जिसमे बात बगसी राम

---

1. सं. सूर्यकरण पारीक, राजस्थानी वार्ता, जगदेव पंवार री बात, पृ. 1।
2. वही, पाबूजी री बात, पृ. 179।
3. सं. सूर्यकरण पारीक, पाबूजी री बात, पृ. 179।

प्रोहित हीरां की, रोसालू री वारता, बात नागजी नागमती री, बात दरजी मया राम की, राजा चन्द प्रेमलाल छोरी बात आदि संकलित हैं। इन बातों में ऐतिहासिकता के साथ साथ प्रेम व्यापार का रूप अंकित किया है। कहीं-कहीं पद्यांश भी मिलता है। नारी-सौन्दर्य का सफल चित्रण किया गया है। बात 'बगसी राम पुरोहित : हीरा की' अपना साहित्यिक महत्त्व रखती है। कथा उदयपुर के कोड़ि धज सेठ की लड़की हीरा एवं निवाई (जयपुर राज्य) के बगसी राम पुरोहित से सम्बन्धित है। कथा विशेष रोचक है। स्थान स्थान पर गद्य-पद्य वर्णन बून्दी, सहेलियों की बाड़ी, हीरां का सौन्दर्य व शृंगार का वर्णन महल की साज-सज्जा एवं बगसीराम व उसके साथियों के ठाठ-बाठ का वर्णन किया गया है। स्थल स्थल पर वर्णनात्मक शैली में उक्ति वैचित्र्य का समावेश किया गया है। कथा में शैली के अनेक रूप मिलते हैं।

11. संवादात्मक शैली :

बगसी राम कहे छै-परभात हूवो, मंनर भालर घंटा भजायो।
हीरां कहे छै-बालम, परभात नहीं, बधाई बागै छै। भऊत घर पुत्र जायो।
प्रोहित कहे छै-प्यारी प्रभ त हुई मुरगो बोल रही छै।
हीरां कहैं छै-कुकड़ा मिलाप नही छै।
प्रोहित कहे छै-प्यारी, प्रभाव हुवो, चड़ियां बोले छै[1]।
कहानी में स्थल-स्थल पर काव्यात्मक शैली के दर्शन भी होते हैं, यथा—

'हीरां की सहेलियां हंसा को हार। अद्भुत केवल बदन सोभा अपार। यूं कवल की पांखड़िया एक बरोबर सो है। वा सहेलियां में हीरां पर गुरुरी मन मोहे। कीरतियां को भूमको तारा-मण्डल की शोभा। आफू की प्यारी पोसाख मन लोभा। केसरियां कसुमल घनेबर पाटंबर पोसाख राजै छै। अतर फुलेल केसरि कस्तूरी सुगन्ध छाजै छै।'[2]

लय के साथ तुकान्तता का गुण है तथा आनुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग भी किया गया है।

12. व्यंग्यात्मक शैली :

(हीरा का माणक चन्द के साथ विवाह होने पर)

'सुणि केसरी, असो स्वाद पायो छै। कपूर को भोजन काग ने करायो छै। गघेड़ा रै अंग पर चन्दन चढ़ायो छै। अन्ध के आगे दरपण दीखायो छै। गूंगे के आगे रंग राग करायो छै। नागर वेल को पान पसु नै चबायो छै।'[3]

---

1 राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग 3, बात बगसी रोम प्रोहित हीरां की, पृ. 26।
2. वही, पृ. 15।
3 वही, पृ. 5।

हीरां की मनोदशा एवं युद्ध का सजीव चित्रण किया गया है। रचना का लेखक अज्ञात है किन्तु भाषा के स्वरूप को देखकर अनुमानतः 19वीं सदी की प्रतीत होती है। शैली में अलंकारों का विशेष प्रयोग किया गया है।
उदाहरणार्थ :

'सखियांन के विचि हीरां को मुखारविंद छै–जाणे तारा।

तथा–

मंडल मे पुन्यु को चन्द छै। आदि।

प्रस्तुत संकलन की अन्य बातों में भी शैलीगत विविधता मिलती है। समस्त बातों की शैली सरल, नाटकीयता, प्रसाद गुण युक्त एवं बोलचाल की शब्दावली से युक्त है। अलंकारों के साथ-साथ मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है किन्तु कहीं-कहीं अरबी-फारसी के शब्द भी प्रचलित हैं। मुगलों के आगमन पर राजस्थानी बात साहित्य पर मुगलकाल प्रचलित किस्सागोई का असर अवश्य पड़ा है किन्तु राजस्थानी बात परम्परा बहुत प्राचीन है। भाषा की दृष्टि से राजस्थानी में बातों के विविध रूप मिलते है। पूर्वी राजस्थानी में रचित नागौर रै मांमले री बात, सूरां अर सतवादियां री वात, सांढ री पलक में खलक वसै वैरी बात, राजा भीम सूं जुध कियो तेरी बात आदि साहित्य की शैली की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती है। उर्दू मिश्रित बातों में कुतबदीन साहिजादे री बात, देहली री घर लुकमान हकीम की आपणें बेटे कूं नसीहत आदि। ब्रज मिश्रित बातों में नासिकेत की कथा, पूरणमासी की कथा अपना शैलीगत महत्त्व रखती हैं। घटनात्मक शैली मे रचित पातिसाह, औरंगजेब री हकीकत, जैपुर में सेव वैस्णम रो झगड़ो हुयो तैरी हाल आदि बातें राजस्थानी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत 'खीची गगेव नी बावत रो वैपारी, लूणसाह री बात रो बखाण आदि बातें उल्लेखनीय हैं तथा विचारात्मक शैली में रचित माघ पिंडत, राजा भोज नै डोकरी री बात, जसनाथ जाट री बात आदि विशिष्टता की द्योतक हैं। राजस्थानी बातो मे आधुनिक कहानियों की भांति सूक्ष्म तत्त्वों का प्रयोग नही हुआ है और उनके पात्रों मे मनोवैज्ञानिकता की भी कमी है। हां, कुछ बातें (खापरा चोर) इसका अपवाद अवश्य है।

अचल दास खीची री वचनिका की तरह वात साहित्य में अचल दास खीची री बात भी राजस्थानी गद्य साहित्य मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। गद्य के साथ साथ दूहों का प्रयोग उसकी शैली को विशेष रोचक बनाता है। गद्य विशेष परिमार्जित एवं सुस्पष्टता के गुण से युक्त है। अन्य बातो में शैलीगत विशिष्टताओं की दृष्टि से ढोला मारू, जलाल बूवना, डाढ़ोलो सूर, पलक दरियाव री बात एवं सूरे, खीवे कोधलोत री बात महत्त्वपूर्ण हैं। ये समस्त कहानियां श्री नारायण सिंह भाटी द्वारा राजस्थानी वात संग्रह शीर्षक के अन्तर्गत सम्पादित हो चुकी हैं। अलंकृत

शैली की दृष्टि से सौन्दर्य की जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति 'ढोला मारू की वात' में सम्भव हुई है अन्यत्र दुर्लभ है। यथा—

13. मारवणी का रूप वर्णन (अलंकृत शैली)

'मारवणी पदमणि, नै चन्द्रमा सो बदन, मृगलोचणी, हंस की सी गति, कटि सिंघ सरीखी छै। काया सालमो सोनो छै, मुख री सौरभ किस्तुरी जिसी छै। गात री सौरभ चापण सरीखी छै। पयोधर श्रीफल जिसा। वांणी कोयल जिसी। दांत जाणं दाड़िम कुली। वेणी जांणे नागणी। बांह जाणं चंपारी मला। भेडी सुपारी सी नै पगयली स्यांन री जीभ सरीखी छै। वले मारवणी मांहे तो अनेक गुण छै पण कवेस्वर कहे छै-अेकण जीभ करि कितराहेक गुण कह्या जाय। कले मारवणी रै सात वसी सहेल्यां छै तिके पण महा सुघड़ छै। त्यांसू मारवणी वात विगत करनै दिन बितावै छै।'[1] संवादात्मक, अलंकृत एवं व्यंग्यात्मक शैलियों की दृष्टि से राजस्थानी मे राजा री-सालू री वात, बात मयाराम दरजी की तथा बात नाग जी नागमती री[2] अपना साहित्यिक महत्त्व रखती हैं।

हिन्दी साहित्य मे उपमाओं की इतनी सुन्दर अभिव्यंजना नहीं मिलती। यथा तथ्य चित्रण एवं अभिव्यक्ति की मौलिकता राजस्थानी वातों में सर्वत्र मिलेगी।

14. चित्रात्मक शैली : (सरलता के गुण से युक्त)

'तठा उपरांयत गगेव नीं वावत बाहर पधारै छै। सू किण भांत री छै? ऊगतो सूरज, पावासर रो हांस, कुंवरायत कुंवर, चलहर जवाध भोगी भंवर कसतूरियो म्रिध, लांघियो सिंघ, सील गंगेव, दुरजोधन अहमेव, जुजठल ज्यूं साच, दुरवासा वाच, ग्यान रो गोरख, सहदेव ज्यूं सारीव वात समरथ, अरजुन ज्यूं बांण, करण ज्यूं दांन, पाण, वतीस पाखड़ी रो निवाहण हार, वैरियां विभाड़णहार, परभोम पंचायण धण दियण, जस लियण, कलाभरी मोर, सूंघे मीनं गात, केसरिया वीसाख कियां, पांच हथियारां बांधा आंण छोडे असवार हुवै छै।'[3]

भाषा-शैली की दृष्टि से 'वीरं देवेडे री वात'[4] राजस्थानी वातों मे विशेष स्थान रखती है। प्रस्तुत वात का ऐतिहासिक आधार मुंहता नैणसी की ख्यात में भी खोजा जा सकता है, जहां वीरा के सम्बन्ध मे पर्याप्त विवरण दिया गया है। भाषा-शैली में यथा-स्थान मुहावरों का प्रयोग हुआ है जिससे भाषा में लाक्षणिकता आ गयी है।

उदाहरणार्थ—

धवलहार दीवो जगावै (धवल गृह मे दीपक जलाती है—अर्थात् महल में विलास-लीला करती है)।

---

1. राजस्थानी वात संग्रह, सं. नारायणसिंह भाटी, ढोला मारू री वात, पृ. 44।
2. राजस्थानी साहित्य संग्रह, भाग 3।
3. ह. लि. वात खीची गंगेव नीं वावत री बेपारी।
4. ह. लि. मूल प्रति श्री अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर।

घूड़े भेला कर्इ-(धूलि के साथ कर दूंगा)—मिट्टी में मिला दूंगा।

खीर मांह हाथ देणो (खीर के अन्दर हाथ डालो)-कठिन कार्य को आसान समझकर हाथ में लेना।

स्थल-स्थल पर कहावतों का भी शैली में प्रयोग हुआ है। यथा —

1. जाहरां मीठा खायजे, ताहरा खारा खायजे,

2. चंगी-मंदी सदाई हुवती आई है। आदि

मुहावरों एवं कहावतों के बल पर शैली मे स्वाभाविकता एवं जीवन की यथार्थता प्रकट हुई है। राजस्थानी की सभी बोलियों में वातों का प्रचुर भंडार मिलता है जो अपने अपने स्थानीय दृश्यों को संजोये हुए हैं। युग चित्रण की सर्वाधिक सफल अभिव्यक्ति कथा साहित्य ही है। राजस्थानी की प्राचीन वातों में राजपूती वंश एवं जीवन का चरित्रात्मक शैली में सफल उद्घाटन हुआ है। गद्य साहित्य की समस्त कथात्मक शैलियों के दर्शन राजस्थानी वातों में मिलता है, जिनमे भाषा का क्रमिक विकास भी अंकित किया गया है। राजस्थानी का बात साहित्य जितना प्राचीन है, शैली की दृष्टि से उतना ही समृद्ध भी है।

सारांश यह है कि बात साहित्य और वार्ता साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दोनों प्राचीन राजस्थानी कथा साहित्य के ही दो रूप हैं। राजस्थानी बातें न केवल स्वतन्त्र रूप में ही मिलती हैं, अपितु विभिन्न ऐतिहासिक ख्यातों आदि मे भी उनकी उपस्थिति पायी जाती है। भाषा की दृष्टि से किसी बात के काल का पता लगाना असम्भव सा प्रतीत होता है, क्योंकि समय, स्थान और वक्ता-श्रोता के कारण बात की भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। उदाहरणार्थ-'ढोला मारू री बात' देखी जा सकती है, जिसमें गुजराती (ढोला मारू नी बात), पंजाबी (ढोला मारू दा किस्सा) इत्यादि कई रूप अनेक परिवर्तनो के साथ उपलब्ध होते हैं। भाषा विषयक दृष्टि से मारवाड़ी, हाड़ोती, उर्दू मिश्रित, ब्रज मिश्रित एवं गुजराती मिश्रित बातें, विषय वस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिक (अर्द्ध, काल्पनिक एवं पौराणिक), प्रेम, वीर, हास्य एवं शान्त रस से सम्बन्धित बातें प्रचलित है। शैली की दृष्टि से घटनात्मक (पातसाह औरंगजेबरी हकीकत), वर्णनात्मक (खीचो नाग व निम्बावत लूण कर साह री बात) विचारात्मक शैली में पर्याप्त बात साहित्य मिलता है।

कलात्मक पद्य साहित्य के साथ साथ राजस्थानी गद्य में ऐतिहासिक गद्य सबसे अधिक 'ख्यात' परम्परा में मिलता है। अपनी मान मर्यादाओं को जीवित रखने के लिए राजा महाराजा ऐसे साहित्यकारों को प्रोत्साहन देते थे जो उनके राजवंशों का वंशानुक्रम एवं काल क्रमानुसार वर्णन कर सकें। ख्यात परम्परा भी इसी परम्परा की एक साहित्यिक कड़ी है।

15. ख्यात साहित्य:

'जो कुछ व्यक्ति है, उससे अधिक वह अपने आपको प्रकट करना चाहता है।'

यह दृष्टिकोण आज भी प्रचलित है और आज से पूर्व अधिक था। यह मात्र व्यक्तिगत स्वार्थ ही है अन्यथा व्यक्ति की छाप युग पर इतनी गहरी होती है कि उसे स्वयं को अपने नाम प्रकाशन के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। अपनी प्रसिद्धि को चिरस्थायी बनाने के लिए सामन्त वर्ग अपने अधीन साहित्यकारों से ख्याति प्रकाशन चाहता था। पढे लिखे चारण, भाट अथवा कवि अपने आश्रयदाताओं की वंशावली को अमर बनाने के लिए विविध साहित्यिक रूपों में लिखा करते थे। 'ख्यात' भी इसी क्रम में एक साहित्यिक गद्य परम्परा है। शाब्दिक दृष्टि से स्पष्ट होता है कि 'ख्यात' का अर्थ ख्याति से है किन्तु भाषा की ध्वनिगत परम्परा के अनुसार राजस्थानी में उसे 'ख्यात' ही कहते हैं। श्री साकरिया जी का मत है कि, 'राजस्थानी में ख्यात शब्द प्रायः इतिहास के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। ख्यात मूलतया संस्कृत भाषा का शब्द है। यह 'ख्या'—प्रकथने धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है।[1] इसके मूल मे भी कीर्तिमान या सुप्रसिद्ध होने का भाव समाहित है। टैसीटोरी इसे वंशावली का ही विकसित रूप मानते हैं।[2] डा. भानावत इसे वंशावलियों और पीढ़ियावलियों का विकसित और प्रौढ रूप मानते हैं।[3] पीढियावली और वंशावली की रचना भी इसी उद्देश्य के लिए की जाती थी। यह परम्परा न केवल राजपरिवारों मे ही प्रचलित थी, अपितु विभिन्न धार्मिक मठों आदि में भी अपने गुरुदेव की महानता को चिरस्थायी बनाने के लिए शिष्य वर्ग ख्यातें आदि की रचनाएं किया करता था, किन्तु यह परम्परा मध्यकाल मे सामन्ती व्यवस्था के संरक्षण मे अधिक विकसित हुई। श्री राधेश्याम त्रिपाठी ने इन ख्यातों को इतिहास परक, वारता परक, व्यक्ति परक एवं स्फुट ख्यातों के रूप में वर्गीकृत किया है किन्तु यह वर्गीकरण किसी निश्चित तथ्य का बोधक नहीं। मूलतः प्रत्येक ख्यात का आधार ऐतिहासिक तो है ही, साथ ही उनमे तथ्यों को उद्घाटित करने के लिए वार्ताओं आदि का प्रयोग भी हुआ है। 'मुंहता नैणसी री ख्यात' मे इसी उद्देश्य की दृष्टि से अनेक हकीकतो, बातों आदि का उल्लेख किया गया है तथा बांकीदास की ख्यात मे ऐसी ही लगभग 2776 बातों का संग्रह मिलता है। व्यक्तिपरक ख्यातो मे भी वार्ताओं आदि का रूप देखने को मिलता है। स्फुट रूप से लिखी हुई ख्यातें अवश्य ही फुटकर नोट्स के रूप में मिलती हैं। ख्यात और इतिहास मे अन्तर यह है कि ख्यातें वर्णनात्मक अधिक होती हैं जबकि इतिहास में घटनाओं को संक्षेप मे चित्रित किया जाता है। ख्यातों में व्यक्तिगत जीवन दर्शन का अधिक उद्घाटन होता है किन्तु इतिहास में यह सब सम्भव नहीं। व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का ख्यातों मे विस्तृत वर्णन किया जाता है तथा प्रासंगिक घटनाओं का उल्लेख भी स्थल स्थल पर मिलता है। ख्यातें तथ्यों के अधिक निकट

---

1. श्री साकरिया (बदरी प्रसाद) मुंहता नैणसी री ख्यात, भूमिका से।
2. टैसीटरी, जे. पी. ए. एस. बी. (न्यूसीरीज) खण्ड 15, नं. 1, पृ. 20।
3. डा. भानावत, राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियां, पृ. 7।

होती हैं किन्तु इतिहास में यह सब सम्भव नहीं। डा. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार राजपुताने में 'ख्यात' ऐतिहासिक गद्य रचना को कहा जाता है।[1] श्री आलमशाहखान ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए लिखा है कि, 'ख्यात में राजपूत राजाओं का इतिहास या प्रमुख घटनाओं का संकलन वंश क्रमानुसार या राज्य क्रमानुसार रहता है।'[2] तथ्य यह है कि सभी विद्वान प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं तथा वंशानुक्रम ऐतिहासिक गद्य को ही 'ख्यात' मानते हैं तथा जैनेतर ऐतिहासिक ग्रंथों में इन्हें स्वीकार करते है।

श्री नरोत्तम दास स्वामी ख्यातों के दो प्रकार स्वीकार करते हैं—[3] 1. जिसमें लगातार इतिहास है; जैसे दयाल दास की ख्यात। 2. जिसमें अलग अलग बातों का संग्रह है; जैसे–नैणसी की ख्यात तथा बांकीदास की ख्यात आदि। नैणसी की ख्यात मे बातें बड़ी बड़ी हैं जबकि बांकीदास की बातें छोटी छोटी व फुटकर नोट्स के रूप में लिखी हुई हैं। ये ख्यातें मात्र सूचना तक ही देती हैं। कुछ एक का ऐतिहासिक महत्व भी नही है। गद्य की दृष्टि से कुछ को छोड़कर शेष निरर्थक हैं। कुछ बातें तो दो-दो पंक्तियों तक ही सीमित हैं। राजस्थान में ख्यातों की परम्परा से पहले प्रशस्तिया लिखने की परम्परा थी जो आज भी अनेक धार्मिक स्थलों पर प्रचलित है। मुगल काल में बादशाह ने अपने ऐतिहासिक तथ्यों को संकलित कराने के लिए नये नये प्रयोग किये। देशी राजाओं का भी ध्यान इस ओर गया तथा उनके आश्रम मे रहने वाले चारण, भाट एवं पंचोली आदि ने अपने आश्रयदाताओं की मान मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिए ख्यातों का निर्माण किया।

राजस्थानी इतिहासकारों ने ख्यात को इतिहास के रूप में ही स्वीकार किया है। श्री रावत सारस्वत ने दलपत विकास की भूमिका मे फारसी में रचित बाबरनामा, हुमायूं नामा, अकबर नामा, जहांगीर नामा आदि ग्रन्थो को इसी ख्यात परम्परा में माना है। वस्तुतः फारसी में रचित कृतिया राजस्थानी ख्यातों की शृंखला में ही रखी जा सकती है, क्योंकि इनकी रचना प्रक्रिया ठीक ख्यातो जैसी ही है। श्री सारस्वत जी 'ख्यात' को आवश्यक रूप से एक प्रबन्ध के रूप में स्वीकार करते हैं जिसमें क्रमानुगत वर्णन 'बात' की अपेक्षा विस्तार में मिलता है। ख्यातो की प्राचीनता की दृष्टि से विद्वानो के मत भिन्न भिन्न हैं। डा० अचल ने 'राठौडां री वंशावली'[4] को सर्वाधिक प्राचीन ख्यात के रूप में स्वीकार किया है। यह रचना 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की है। इसमें बीकानेर नरेश राव कल्याण मलजी तक के जीवन काल का वर्णन है। वंशावली का उल्लेख घटनाओं के क्रम में सरल भाषा

1. डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, नैणसी की ख्यात, भाग दो-भूमिका।
2. श्री आलमशाह खान, राजस्थानी वचनिकाएं पृ. 6।
3. श्री नरोत्तम दास स्वामी, बांकीदास की ख्यात।
4. हस्त लिखित प्रति, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर।

में प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक ख्यातों में बीकानेर रै राठौड़ां री वंशावली,[1] बीकानेर रै राठौड़ां री ख्यात,[2] जोधपुर रा राठौड़ां री ख्यात, उदयपुर री ख्यात, मेवाड़ रे परगने की ख्यात (राजस्थान प्राच्य शोध संस्थान, जोधपुर) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। राजस्थान पुरातत्व विभाग बीकानेर में भी विभिन्न हिन्दू राजाओं और उनकी वंश परम्पराओं का इतिहास प्रकट करने वाली अनेक हस्त लिखित ख्यातें हैं, जिनमें जोधपुर रा राठौड़ा री ख्यात तथा बीकानेर री ख्यात आदि प्रमुख हैं। जोधपुर राजाओं की वंशावली का स्पष्ट उल्लेख जोधपुर रा राठौड़ां री ख्यात में किया गया है। इसमें राठौड़ों की उत्पत्ति का विवरण, कुलदेवी राठेश्वरी का उल्लेख, नगरों की उत्पत्ति एवं राजाओं की विगत आदि का वर्णन तक दिया गया है। जोधपुर में राजवंश का इतिहास मनोहर गद्य में सीहाजी की ख्यात[3] में भी मिलती है। बीकानेर की स्थापना का इतिहास, बीकाजी की भाटियों पर चढ़ाई, बीकाजी का जोधपुर प्रस्थान आदि का उल्लेख बीकानेर की ख्यात में मिलता है। इस दृष्टि से यह स्वीकार किया जा सकता है कि ये ख्यातें ऐतिहासिक भ्रान्तियों का निवारण करने की दृष्टि से विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं।

भाषा-शैली की दृष्टि से इन ख्यातों की विशेषता यह है कि परिचयात्मक रूप रेखा प्रस्तुत करते हुए लेखक ने वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक गद्य शैली में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है। कुछ घटनाएं ऐसी भी हैं जिन्हें लेखक ने बातों का रूप दे दिया है। यहां वर्णनात्मक शैली के साथ साथ चित्रात्मक, व्याख्यात्मक एवं पद्य बहुलता के कारण संवादात्मक शैली का प्रयोग भी हुआ है। ऐतिहासिक ख्यातों में भाषा का चलता हुआ रूप ही अधिक मिलता है। स्थल-स्थल पर विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग प्रभाव के कारण हुआ है। इन ख्यातों के अन्तर्गत ही राजस्थानी गद्य के अन्य रूप जैसे वंशावली, विगत, बात, जन्म पत्रियां, हाल, हकीकत आदि के दर्शन भी [illegible][4]। मेवाड़ रे परगने री ख्यात[5] में राजस्थानी गद्य की [illegible] गया है। इसका गद्य सहज एवं सरल शैली में प्र[illegible]

चांपा खीवा संतावत री बेटी सीग्ण रै पेट रा राव जोधा रै बेटा 2 वरसिंध ने केहो संगा भाइ या तीग्णा नु राव कहो सूं था नु मेड़तो दां छां थे जाय वसो तरे ईग्णां कवुल कीयो इणां नु छोड़न सीरपाव दे सीख दी श्रो भ्रापरा गाड़ी कर लेने चौकड़ी भ्राण डेरो कीयो।"
—मेवाड़ रे परगनां री ख्यात

गद्य में कथात्मक प्रवाह है। छोटे-छोटे वाक्यों में लेखक ने संक्षेप मे घटना का उल्लेख किया है। विराम चिह्नों के प्रभाव में पाठकों को प्रसुविधा भ्रवश्य होती है किन्तु गद्य शैली में प्रवाह होने के कारण ऐतिहासिक क्रमवद्धता की सी झलक मिलती है। तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दो का प्रयोग भी हुम्रा है। सैहर, कबूल भ्रादि फारसी के शब्द भी प्रयोग में आये है। प्रस्तुत ख्यात के भ्रन्तर्गत भ्रकबर, जहांगीर एवं भ्रौरंगजेब भ्रादि के शासन क्षेत्र की विगत प्रस्तुत की गई है। राजाम्रों के परगनो से सम्बन्धित स्थानों के लेन देन, भ्राय-व्यय का ब्योरेवार वर्णन विवरणात्मक शैली में किया गया है।

राजस्थानी ख्यात साहित्य में ऐतिहासिक ख्यातों के अतिरिक्त व्यक्तिगत ख्याते साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। नैणसी की ख्यात, दयालदास की ख्यात एवं बांकीदास की ख्यात भ्रपना विशेष साहित्यिक महत्व रखती हैं। इन ख्यातो के महत्व को स्वीकार करती हुई रानी कुमारी चूंडावत ने लिखा है "राजस्थानी भाषा का गद्य ख्यातो के रूप में परिमाण में लिखा गया। गाथाएं भी प्रचुर मात्रा मे लिखी गई। कई गाथाम्रों का भ्रौर ख्यातों का गद्य सुन्दर, टकसाली भ्रौर प्रवाहमय है। 'दयालदास री ख्यात भ्रौर मुंहता नैणसी री ख्यात' सुन्दर राजस्थानी गद्य के नमूने हैं। व्याकरण तथा वाक्य रचना की दृष्टि से इनमें कोई विभेद नहीं।'[1]

16. मुंहता नैणसी री ख्यात :

नैणसी राजस्थानी ख्यात—लेखक हैं जिन्होंने राजस्थान के इतिहास को पर्याप्त सामग्री प्रदान की। इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सम्यक उद्‌घाटन चतुर्थ प्रकरण में किया जायेगा। यहां उनकी रचना कृति मे गद्य साहित्य का मात्र शैलीगत विवेचन किया जा रहा है। ख्यात मे ऐतिहासिकता तो प्रधान है ही, साथ ही भ्रनेक बातों, घटनाम्रो एवं स्थानों भ्रादि की सरल शैली में रचना की गयी है। राजस्थान प्राच्य शोध संस्थान, जोधपुर के भ्रन्तर्गत श्री बदरी प्रसाद जी साकरिया ने चार खंडों में इसका प्रकाशन किया है। स्थल-स्थल पर कथात्मक एवं वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।

17. कथात्मक शैली :

"श्री गणेशायनमः। भ्रादि सीसोदिया गेहलोत कही जै। एक बात यूं सुणो। इणांरी ठाकुराई पेहलो-दिखण नूं नासिक त्रंबक हुती। सु इणारै पूर्वजरै सूर्य री

---

1. रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, ग्रन्थमाल की भूमिका, पृ. 7।

उपासन हुतो । माता ध्येन करतो । तद सूर्य प्रतक्ष आप हाजर हुतो । तिणमूं को जूप जीव सकतो नहीं । सू राजा ऊणी घरती रो घणी हुवो । सु राजारैं पुत्र नहीं । तरैं सूर्य जी नूं पुत्र री बीनती थी । तेरे सूर्य कह्यो-'आंबाई देवी मेवाड ईडर रै गडा संघ छै । पठारी जात बोलो । इतना करो आधान (गर्भ) रहसी, तटा पछै जात करज्यो। पछै राजा रांणी आंबाइरी जात नूं चालीया । सू रांणी चालतां राजारो मंत्र प्रावाहुन रह्यो । तरैं प्रासीयां कोठलियां दान लाधो सूर्य री उपासन मिटियो ।"

तिण वेला नागदहा गांवरैं बांमणां राणीनुं कह्यो—

"पेट प्राधान थका बलियां दोखण घणों छै । थारैं दिन त्रिण पूरा हुआ है । दिन 15 तथा 20 रांणी छुटी । बेटो जायो ।"

उपर्युक्त गद्यांश मे कथात्मक गद्य शैली के साथ साथ संवादात्मक गद्य शैली का भी प्रयोग हुआ है । शैली सरस एवं सहज है तथा उसमें प्रवाह का गुण है । पीढियों के वर्णन मे वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है । ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करने मे लेखक ने स्थल-स्थल पर विवरणात्मक गद्य शैली का प्रयोग किया है ।

"संमत् 1539 रा बैसाख वद 9 सांगारो जनम । सवत 1566 जेठ सुद 5 रांणो सागो पाट बैठो । संमत 1594 रा काती सुद 5 सीकरी बाबर (हुमायूं) पातसाह बड़ हारी । राणो सागो बड़ो प्रताप बल ठाकुर हुवो । घणी धरती खायी । संमत 1539 रा वैसाख वद 9 रो जनम । घणों तपीयो । उडणो प्रथीराज मुंवा पछै मुदै हुवो । पेहली घणो विखै फिरीयो । पछै वड़ो ठाकुर हुवो । इसड़ो चीतोड रांणो कोई न हुवो । दोय बार मांडवरो पातसाह पकड़ छोडीयो । पीलीये खाल जाज बाबर पातसाह सूं लड़ीयो तिका वेढ हारी । वलै राणों सागे चदेरी (मारी) थी । वंघ वैरैं वाघेले मुकद सूं वेढ हुई । मुकंद भागो । हाथी घणा पडाउ श्राया । खिड़िये खीव राज बात कहीं ।"[1]

नैणसी की भाषा मे एक विविधता यह मिलती है कि उन्होंने सम्पूर्ण ख्यात की रचना स्वयं नही की । समय समय पर उन्हे जो ऐतिहासिक विवरण मिले उन्हें अन्य चारण लेखकों से भी पूर्ण कराया है । प्रस्तुत गद्यांश खिड़िया खीव राज का लिखा हुआ है । यही कारण है कि रचना की दृष्टि से इस ख्यात मे एक-रूपता नही है । स्थल स्थल पर उन्होंने ब्यौरेवार शहरों की जनसंख्या, सतियां हुई उनका विवरण एव महत्त्वपूर्ण प्रसंगो का उल्लेख किया है । सतियो के सन्दर्भ मे यह बात महत्त्वपूर्ण है कि राजा की मृत्यु पर न केवल रानियां ही सती होती थी किन्तु राज प्रासादो मे नियुक्त पडदायत, पासवान, खवास, वडारण, डावड़ी, ओलगणां, गायणी, पातर, खालसा एवं सहेलियां आदि सब को सती होना पड़ता था । इस प्रकार इनै ख्यातो में अनेक राजकीय रीति रिवाजों का विस्तृत विवरण मिलता है । इस ख्यात

1. स. बदरी प्रसाद साकरिया, मुंहता नैणसी री ख्यात, पृ. 19-20 । (प्रथम भाग)

की भाषा लगभग तीन सौ वर्ष पुरानी मारवाड़ी भाषा है। इस ख्यात की भाषा के सम्बन्ध मे इसकी भूमिका मे श्री साकरिया ने लिखा है कि 'इस ग्रन्थ की मारवाड़ी भाषा भारतीय आर्य भाषाओं की अपभ्रंश परम्परा की निकटतम शाखा के प्रौढ गद्य का उत्कृष्ट रूप है जो राजस्थान की सभी बोलियों से अधिक और मान्य 'पश्चिमी मारवाड़ी' की परम्परा का प्राचीन और प्रधान रूप है।" राजस्थानी गद्य का प्राचीनतम प्रौढ रूप इस ख्यात मे मिलता है। ख्यात में अनेक राजस्थानी शब्द अपभ्रंश के प्रभाव से युक्त हैं। जैसे उदयसिंह का अपभ्रंश रूप 'ऊदल'। पुरुष नामों में अरहड़ अलधरो, आसथान, गैपो, खाहड़, पावू, पेथड़, बाहड़, हड़वू आदि शब्द अपभ्रंश से प्रभावित हैं। गांवो में खाखड़, ईहड़, गायड़, लाखां, हुरड़ आदि अनेक नाम हैं जिन पर अपभ्रंश का प्रभाव है। भाषा की प्रौढ़ता एवं अर्थबोधता इसके मुहावरों एवं रूढि प्रयोगो में देखने को मिलती है। क्रिया पद, सर्वनाम और विशेषण के रूप प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। ख्यात की भाषा मे प्रत्यय, परसर्ग और विभक्तियों का अनेक रूपों में प्रयोग हुआ है जिससे भाषा में प्रौढ़ता का गुण उत्पन्न हुआ है।

भाषा साहित्य की दृष्टि से अन्य महत्वपूर्ण ख्यात दयालदास री ख्यात है।[1] दयालदास सिढायच चारण थे। इस ख्यात में महाराजा सरदार सिंह के शासन काल तक का वर्णन है। प्रथम जिल्द में राठोड़ों की उत्पत्ति से लेकर बीकानेर के राव कल्याण मल जी तक का हाल है। दूसरी जिल्द में महाराजा राय सिंह जी से महाराजा रतन सिंह जी तक का वर्णन है। स्थल स्थल पर कहीं अक्षर छूट गये हैं। इन ख्यातो की एक विशेषता यह है कि ये सभी मुख्यतः एक ही पद्धति मे लिखी गयी हैं। रचना शैली में कोई मूल परिवर्तन नही हुआ है। भाषा में अवश्य कहीं कहीं परिवर्तन प्रतीत होता है। नैणसी की ख्यात मे कही भी 'है' का प्रयोग नही हुआ जबकि दयालदास की ख्यात मे 'है' का सर्वत्र प्रयोग है तथा विराम चिह्नों का भी बराबर ध्यान रखा गया है।

18. बीकाजी का जोधपुर प्रस्थान :

"अेकद प्रस्ताव राव जोधोजी दरबार किया विराजे है ने सारा भाई वा अमराव वा कंवर हाजर है। कंवर श्री बीकोजी भीतर सूं आया अरू रावजी सूं मुजरो कर काका कांधलजी रे आगे विराजिया थे कंवर जी श्री बीकेजी कांधल जी सूं कान मे बतलावण की, तद रावजी जोधेजी देखनें कयो, "आज तो काठे भतीजे रें सला हुवे है सूं इसी दीसै है काई नवी धरती खाटे।" तद कांधलजी उठ मुजरो कियो अरू कहो, "महरवान, कांधल री सरम तो हुमे नवी धरती खाटियां इज रैसी।"

अरू जिण दिनां मैं सांखलो नापो चित्तोड़ सूं जांगलू आयो, सू ओ पण जोधपुर हाजर है। पीछे इण बीकेजी नूं कयो के जांगलू री पड़गनों बैरान हुय रयो

---

1. प्रथम कृति, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर।
द्वितीय प्रति–राव गोपाल सिंह जी वैद के संग्रह मे है।

है, सू थे हालो तो ठिकाणें बांधा।" तद रावजी भाई कांधलजी वा कंवर बीकेजी नूं बुलाया, अरु कयो, "बीका, तू सपूत है, पण जांगलू रै पड़गने भायां हालसा।" अरु कांधलजी नू कयो, "जावो, मतीजै री राज बांधो जांगलू नापैजी सागै।"

कथात्मक प्रवाह के साथ साथ शैली में संवादात्मकता है जिससे नाटकीयता की झलक सहज रूप में साकार होती है। शैली मे 'ए' और 'ओ' का अधिक प्रयोग हुआ है। भाषा को देखकर रचना 19वी शताब्दी की खड़ी बोली से प्रभावित मारवाड़ी प्रतीत होती है। अरबी, फारसी एवं उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग बराबर हुआ है। ख्यात में संवादात्मक शैली के सर्वत्र दर्शन होते हैं। ख्यात मे बीकानेर की स्थापना का वर्णन कथात्मक शैली में किया गया है। अनेक ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन भी वर्णनात्मक शैली में किया गया है, जिनमे भाटियों का वर्णन, बादशाह का बीकानेर पर फोज भेजना, रायसिंह जी की अकबर से भेंट, नागौर पर आक्रमण आदि प्रसंग महत्त्वपूर्ण हैं।

राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मन्दिर द्वारा प्रकाशित बांकीदास री ख्यात भी चारण कवि की इतिहास परक व्यक्तिगत ख्यात है। इस ख्यात का संपादन पंडित नरोत्तमदास स्वामी ने सन् 1967 मे किया था। इस ख्यात के अतिरिक्त बांकीदास ने अनेक ग्रन्थ कृतियां भी लिखी थी जिसमें सूर छतीसी, सीह छतीसी, सुजस छतीसी एवं दातार बावनी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। बांकीदास की ख्यात उच्च कोटि की प्रामाणिक गद्य रचना है, किन्तु इससे सम्बन्धित इसकी अन्य बातों में क्रमबद्धता नहीं है। अनेक राजाओं की वंशावली एवं गांवो की ऐतिहासिक सूचना मात्र नामावली के रूप में ही मिलती है। जहा गद्य का प्रयोग किया गया है वहां वह निश्चित रूप से प्रोढ सा प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—

"बीकानेर गढ कोट राजा रायसिंह करायो। अधकोस सहर छै। जूनो बीकानेर सूरजपोल बंधा उपरै हाथी वे है जैसल पत्तो है। बड़ एक मोटो बारणो छै। बावन बुरज छै। उगवणनू पोलसूं पड़कोटसू तीन पोल है। पोल ऐक पश्चिम दिसा छै। बारी ऐक उत्तरनूं छै। छतीस गज कोट ऊंची धरती थी। हाथ तैंतालीस कोट ने गज 14 आडो छै। गज नव कोट दोली खाई ऊंडी। भीत आंगणो सगला छव गज छै। कुवा तीन पुरस साठ। पाणी मीठो। पहला बारै हुता ख्यां दोलो कोट अकराय मांय लिया। तलाव घड़सीसर सहरथी कोस दोय पाणी सात मास रहै। आठ कुवा सहर की गिरद। साठ पुरस। पाणी मीठो। बीस नाडियां पाणी मास दोय तथा तीन रहे। सूर सागर पाणी मास छव रहे।"[1]

प्रस्तुत ख्यात में कथात्मक शैली के अतिरिक्त वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। क्रिया शब्द 'है' के साथ साथ 'छै' का रूप भी मिलता है।

---

1 सं. नरोत्तमदास स्वामी, बांकीदास री ख्यात पृ. 76।

खड़ी बोली का प्रभाव कुछ शब्दों के प्रयोग से प्रकट होता है, जैसे पश्चिम, 'धरती थी' 'तथा' आदि। वाक्य छोटे-छोटे हैं किन्तु कहीं-कहीं क्रिया शब्दों का अभाव है। शैली-रचना की दृष्टि से वाक्यों का संकेतात्मक प्रयोग सा प्रतीत होता है। राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मन्दिर में 'देश दर्पण' नामक एक अन्य महत्त्वपूर्ण ख्यात ग्रन्थ (सं. 1927) उपलब्ध है जिसकी रचना महाराजा सिरदार सिंह के समय जसवंत सिंह की आज्ञा से की गई थी। ख्यात परम्परा में सतरहवीं शताब्दी के मध्य काल में लिखित 'दलपत विलास' गद्य भाषा की दृष्टि से एक सुन्दर रचनाकृति है। यह एक छोटा सा इतिहास-ग्रंथ है। पुस्तक के ऊपर 'पु. महाराजकुमार अनूपसिंघ जी रो छै'—अंकित है। भाषा-शैली की दृष्टि से रचना 17वीं शताब्दी की प्रतीत होती है जो राजस्थानी का प्रौढ़ रूप है। अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। संज्ञा व क्रिया रूपों में अपभ्रंश के 'इ' और 'उ' प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। शैली में स्थल-स्थल पर पुनरावृत्ति का दोष आ गया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ अरबी-फारसी के शब्दों के रूप विशेष मिलते हैं।

राजस्थानी ख्यात साहित्य के अन्तर्गत राजस्थान के अनेक ऐतिहासिक महत्त्व के गांवों की ख्यातें एवं तवारीखें हस्तलिखित रूप में पुरातत्व विभाग में सुरक्षित हैं। ऐतिहासिकता के साथ-साथ इनमें विभिन्न विषयक ज्ञानविज्ञान भी प्रासंगिक कथाओं के माध्यम से मिल जाता है। 19वीं शताब्दी की ख्यातें भाषा की दृष्टि से भिन्न हैं। प्रारम्भिक रचनाओं में अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है जबकि कालान्तर की कतिपय रचनाओं पर खड़ी बोली का भी प्रभाव है। शिल्प की दृष्टि से भाषा-शैली सम्बन्धी अन्तर को छोड़कर सभी एक फोरमल (Formal) रूप में ही लिखी हुई मिलती हैं। सारांश यह है कि ऐतिहासिक उद्देश्य को लेकर चारण कवियों द्वारा रचित राजस्थानी का 'ख्यात-साहित्य' तत्कालीन युग का लिपिबद्ध इतिहास है, जिसमें भाषा-शैली का कथात्मक रूप भी मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से राजस्थानी गद्य में जो अन्य साहित्यिक परम्पराएं प्रचलित रही है, उनका भी पृथक् से उल्लेख किया जा रहा है।

19. राजस्थानी गद्य में हाल, हगीगत, विगत एवं पीढ़ियावली :

राजस्थानी गद्य साहित्य का महत्त्वपूर्ण भाग तो बात, ख्यात, वचनिका एवं टीकात्मक साहित्य के अन्तर्गत आता है किन्तु इन परम्पराओं के साथ कुछ अविकसित साहित्यिक रूप भी थे जो कुछ अंश में ख्यातों के अन्तर्गत प्रचलित थे तथा शेष स्वतन्त्र अस्तित्व रखते थे। पीढ़ियावली, हाल-हगीगत, विगत, याददास्त, जन्म पत्रिया एवं तहकीकात आदि राजस्थानी गद्य-रूप किसी न किसी रूप में ख्यातों में भी मिलती हैं। ख्यातों का रूप इतना विस्तृत रहा है कि बात परम्परा में लिखित अनेक कहानियां भी ऐतिहासिक घटनाओं के धरातल पर ख्यातों में बिखरी पड़ी हैं। यहां इन प्रचलित साहित्यिक एवं ऐतिहासिक विधाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

20. पीढियावली :

नाम की अर्थगत ध्वनि से ही स्पष्ट होता है कि इनमें किसी राजवंश का क्रमिक विवरण दिया जाता था। पारिवारिक पीढ़ियों का वंशानुक्रम विवरण इस प्रकार की रचनाओं में होता था। इसे वंशावली के नाम से भी पुकारा जाता है तथा 'ख्यात' में भी इस प्रकार पीढियों के विवरण देने की परम्परा थी। वंशावली लिखने की परम्परा जैन और जैनेतर दोनों ही लेखकों मे प्रचलित थी। जैन लेखक अपने धर्माचार्यों की वंशावली लिखते थे तथा जाति विशेष की वंश परम्परा का इन पीढ़ियावलियों मे वर्णन किया जाता था। व्यक्तिगत पीढ़ियावलियां भी राजस्थानी गद्य मे अनेक मिलती हैं जिनका सम्बन्ध सेठ साहूकारों, सरदारो आदि की वंश प्रशस्ति से होता था। राठोड़ा री वंशावली, राठोड़ां री पीढ़ियां, सीसोदिया री वंशावली, हाडां री वंशावली आदि अनेक हस्त लिखित गद्य रचनाएं राजस्थानी मे उपलब्ध हैं जो इतिहास तथा राजस्थानी गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। इनकी शिल्प पद्धति मे कोई विशेष अन्तर नही होता था क्योंकि इनकी रचना एक निश्चित बंधे बंधाये रूप मे होती थी। पीढ़ियों का उल्लेख बड़े ही अलौकिक ढंग से भी किया जाता था। 'राठोड़ा री वंसावली' में महाराज भीमसिंघ जी के सिंहासन का सम्बन्ध आदि नारायण से जोड़ा गया है तथा फुटकर राठोड़ों की पीढ़ियों का भी उल्लेख है। हरसूर जी बारहट द्वारा लिखी गयी यह रचना कवित्त, छप्पय, जन्म काल, वंशावलियां तथा गद्य-पद्य के सुयश वर्णन से युक्त है। राजाओं की प्रशंसा, गंगा सूर्य आदि की स्तुति श्लोकों मे की गई है। पारिवारिक विवरण के सन्दर्भ मे अपनी जन्म कुंडली एवं रानियों तक का विवरण बड़े ही व्यवस्थित ढंग से दिया गया है।

पीढ़ियावलियो मे पीढ़ियों का उल्लेख कभी कभी क्रमानुसार विवरणात्मक ढंग से भी प्रस्तुत किया जाता था तथा कहीं-कही उनमे कथात्मक शैली का प्रयोग भी किया जाता था। उदाहरणार्थ —

21. पीढ़ियों का उल्लेख :

पीढी सिणाधरी रै रावल रीं–1. अमर संघ 2. मुमोन संघ, 3. रतन संघ, 4 अजत सघ, 5. केसरी संघ, 6. सींव करण, 7. महेस दास सिणाधारी गांव 70 सु॥ पीढी कोट डैरी पदवी रांणा कहावै छै। राणा दोलत संघ, 2. राणां चन्द्रभाण, 3. राणा माधो संघ, 4. राणा दुरग दास, 5. राणा गोयंद दास.......

(अन्त तक यही क्रम चलता रहता है)[1]

22 पीढ़ियों में वर्णन को कथात्मक शैलो भी प्रचलित थी :

"एक लिंग जी कने राठासण देवी है। तठै हारीत रिख बारै बरस बडी तपस्या करी। तठै बापो रावल टोपड़ा चारतो, ब्रांमणरो बेटो थको। सो इण

---

1. आर्याख्यानक कल्पद्रुम-सिढायच दयालदास।

हारीत रिखरी बारै बरस घणी सेवा करी। पछै रिखी-स्वर री तपस्या पूरी हुई। रिखीस्वर चालणरो विचार कीयो तरै क्यूंई बापा नैं देणरो विचार कीयो। तरै हारीत राठासण देवी ऊपर कोप कीयो। कह्यो-बारै बरस थांसू निकट तपस्या करी, थे म्यारी कदेइ खबर न लीनी।" तरै प्रतख्य (प्रत्यक्ष) हुय देवी कह्यो-"मोनूं कासं भ्रम्या करो छो।" तरै हारीत रिखीस्वर कह्यो "म्हारी इण डावडै बापं घणी सेवा करी, इणानूं अठारो राज दीयो चाहिजै। तरै देवी कह्यो-श्री महादेव जी प्रसन करो। राज महादेव जी री सेवा विना पाई जे न छे। तरै हारीत रिख महादेव जी रो ध्यान कीयो।"[1]

पीढ़ियों का यह उल्लेख कथात्मक गद्य शैली में ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में किया गया है, जहां स्थल-स्थल पर संवादात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है। इन पीढ़ियों मे ऐतिहासिक तथ्यों को स्थल-स्थल पर तोड़ा मरोड़ा गया है। अलौकिकता का रंग देने के लिए राजाओं की पीढ़ियों का सीधा सम्बन्ध सूर्य अथवा अन्य देवी देवताओं से जोड़ा गया है।

23. वंशावली :

वंशावली लिखने की परम्परा ख्यातों के अन्तर्गत ही अधिक प्रचलित रही है किन्तु स्वतन्त्र रूप से भी इसका रूप राजस्थानी गद्य में मिलता है। डा० अचल ने वंशावली लिखने की परम्परा को जैन ऐतिहासिक गद्य के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है[2] तथा डा० भानावत भी उन्हें जैन परम्परा ही मानते हैं।[3] यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पीढियावली तथा वंशावली परम्परा मे कोई सैद्धान्तिक तथा शिल्पगत अन्तर नही है फिर भी स्वतन्त्र रूप से जैनाचार्यों के अतिरिक्त भाट, चारण एव पुरोहितो में भी वंशावली लिखने की परम्परा प्रचलित रही है। मुहतां कछावता री वंशावली तथा ओसवाल वंशावली इसके सुन्दर उदाहरण हैं, जो हस्तलिखित प्रतियों के रूप में अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। गद्य में धारावाहिता का गुण प्रकट करने के लिए पुरोहित वंशावली (अजैन) को लिया जा सकता है। यथा—

"हरीपुर सभी के महरबान स्वामी हुवा सो आलरवाजी खोह का परबत मैं तपस्या कर रह्या छैं सो उठै प्रोहीत हर राम जी गाया चरावा ज्याय छा सो कोई दीन दीपमालिका के महरवान स्वामी गुफांबार आया छा सो हरराम जी नैं दरसण हुवा पाछै यही ठोर हररामजी नीत्य जाता रह्या आपणै घर से रसोई नीत्य ले जाता सो स्याम ने जीमाय देता ई भांति दूसरी दीपमालीका आई जदी

1. मुंहता नैणसी री ख्यात से उद्धृत।
2. डा० शिवस्वरूप शर्मा 'अचल' राज० गद्य साहित्य, उ० और वि. पृ० 67।
3. डा० भानावत, राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियां, पृ. 3 (चार्ट)।

महरवान जी आधी राती कै समये हर राम जी कर्ने लक्ष्मी जी महरवान स्वामी भेजी छै सो थारे रहस्यु जद हर रामजी कह्यो प्रस पीढ़यां दर पीढ़यां रहे जद तो आव ना तरोन (नही तो) ओठी ही चली जा जद फेर मेहरवाने स्वामी के पास जाय हकीकत कही जदी महरवान स्वामी कह्यो इतनी बात का वचन हर राम सूं लै अर पीढ़यां रहवो कर सो।"[1]

वंशावली 19वीं शताब्दी की प्रतीत होती है तथा भाषा ढूंढाड़ी से प्रभावित है। उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग प्रभाव के कारण हुआ है। वाक्य छोटे छोटे हैं किन्तु विराम चिन्ह आदि के अभाव मे रचना मे कोई आकर्षण एवं सौन्दर्य प्रतीत नहीं होता। कथात्मक शैली में धारा प्रवाहिकता अवश्य है।

यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्रावकों के वंशों और उनके महापुरुषों के नाम तथा विवरण एवं उनके द्वारा सम्पादित महान् कार्यों को जैन आचार्य वंशावली के रूप में लिखते थे, अतः इसी कारण जैन धर्म सम्बन्धी जैनाचार्यों की वंशावलियां अधिक मात्रा मे मिलती हैं। पीढ़ियों एवं वंश परम्परा का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख उत्पत्ति ग्रन्थों की परम्परा में भी होता था। ये उत्पत्ति ग्रन्थ मात्र इसी उद्देश्य के लिए लिखे जाते रहे हैं। इनका रचना शिल्प ठीक वंशावलियों की तरह ही होता था।

24. हाल-हगीगत, याददास्त एवं तहकीकात :

हाल-हगीगत एवं याददास्त लिखने की परम्परा मुगल बादशाहों के प्रभाव से राजस्थानी गद्य मे प्रादुर्भूत हुई। ये परम्पराएं अपने आप में कोई नवीन नहीं है अपितु ऐतिहासिक घटनाओं का सविस्तार वर्णन इनमें होता था। ऐतिहासिक एवं अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों को स्मरण एवं जीवित रखने के लिए इन परम्पराओं का विकास हुआ। यह परम्परा बादशाहों के दरबार मे प्रचलित होकर धीरे धीरे देशी राजाओं के यहां भी ख्यात परम्परा की तरह विकसित हुई। बादशाह औरंगजेब री हकीकत, दिल्ली रै पातशाहां री याद, सांखला महिपा सूं जागलू लियो तैरो हाल, बीकानेर री हकीकत, भाटियां री हकीकत एवं जैसलमेर रै देसरी हकीकत आदि राजस्थानी ऐतिहासिक गद्य की महत्वपूर्ण हस्तलिखित रचनाएं हैं। मुगल बादशाहों के हाल-हगीगत उनके सन्दर्भ ग्रन्थों में तथा स्वतन्त्र रूप से भी लिखे गये हैं जबकि देशी राजा महाराजाओं के हाल-अहवाल उनकी विशिष्ट ख्यातों में भी लिखते हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का जो उल्लेख ख्यातों में सामान्य रूप से होता है वही इन परम्पराओं में विशिष्ट रूप से अंकित किया जाता है जिनमे कल्पना का प्रयोग नही के बराबर होता है। मात्र तथ्य और सत्य को भी स्थायित्व प्रदान किया जाता है।

---

[1] लेखक अज्ञात, ह. लि. प्रति, राजस्थान प्राच्य

ग्रादि दास्त (याददास्त)

स्मरण रखने के लिए नोट-रूप में लिखी जाने वाली रचना को ग्रादिदास्त कहते थे, जिसमे कथा का प्रवाह भी होता था। उदाहरणार्थ—

"खांन देस रो नांम ग्रागे सावर हुतो, सु साराजेहां पातसाहरै विखै मांहै नीसरियो हुतो। सु मालक मलकंवर रै तो इतरो ठीक हुतो जु हिन्दुस्तानी कोई गढ़ में रासतो नहीं। ढूंढ काढतो, सु पेराण न पावे। ताहरों पछै खांनदोरा एको तुरकणीं नूं जायणं मिलियो ने कह्यो—जु मोनूं मलकंवर मैं जायणं वेच। ताहरों तुरकणी जायणं वेचियो। गढ मांहै वड़ियों। सरव गढ़रां भेद लियो। लेयनै जद साहजिहां टीकै वेठो, तद जाय मिलियो। सरव हकीकत कही।"[1]

राजस्थानी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से रतलाम, सैलाणा, सीतामाऊ, जाववो, ग्रावभरो, किसनगा, ईडर, यां री याददास्त उपयोगी है।

विगत

ऐतिहासिक तथ्यो को विस्तार से लिखा जाता था। यह भी एक प्रकार से ऐतिहासिक टिप्पण मात्र है जिसमें बीती हुई घटनाओं का उल्लेख किया जाता है किन्तु इनका कोई पृथक शैलीगत महत्व नहीं है।

राजाओं की विगत की नामावली :

(बीकानेर रै चंणियां री विगत नै वीजी वांता)

श्री पातसाहा दिल्ली बैठारी विगत छै ॥

1. राजा युधिष्ठिर बरप 63 द्वापुर में 60 कलयुग में 6/8
2. राजा परीक्षा बरप 60
3. राजा जन्मेजय बरप 84 ॥ 5 ॥
4. राजा ग्रश्वमेघ बरप 82 । 2
5. राजा ग्रद्र्ं सोम बरप 80 ॥ 4

बरस मास दीन घड़ि रा जसपाल तुवंर
पीडी बरस 313 तुंवरा दे राज गयो
दीली छुटी चोहाणा लीवो राज कीयो संवत 1235
मु० बरस 315 ग्रासोज वदि 6 ॥
(ग्रनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, ह० लि० प्रति)

चारण कवियों तथा मुगल बादशाहों के आश्रय मे लिखी गयी ग्रनेक विगत राजस्थानी गद्य में मिलती हैं। इनका महत्व केवल ऐतिहासिक दृष्टि से है। साहित्यिक दृष्टि से ये इसलिए महत्वपूर्ण नहीं हैं कि इनका गद्य ख्यातों तथा वातों से मिलता हुआ है। उर्दू तथा फारसी के शब्दों की भरमार है तथा एक निश्चित

1-2 ह० लि० प्रतियां–रा० प्रा० शो० सं०, जोधपुर।

परम्परा मे हो लिखी जाती हैं। कहीं-कहीं कुछ स्थल भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से अवश्य ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं, जैसे—

29. शैली में नाटकीयता एवं संवादात्मकता :

"पडीहार नागारजन रै बेटा न हुता। तरै जोगी 1 सोय आयो तिण री इण सेवा कीवी। जोगी प्रसन्न हुवो। कहो-कासूं चाहै छै ? तरै इण कहो-माहरै बेटो नहीं। तरै कहो-फल इ हूं तो नु देईस। पिण तिण माहे एक हूं लेईस। तरै नागारजन वात कबूल कीवी। जोगी ग्रोवा 3 दीया बेटा 3 वाई 2-3 रै हुआ। वरस 10 जोगी फिर आयो। वेटा 3 दीठा। नागारजन मुं मिलियो। राणियां सुणीयो जोगी आयो छै। तरै नाहड़राव री मां जाणियो बेटो सखरो माहारो छै, ओ लेसी। तरै इण नाहड़राव नुं लेने खोलडै नाहड़सर ले आई। छानो राखीयो छै। पछै जोगी वांसो आयो, पछै इणरी मां नाहड़राव नु ले अजमेर आई, मोटो हुवो। अजमेर रा धणी रो चाकर हुवो। मुजरो पोहतो, गाव 1 दीयो।"[1]

भाषा पश्चिमी राजस्थानी के निकट की है। खड़ी बोली हिन्दी का प्रभाव भी वाक्यों में स्पष्ट प्रकट होता है। जैसे-'जोगी फिर आयो।' अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग बराबर हुआ है। याद, याददास्त अथवा आदिदास्त लिखने की परम्परा राजस्थानी गद्य में ऐतिहासिक ख्यातों के अन्तर्गत ही अधिक रही है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी बात या घटना को विस्तृत रूप से लिखने के लिए याद के तौर पर लिखा हुआ उसका संक्षिप्त रूप ही याददास्त अथवा आदिदास्त कहलाता है। ये रचनाएं प्राय: दफ्तर एवं व्यक्तिगत बहियों अथवा ख्यातों मे ही लिखी जाती थी।

ऐतिहासिक गद्य साहित्य के अन्तर्गत जैन लेखकों ने पट्टावली एवं गुर्वावली सम्बन्धी साहित्य की रचना भी की है। पट्ट-परम्परा एवं गुरु-परम्परा का ऐतिहासिक एवं क्रमिक उल्लेख इन्हीं रचनाओं मे किया गया है। जैन आचार्यों के जीवन-काल, उनकी विशिष्ट सेवाएं, शिष्य परम्परा एवं उनके चमत्कारो का यथातथ्य वर्णन इनमे मिलता है। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा मे भी यह परम्परा प्रचलित रही है। इनमे विषय एव रचना का क्रम प्राय: एकसा होता है। अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर मे अनेक हस्तलिखित प्रतियो के रूप मे पट्टावलिया एवं गुर्वावलियां मिलती हैं जिनमें नागौरी लुंकागच्छीय पट्टावली, खरतर गच्छ पट्टावली एवं खरतर गच्छ गुर्वावली विषय-विस्तार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में जन प्रचलित भाषा का प्रयोग ही किया जाता था; चमत्कार-प्रदर्शन के लिए कहीं-कहीं अलौकिक तत्वों का प्रयोग अवश्य होता था। भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है; जैसे—

---

1. मारवाड़ रा परगना री विगत-मुहणोत नैणसी. ख्यात [illegible]

'जिन हंस सूरितइ वारइ सं.1566 श्री शांति सागराचार्य थकी आचार्य गच्छ जुग्रउ थग्रउ। तेहनेइ पाठि श्री जिनमाणिक्य सूरि सं० 1580 भाद्रवा सुदी 9 वलही देवराज कारित नंदी महोत्सवइ। श्री जिनहंस सूरइ आपणइ हाथि आप्पा।'[1]

ऐतिहासिक गद्य के सन्दर्भ मे ही राजस्थानी गद्य का रूप जन्मपत्रियों, प्रशस्तियों आदि में भी मिलता है। जन्मपत्रियों का गद्य भी एक फोरमल रूप में होता था। अभिलेखीय गद्य साहित्य आज भी अनेक स्रोतों में सुरक्षित मिलता है। धार्मिक स्थलों पर अंकित प्रशस्ति लेख एवं शिलालेख राजस्थानी गद्य की प्राचीनता की ओर संकेत करते हैं। इन शिलालेखों में 13वीं शताब्दी तक का राजस्थानी गद्य प्राप्त होता है, किन्तु यह अपभ्रंश से विशेष प्रभावित है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी अधिक मिलता है। यह गद्य भी एक बंदे-बंधाए (फोरमल) रूप में ही मिलता है, भाषा-शैली की दृष्टि से कोई विशिष्टता नहीं मिलती। राजस्थानी गद्य के वीर विनोद नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ मे इस प्रकार के अनेक शिलालेखों का उल्लेख किया गया है। ऐतिहासिक गद्य साहित्य के अन्तर्गत ही जैनाचार्यों में गद्य काल की तरह प्रवाहपूर्ण भाषा शैली मे 'गुर्वावली' शीर्षक के अन्तर्गत पट्टधर आचार्यों का वर्णन करने की परम्परा थी। यह गद्य अन्त्यनुप्रास युक्त होता था, जिसे समास, प्रधान रचना शैली भी कह सकते हैं। उदाहरणार्थ—(अपने गुरु की प्रशंसा के सन्दर्भ में)—

'जिम देवमाही इन्द्र, जिम ज्योतिश्चन्द्र माहि चन्द्र।
जिम वृक्ष माहि कल्पद्रुम, जिम रक्त वस्तु माहि विद्रुम।
जिम नरेन्द्र माहि राम, जिम रूपवन्त माहि काम।
जिम स्त्री माहि रंभा, जिम वादित्र माहि भंभा।''[2]

(यह आलंकारिक वर्णन इसी-क्रम मे चलता है)।

ऐतिहासिक गद्य मे ख्यातो के अन्तर्गत ही दैनिक चर्या–कार्य, स्थान, दिनांक का समग्र वर्णन 'तवारीख' मे किया जाता था। ख्यातों में परगनों एवं गांवों के प्रमुख स्थानों के विवरण में भी इस पद्धति का प्रयोग होता था। तवारीख में वार्ताओं आदि को भी स्थान दिया जाता था। 'तवारीख जलाल बुबना री'[3] ऐसी ही ऐतिहासिक गद्य रचना है जिसमें दोहा, चौपाई पद्धति से साथ-साथ वार्ताओं का रूप कथात्मक शैली में मिलता है।

30. दफ्तर बही (डायरी शैली):

जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को शासक वर्ग अपनी ख्याति मे अंकित कराते थे। जिनसे इतिहास को अनेक वास्तविक आधार एवं तथ्य मिलते थे किन्तु प्रतिदिन

1. ह० लि० अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर (खरतर गच्छ पट्टावली)।
2. गुर्वावली, जिनवर्द्धन, अ. जै. पु बीकानेर।
3. ह. लि. प्रति, राज. पुरातत्त्व विभाग, बीकानेर।

की घटनाओं (दैनिक जीवन क्रम) को सुरक्षित रखने के लिए राजस्थान में 'दफ्तर वही' लिखने की परम्परा प्रचलित थी। यह परम्परा मुगल काल में अधिक विकसित हुई तथा जैन धर्म के आचार्यों के यहां भी यह प्रचलित रही। इन वहियों में महत्व-पूर्ण उत्सवों (विवाह) आदि का विस्तृत विवरण होता था। राजस्थान पुरातत्व विभाग, बीकानेर में ऐसी हजारों बहियां सुरक्षित हैं जिसमें विभिन्न राजघरानों के दैनिक जीवन का विवरण राजस्थानी गद्य में अंकित है। आज हमारे यहां दैनिक डायरी लिखने की जो परम्परा प्रचलित है वह इसी का विकसित रूप है। उदाहरण के लिए एक वही का संक्षिप्त विवरण यहां दिया जा रहा है, जिसमें यह सिद्ध होता है कि राजस्थान के राजघरानों में राजस्थानी भाषा को दैनिक व्यवहार तथा प्रशासकीय क्षेत्र में कितना सम्मान प्राप्त था।

31. ब्याह की वही :

जोधपुर श्री जी साहिबा अजीतसिंघ जी वेटी सूरज कंवर री शादी : महाराजा श्री मानसिंह जी री बाई री शादी व अन्य शादियों का वर्णन सन् 1776—

"महाराजा श्री अजीतसिंघ जी रे राणी व भटीयांणी जी जैसलमेर रा रावल अमर सिंहजी री बेटी तिणारे बाई सुरज कंवर बाई तिणा नैच्यां विर राजाजी श्री सवाई जै सिंघ जी राजा विसन सिंघ जी रा बेटा वकाजी सिंघ जी रा पोता तिणा ने परणाय जोधपुर सुर सागर विराजी तरें विहाव कीयो।

× × × ×

विनायक बीजा पोर ऊपर घणोरा अमला मे कैंउ न गया आधे खालसारी ने राज बीकांरी व कारणीत्रा व्यास प्रोहित जोसी वेदीया कोटवाल मुसर पूणनां नी दोढी का दोढी घर नै सारा ही राज लीको रा कामदार ने नगारा, असवारी ऊपरी हाथी ऊपर।"[1]

इसके पश्चात् बारात व उसके स्वागत तथा साज-सज्जा, दहेज (दाइजा) आदि का समग्र विवरण विवरणात्मक शैली मे प्रस्तुत किया गया है तथा उत्सवो का चित्रण वर्णनात्मक शैली मे किया गया है।

आधुनिक राजस्थानी गद्य मे लिखी गयी महाराजा श्री जसवन्त सिंह जी की डायरी या दैनन्दिनी[2] में सन् 1884-85 (एक वर्ष) का पूर्ण वृतान्त दिया गया है। वर्ष भर मे कौन-कब आया तथा राज्य से कौन कब-कहा गया? आदि का सम्यक विवरण प्रस्तुत किया गया है। विशेष घटनाओ के विवरण में विवरणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। राजघरानो की दफ्तर वहियों से उनमे जीवन-क्रम, व्यवहार तथा तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर पूर्ण जानकारी प्राप्त होती

---

1. ह. लि. वही—जोधपुर के राजा अजीतसिंह जी की (राज. पु. वि., बीकानेर)।
2. ह. लि. राज. पु. वि., बीकानेर।

है । दफ्तर बहियो के अनुरूप ही वकीलो की बही, हकीकत बही एवं हथ बही लिखने की रीति भी प्रचलित थी । दैनिक व्यावहारिक कार्यक्रम, विधि आदि के उपयोग में इन बहियों का महत्त्व था । तलब कराना, विवरण लिखना तथा स्मरण रखने हेतु कोई सामग्री लिखना आदि इन बहियों के मूल विषय थे । भाषा शैली की दृष्टि से इनमे व्याकरण सम्बन्धी अनेक अशुद्धियां मिलती है, जैसे—कही क्रिया शब्द लुप्त है तो कही कारक । क्रम बद्धता का अभाव बराबर खटकता है तथा पुनरावृत्ति (रिपिटेशन) का दोष सबमें मिलता है । व्याकरण–दोष का कारण यह है कि इन्हें लिखने वाले कम पढ़े लिखे कर्मचारी होते थे जिनका ध्यान अभिव्यक्ति की स्पष्टता पर न होकर तथ्यो का संचय करने मे होता था ।

32. उत्पत्ति ग्रन्थ :

यों तो वंशावली एवं पीढ़ियावली के सन्दर्भ मे वंशों की उत्पत्ति आदि पर प्रकाश डाला जा चुका है किन्तु यह परम्परा जैन आचार्यों के यहां ग्रन्थ रूप में भी प्रचलित थी। कौनसा धार्मिक विचार अथवा मत कब विकसित हुआ एवं उसके प्रवर्त्तक कौन थे ?–आदि का विस्तृत विवरण इन ग्रंथों में किया जाता था । उत्पत्ति ग्रन्थ मूलतः किसी मत अथवा गच्छ की उत्पत्ति का ऐतिहासिक अध्ययन कहे जा सकते हैं ।

प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है कि राजस्थानी का प्राचीन गद्य साहित्य विविध रूपों में रचा गया है । ऐतिहासिकता के साथ-साथ कलात्मक गद्य साहित्य भी बात, वचनिका, दवावैत, सिलोका एवं विविध विषयक विधाओं में मिलता है । 'बात' साहित्य का शैलीगत मूल्यांकन किया जा चुका है, किन्तु शेष विधाओं का साहित्यक एवं कलात्मक अध्ययन भी आवश्यक है । राजस्थानी साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, फारसी, उर्दू एवं हिन्दी भाषा में भी कलात्मकता का गुण पाया जाता है । हिन्दी गद्य मे श्री लल्लू लालजी के 'प्रेम सागर' ग्रन्थ मे कलात्मकता के दर्शन होते हैं ।

33. वचनिका :

राजस्थानी गद्य साहित्य में कलात्मकता उसकी मौलिक विशेषता है । वचनिका, सिलोका, वर्णक ग्रन्थ एवं बात साहित्य मे यह कलात्मकता राजस्थान-प्रदेश की संस्कृति को लेकर प्रकट हुई है । वचनिका के काव्य पक्ष को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि पद्य से गद्य की ओर आने का प्रयत्न कर रहा है । 'वचनिका' शब्द की उत्पत्ति 'वचन' शब्द से हुई प्रतीत होती है तथा ऐसा लगता है मानो साहित्य की तरह 'वचनिका' भी प्रारम्भ मे मौखिक परम्परा में प्रयुक्त हो हो । चारण कवि अपने आश्रय दाताओं का जो चरित्र गान करते चमत्कार की योजना से अधिक सरस एवं कलात्मक बना देते वर्णन चारण कवियों के वचन से जब स्रोताओं के सम्मुख प्रकट वचनिका के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा हो । जो भी

कारण 'वचनिका' शीर्षक साहित्य में ऐतिहासिक तथ्यों का यथावत् विवरण नहीं मिल सकता। डा. भानावत ने वचनिका को तुकान्त गद्य और अतुकान्त गद्य भी कहा है।[1] वचनिका गद्य रचना है किन्तु यह चम्पू से मिलती है। गद्य के साथ-साथ इसमें पद्य का भी प्रयोग मिलता है। यह विधा राजस्थानी गद्य की एक कलात्मक रचना पद्धति है, जिसमें राजस्थानी की अन्त्यानुप्रास शैली, फारसी की अनुप्रासात्मक गद्य शैली एवं प्राकृत की कथाओं-आख्यायिकाओं के गद्य का विशेष प्रभाव प्रकट होता है। वचनिकाएं साहित्यिक दृष्टि से दो रूपों में मिलती हैं, 1. गद्य-बद्ध-कुछ छन्दों के युग्म वचनिका के रूप में जुड़ते चलते हैं तथा मात्राओं का कोई नियम नहीं होता। 2. पद्यबद्ध–इसमें वारताओं का प्रयोग किया जाता है तथा यह तुक युक्त गद्य पद्यति है जिसमें कभी-कभी आठ-आठ मात्राओं में तुक युक्त पद्धति तथा कभी-कभी बीस-बीस मात्राओं के तुक-युक्त गद्य खंड होते हैं। वचनिका पद्धति का प्रयोग जैन और अजैन दोनों ही विद्वानों ने किया है। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की दो प्रसिद्ध जैन वचनिकाएं–जिन समुद्र सूरि की वचनिका एवं शांति सागर सूरि की वचनिका मिलती हैं। दोनों रचनाओं में अन्त्यानुप्रास गद्य पद्धति का प्रयोग हुआ है। स्थल-स्थल पर संस्कृत के श्लोक दिये गये हैं तथा रचनाओं में लेखकों के नामों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। शिल्प की दृष्टि से माणिक्य सुन्दर सूरि कृत 'पृथ्वीचन्द्र वाग्विलास' भी वचनिका सा प्रतीत होता है। जैनाचार्यों द्वारा रचित बहुत ही कम वचनिकाएं प्रकाश में आयी हैं।

राजस्थानी भाषा के रीति ग्रन्थ 'रघुनाथ रूपक' में गद्य के दो भेदों का उल्लेख किया है। प्रथम–वचनिका एवं द्वितीय दवावेत। दोनों के भी दो दो भेद स्वीकार किये हैं। इसी सम्बन्ध में आगे लिखा है—"दोय भेद वचनका रा एक पद बन्ध दूजी, गद-बंध, सु गद बंध दोय भेद एक तो वारता दूजी वारता में मोहरा राखणा। दोय भेद पद बंध वचन का है–एक तो आठ मात्रा रो पद वै, दूजो.पद-बंध बीस मात्रा रो पद हुवै।[2] रघुनाथ रूपक में गद्य बंध के स्थान पर पद बंध एवं पद बंध के स्थान पर गद्य बंध का प्रयोग किया है जिसे श्री नाहटाजी एवं श्री आलमशाह खान ने लेखक का प्रमाद कहा है। वचनिका और दवावेत के अन्तर को श्री नाहटा भी स्पष्ट नहीं कर सके हैं। 'रघुनाथ रूपक' टीकाकार श्री मेहताब चन्द्र खारेड़ के मतानुसार वचनिका कुछ लम्बी और विस्तृत होती है और गद्यबंध में तो कई छन्दों के छोटे अर्थात् मुग्ध वचनिका रूप में जुड़ते चले जाते हैं। श्री आलमशाह खान इस धारणा को उचित नहीं मानते। वस्तुतः वचनिका की परम्परा दवावेत लिखने की परम्परा से अधिक प्राचीन है।

---

1. डा. नरेन्द्र भानावत, राज. साहित्य : कुछ प्रवृत्तियां, पृ. 10।
2. रघुनाथ रूपक (मुद्रित) टीकाकार-मेहताब चन्द्र खारेड।

वचनिका विषय उपलब्ध सामग्री के आधार पर वचनिकाओं का प्रारम्भ 15वीं शताब्दी में हो चुका था जबकि 'दवावेत' विषयक गद्य परम्परा 18वीं शताब्दी की देन है। श्री नाहटा जी दवावेत की परम्परा को अरबी-फारसी से सम्बन्धित मानते हैं। वचनिकाओं की भाषा शुद्ध राजस्थानी है जिनमें उर्दू-फारसी में शब्द मात्र प्रभाव के कारण ही आये हैं। कुछ विद्वान वचनिका और 'वारता' को एक ही रूप मे स्वीकार करते है किन्तु दोनों के शिल्प मे पर्याप्त अन्तर है। जैन लेखकों ने वचनिका का प्रयोग सामान्य गद्य में रचित टीका, अनुवाद अथवा व्याख्या के अर्थ मे अधिक किया गया है तथा उनकी वचनिकाएं चम्पू सी प्रतीत होती है। 16वीं शताब्दी से पूर्व की समस्त वचनिकाओं में गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रभाव अधिक दिखाई देता है किन्तु इसके पश्चात् लिखी गयी रचनाओं मे गद्य का प्रयोग अधिक मिलता है जिनमें तुकान्तता का गुण है। जिन समुद्र सूरि तथा शांतिसागर सूरि की जिन दो जैन वचनिकाओ का पहले उल्लेख किया गया है उनका प्रकाशन 'राजस्थानी' भाग 2 मे हो चुका है। जिन समुद्र सूरि की वचनिका ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है। इसमें जैसलमेर के राव सातल के यश और कीर्ति का सुन्दर वर्णन प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वर्णनात्मक शैली मे किया गया है। विभिन्न उत्सवों का वर्णन भी बहुत सुन्दर बन पड़ा है। शांति सागर सूरि की वचनिका में खरतर गच्छाचार्य की सागर सूरि तथा राव जोधा के पुत्र श्री सूर्यमल का यश वर्णन एवं जोधपुर नगर के अनेक उत्सवो का चित्रण बड़े ही कलात्मक ढंग से वर्णनात्मक शैली मे किया गया है। दोनो ही वचनिकाएं अन्त्यानुप्रास युक्त गद्य में लिखी गयी हैं जिनमें अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है तथा संस्कृत के शब्दो का प्रयोग भी व्यापक रूप मे हुआ है।

जति जैचन्द्र द्वारा मारवाड़ के कुचेरा ग्राम मे सम्वत् 1776 में रचित 'माताजी री वचनिका'[1] भी जैन वचनिकाओ में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हस्त लिखित प्रति के प्रारम्भ में ही रचना काल की ओर संकेत किया गया है। यथा—

संवत सत्तर छिहुतरे, आसू सूद तिथ तीस ।
मुरधर देस कुचेर पुर, रचे ग्रन्थ करि प्रीय ॥

प्रस्तुत वचनिका मे शक्ति के विस्तृत स्वरूप और तत्कालीन समाज में प्रचलित आराधना को दुर्गापाठ के रूप मे काव्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया है। देवी के विराट रूप, उसके प्रभाव एवं विभिन्न चरित्रों के माध्यम से असुरों का दलन आदि प्रसग मौलिक एवं ओजपूर्ण ढंग से चित्रित किये गये हैं। शुंभ निशुंभ के अत्याचारों से त्रस्त देवताओं की रक्षार्थ देवी सुकुमार रूप धारण करके दोनों दुष्टों का दलन करती है। कवि ने शक्ति को आदि शक्ति के रूप में प्रकट किया है। प्रारम्भ में देवी

1. ह० लि० प्रति-राज० शोध संस्थान, जोधपुर।

स्तुति तथा उसके पश्चात् कथा के प्रवाह में वचनिका की रचना की है। शुंभ के उमरावों की मस्ती के जीवंत चित्रण का कवि ने कल्पना के द्वारा सहज चित्रण किया है।

'त्या उमरावा रा बखांण। लोह री लाख। चालता कोट। अंम्बर चोग्रा। अनेक भारथ किया। भांति-भांति रा लोह चाखिया ने चखाया। ईसा दुबाह, मांण विराजमान हुआ। तिण विरियां री सोभा, किण सूं कहणी आवै। तथापि जांणे करि संभया फूल फूल रही होई। तिण माहे बादल भाति भांति रा निजर आवै। तिण भाति केइव तो गाहड़मल झोखा खाई रह्या छै। केइक डाकी जमदूत, भूखिया नाहर ज्यूं हुंकार करने रह्या छै।'

यहा धकचाला, चाचरां, उथापरारमा (अपदस्त करना) एवं अवसाण आदि ठेठ राजस्थानी के शब्द हैं जो मेवाड़ी एव मारवाड़ी सभी बोलियों में प्रचलित हैं। इसमें अपभ्रंश का प्रभाव नहीं प्रकट होता। 'छै' का प्रयोग राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत ही हुआ है। आदि से अन्त तक इस कृति मे ओज गुण का एकसा निर्वाह हुआ है। तथा भाषा की सजीवता तथा प्रवाह राजस्थानी भाषा के अनुरूप ही है। कही कहीं काव्यात्मक शैली का प्रयोग किया है जो रोचक एवं सारगर्भित है। शैली को स्थानीय विशेषताओं से अलंकृत किया गया है। स्थल-स्थल पर शैली में मुहावरों का प्रयोग किया गया है, जैसे—असुरा माथो जोर उपाडियो, अजेरां ने जेर किया, सुरां रा ग्रब गालिया, अवाड़ो हाथ चढ़ियो, पहाड़ ने जल चाढा एवं घणा सूरा रा चाचरा री लाज मेटां आदि। लाज मेटना, ग्रब गालना आदि राजस्थानी भाषा के अपने मौलिक मुहावरे है। गद्य शैली मे योद्धाओ के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा-गाहड़मल, कोटां गिलण, रण दूल्हा, मूंछाल, वेड़ी गारा, गहली रो बेहड़ो, फोआ री मोहरी, हठियाल आदि।

चारण परम्परा में रचित शिवदास कृत अचल दास खीची री वचनिका (स० 1480) तथा खिड़िया जगा कृत वचनिका राठोड़ रतनसिंघ जी री महसेदासोत री (सं० 1715) राजस्थानी गद्य साहित्य में अपना विशेष महत्व रखती हैं। दोनो ही वचनिकाओ का प्रकाशन 'राजस्थानी वचनिकायो' शीर्षक के अन्तर्गत श्री आलमशाह खान ने किया है। इनकी हस्तलिखित प्रतियां अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर मे सुरक्षित हैं। अचलदास खीची री वचनिका का सपादन इससे पूर्व सन् 1960 में श्री दीनानाथ खत्री ने भी किया था। यह रचना कृति चारणी गद्य साहित्य की प्रथम कलात्मक सफल कृति है जिसे डा० तेसीतोरी ने 'दी ग्रेट क्लासिकिल माडल' की संज्ञा दी है।[1] वचनिका में शिवदास चारण ने केवल अपने आश्रयदाता अचलदास खीची के अन्तिम युद्ध का वर्णन किया है एव उनका यशोगान किया है। माडू के मुसलमान शासक द्वारा गागरोण पर आक्रमण करने पर युद्ध में विजय का

1. डा० तेसितोरी-रा० रतनसिंघजी महसेदासोतरी वचनिका, भूमिका, पृ० 6।

आसार न देखकर अचलदास वीरगति को प्राप्त होते हैं तथा शेष राजपूत एवं रानियां जौहर धारण करती हैं। वंश की रक्षा के लिए राजकुमारों को संरक्षण देने एवं अपने आश्रयदाता की ख्याति को अमर करने के लिए शिवदास जीवित रहना उचित समझता है। डा० तोस्सितोरी लेखक को अचलदास का समकालीन कवि भी मानते हैं। इस वचनिका का रचनाकाल संदिग्ध ही माना जा रहा है। डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार यह युद्ध वि० सं० 1492 के आस-पास हुआ था क्योंकि महाराणा मोकल का वध वि० सं० 1490 में हुआ था।[1] डा० मोतीलाल मेनारिया ने इस युद्ध का समय वि० सं० 1485 माना है जबकि श्री सीताराम लालस एवं तोस्सितोरी ने 15वीं शताब्दी स्वीकार किया है। श्री आलम शाह खान ने दोनों ही मतों को अस्वीकार कर स्पष्ट तथ्यों के आधार पर गागरोण के युद्ध को वि. सं. 1480 में माना है।[2] चूंकि वचनिका की रचना इस युद्ध के बाद हुई है; अतः यह तो स्पष्ट है कि इसकी रचना गागरोण युद्ध (वि. सं. 1480) के बाद हुई है। रचना का काल संवत् चाहे संदिग्ध रहा हो, किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि साहित्य की दृष्टि से वचनिका की कथा मे ओज एवं कवित्व का सुन्दर एवं सफल निर्वाह हुआ है। वचनिका मे एक ओर जहा प्राचीन राजस्थानी गद्य की परम्परा के दर्शन होते हैं, वहा दूसरी ओर चारणी गद्य का स्वरूप भी परिलक्षित होता है। प्राचीन गद्य के रूप में वचनिका के गद्य पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव है। गद्य की प्रौढता को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि इस कृति की रचना 15वी शताब्दी मे ही हुई है।

वचनिका अन्त्यानुप्रास या तुकान्त गद्य में लिखी गई है। राजा का परिचय उसके गुणों के द्वारा इन शब्दों में प्रकट किया गया है—

'ते राजा नरसिंघ सारीखा। बत्तीस सहस साहण रिण खेतिमेल्हि चाल्यउ। मदोनमत हस्ती मेल्हि चाल्यउ। आपण जाइ समदइ घाल्यउ। समंद जाइ छोडउ परवालियउ। अनेक राइमद गलित करि मेल्हया।'[3]

गद्य में तुकान्तता का सफल निर्वाह हुआ है तथा वाक्य छोटे छोटे किन्तु अभिव्यंजना युक्त हैं। चाल्यउ, घाल्यउ मे अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट ध्वनित होता है। तुकान्तता से गद्य में भी काव्यात्मकता का गुण उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ—'वडर पातिसाह हुआ आला आगिलेरा, अर भला भलेरा।' तुक के साथ-साथ समासिक ध्वनि एवं राजस्थानी के वयण सगाई अलंकार का सफल निर्वाह हुआ है। गद्य शैली में काव्यात्मकता का गुण अलंकारों के सुन्दर प्रयोग के साथ परिलक्षित होता है—

1. डा० ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पहली जिल्द, पृ 278।
2. श्री आलमशाह खान, राजस्थानी वचनिका, पृ. 25-26।
3. सं. दीनानाथ खत्री, 'अचल दास खींची री-वचनिका', पृ. 6।

'पगि-पगि पउलि-पउलि को गज-घटा । ती उपरि सात-सात सइ घनक-धर सांवठा । सात सात ओलि पाइक की बइठी, सात सात ओलि पाइक की उठी । खेड़ा उड़ए मुंद फरफरी चुंइ चकि ठांइ-ठांइ ठठरी । इसी एक त्या पटउडि चत्र दिसि पडी, तिए वाजित-कइ निनादि घर आकास चहुहुड़ी ।'[1]

प्रस्तुत अवतरण की शैली में काव्यात्मकता के साथ साथ सामासिक पदावली का प्रयोग किया गया है। अनुप्रास एवं वयण सगाई अलंकार का योजना शैली को काव्यात्मक सौन्दर्य से अनुप्राणित करती हैं। तुकान्तता के साथ साथ भाषा शैली में सहजता एवं सरलता का गुण है जो अभिव्यक्तिगत प्रवाह से प्रकट हुआ है। संक्षिप्तता का गुण सर्वत्र विद्यमान है। वचनिका की शैली के सन्दर्भ में आलमशाह खान ने लिखा है, 'जैसे सरिता के स्वाभाविक जल के प्रवाह के साथ रजकण आगे बढ़ते चलते हैं और उसकी गति को प्रकट करते हैं उसी प्रकार वाक्य का प्रत्येक शब्द कवि की भावधारा के अनुसार अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करता हुआ, वर्ण्य विषय को स्पष्ट और अग्रसर करता हुआ चलता है।'[2]

अचलदास खींची री वचनिका में कृत्रिमता का पूर्ण अभाव है। भाषा पुरानी राजस्थानी है। प्रचलित परम्परा के अन्तर्गत वीर रसात्मक ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग नही किया गया है। कही-कही तत्सम एवं तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। भाषा शैली मे विदेशी शब्द-आलमशाह, मुकाम, सिकार, साह आदि का भी प्रयोग हुआ है। वचनिका की गद्य भाषा के सम्बन्ध मे डा. हरीश का मत है, 'अचल दास री वचनिका में ठीक उसी प्रकार का गद्य भाग मिलता है, जैसे पद्मनाभ के 'कान्हड़दे प्रबन्ध महाकाव्य' में बीच-बीच मे गद्य भाग मिलता है।'[3] ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल मे विभिन्न ऐतिहासिक अथवा धार्मिक कथाओं को गद्य-पद्य शैली मे चित्रित करने की परम्परा रही होगी। गद्य वर्णन में कहीं कहीं अतिशयोक्ति पूर्ण एव कल्पना प्रधान अतिरंजना मिलती है, प्रमुखतः युद्ध वर्णन एवं हिन्दू राजाओं के वर्णन के अन्तर्गत। वीर रस सर्वत्र व्याप्त है। शब्दो मे अभिव्यजना सामर्थ्य एवं माधुर्यता का गुण विद्यमान है। वर्णनात्मक शैली की अधिकता है। स्थल स्थल पर गद्य भाषा मे बीस-हथ, भड़-किवाड़, वाली-भोली, गज-घटा, घर-आकास आदि सामासिक पदो का प्रयोग किया गया है।

खिड़िया जगारी कही 'राठोड़ रतनसिंघजी री महेसेदा सोत री वचनिका' भी चारणी साहित्य परम्परा की एक कड़ी है। कवि ने इस ग्रंथ के लिए एक अन्य नाम 'रासो रतन' दिया है किन्तु इसकी ख्याति वचनिका के नाम से हो है। इसका रचना काल भी विवाद का विषय बना हुआ है किन्तु ऐतिहासिक आधार पर उसकी

---

1. सं. दीनानाथ खत्री, 'अचल दास खीची री वचनिका', पृ. 21।
2. आलमशाह खान, राजस्थानी वचनिकाएं', पृ. 42।
3. डा. हरीश, आदिकाल का हिन्दी गद्य साहित्य, पृ. 193।

रचना धरमत के युद्ध के बाद अर्थात् सन् 1658 के बाद ही हुई थी। कृति में रतन सिंह का वंश वर्णन, शाही सेना का वर्णन, ऋतु वर्णन एवं युद्ध का सजीव वर्णन किया गया है। वर्णन प्रायः प्रसंगानुकूल एवं भावानुकूल है। स्थल स्थल पर वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण अवश्य बन गये हैं। सती वर्णन के अन्तर्गत रानियों के नखशिख का वर्णन किया गया है। युद्ध वर्णन में ओज, उत्साह का अखिल वेग है। पद्य की तुलना मे गद्य बहुत कम है। शैली प्रसाद एवं स्वाभाविकता के गुण से युक्त है। संस्कृत मिश्रित पदावली का प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। वर्णनात्मक शैली मे कहीं कहीं चित्रात्मकता है, यथा—

"तिणि वेला दातार झूंझार राजा रतन मूंछा कर घाति बोले। तरु आर तोले।........उजोणी खेत धारा तीरथ धणी रो काम सत्री री धरम साध बीजें। लोहारा बांह सेला रा धमका लीजें। खाडा री खाट खड़ि-झाट-झड़ि दण्डाहड़ि खेलिगं। पातिसाहा री गजघड़ा झडा ओझडा मारि ठेलिजे। पातिसाहा रै छत्र घाउ कीजे। पुरजा पुरजा हुई पड़ी जैं। बैकुण्ठ चढीजें। यूं बारहठ जसराज? हां महाराज। महाराज रा मनोरथ श्री महाराज पूरे। आखि आति ऊबरै। महाराज रा मुंसड़ा आगे लड़ा। टूट टूक हुई पड़ां।"

सवादात्मक गद्य शैली मे पद्य का सा सौन्दर्य है। शैली मे ओज उत्पन्न करने के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। शब्द चयन में लाक्षणिकता का गुण है। नाद सौन्दर्य एवं अलंकार आदि का भी लेखक ने पूर्ण ध्यान रखा है। वचनिका की भाषा ललित डिंगल है तथा तुकान्त गद्य शैली का सुन्दर उदाहरण है। उदाहरणार्थ—

"वरखा रित वरणी सरद रित कहणी,.............. हेमन्त रित लागी। सिसिर रित जागी। रूक रहिल वागी।" आदि। तुकात्मकता के सम्बन्ध में डा. हरिमोहन श्रीवास्तव का विचार है, "वचनिकाओं की इस तुकात्मकता का कारण मुसलमानों के आक्रमण से उद्भूत तथा उनकी फारसी की अनुप्रासात्मक गद्य शैली का प्रभाव नहीं, वरन् यह प्राकृत की कथा और आख्यायिका मे प्रयुक्त होने वाली गद्य शैली का परवर्ती विकसित रूप है। यह पूर्णतया भारतीय है।"[1] राजस्थानी गद्य साहित्य में ऐतिहासिक वचनिकाओं के अतिरिक्त विविध विषयक वचनिकाएं बहुत कम प्रकाश मे आयी हैं। विषय-वस्तु एवं रचना-शिल्प की दृष्टि से "परमार्थ वचनिका"[2] (1791) अवश्य ही उल्लेखनीय है।

अतः उपर्युक्त अध्याय के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि वचनिका गद्य मिश्रित काव्य है, जिसका प्रत्येक वचन अथवा वाक्य तुकान्त होने के कारण ऐसी रचना शैली का नाम वचनिका पड़ा। इस पद्धति के माध्यम से राज-

---

1. श्री हरिमोहन श्रीवास्तव, मध्यकालीन हिन्दी गद्य, पृ. 31।
2 लेखक-अज्ञात, ह. लि. प्रति (रा. प्रा. वि. शो सं., जोधपुर)।

स्थानी पद्य का प्रवाह गद्य की ओर अग्रसर होता हुआ प्रतीत होता है; इसी कारण वचनिका में गद्य के साथ साथ दूहा, छप्पय, कवित्त, कुंडलियां आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है। चारण कवियों के साथ साथ जैन कवियों ने भी इस परम्परा में साहित्य लिखा किन्तु शिवदास चारण को इस परम्परा का सर्वप्रथम लेखक स्वीकार किया जा सकता है। अन्त में यही कहना उचित होगा कि वचनिकाओं की परम्परा के माध्यम से भाषा प्राचीन आवरण त्याग कर नवीन रूप धारण कर रही थी। वचनिका के साथ साथ उसके दूसरे साहित्यिक रूप 'दवावैत' का साहित्यिक मूल्यांकन भी आवश्यक है।

34. दवावैत :

वचनिका और दवावैत संज्ञक रचनाएं सतुकान्त गद्य ही हैं जो देखने में 'चम्पू' सी प्रतीत होती हैं। दोनों ही विधाएं राजस्थानी गद्य की प्रौढ़ता की प्रतीक हैं। "दवावैत' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ दोनों ही संदिग्ध हैं। इस शब्द की उत्पत्ति न उर्दू शब्द कोष में मिलती है और न फारसी कोष में ही; फिर भी यह गद्य परंपरा 17वीं शताब्दी की हिन्दी में विकसित फारसी रचना है। दवावैत विषयक रचनाओं पर मुसलमानी प्रभाव प्रतीत होता है तथा उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रभाव भी भाषा में दिखाई देता है। श्री आलमशाह खान ने यह स्वीकार किया है कि 'दवावैत' का प्रयोग फारसी-उर्दू की एक एक विशेष रचना शैली "बैत" के ढर्रे पर हुआ है। ऐसी स्थिति में दवावेत का सम्बन्ध 'बेत' से मानना अनुचित नहीं होगा।[1] श्री मुहम्मद मुस्तुफा के अनुसार--'बैत' शब्द अरबी (पुलिंग) शब्द है जिसका अर्थ है—एक शेर या दो मिसरे (चरण)।[2] दवावैत में भी इसी सन्दर्भ में दो-दो समान तुक वाले गद्य खंड मिलते हैं। राजस्थानी गद्य में दवावैत पद्धति का प्रचलन विदेशी जातियों एवं साहित्य के प्रभाव से हुआ। यहां हमारा उद्देश्य इस शब्द की व्युत्पत्ति की शैल्य चिकित्सा न करके उसके साहित्यिक महत्त्व का आकलन करना मात्र है।

'दवावैत' विषयक रचनाएं जैन और अजैन दोनों ही विद्वानों ने लिखी हैं। जिन सुख सूरि, महारावल लखपत एवं जिनलाभ सूरि ने कुछ 'दवावैत' विषयक रचनाओं की सृजना की है। चारण लेखकों द्वारा रचित कृतियों में वर्णनात्मक गद्य के दर्शन होते है। वचनिका पद्धति की तरह युद्ध वर्णन, राजाओं के राज्य एवं वैभव का यथा तथ्य चित्रण इन चारणीय दवावैतों में किया गया है। राजस्थानी परम्परानुसार कहीं कहीं नखसिख वर्णन भी मिलता है। जैन लेखकों की अपेक्षा चारण पद्धति में लिखित दवावैतों में गद्य के साथ साथ पद्य एवं परम्परागत अलंकारों का विशेष प्रभाव प्रकट होता है। वचनिका की भाषा जहां शुद्ध राजस्थानी होती है वहा

---

1. श्री आलमशाह खान, राजस्थानी वचनिकाएं, पृ. 14।
2. मुहम्मद मुस्तुफा, उर्दू हिन्दी शब्द कोष, पृ. 459।

दवावैत की भाषा राजस्थानी से प्रभावित खड़ीबोली होती है। उदाहरण के लिए डूंगरसी बागड़ी कृत राजा जयसिंह की दवावैत की भाषा देखी जा सकती है—

"लखों लख पावते हैं, अगर के बगर कपूर के हिलूर। अम पद के चोरे, परमल के पूर। रोजदी के छिड़काव संदल सी रेल। कसमीरी की लपटें समीर की पैल। अमर के डंमर डबै की धूप। अंतर की बूहें साख जवादि के रूप।

× × × ×

आदम की क्या चले दलिद्र संवदि पड़ै। सपत दीप कबज कीनें, सपत दरिआवों डड दीनै। सूरवीरों के खेला लागत है लैसे, जम सेती जंग करें जैसे। पर जर कुलिग तिली की साज, वापस से कदम खगराज वाजा सूमो के ठौर कपड़े के नरम, चसमों के सिरें।"[1]

डूगर सी की भाषा और वाक्यों का गठन प्रौढ़ राजस्थानी है। ऐसी ही भाषा शैली का रूप हिन्दी की प्रारम्भिक गद्य रचनाओं मे भी देखने को मिलता है। इस रचना कृति मे डूंगरसी ने महाराजा जयसिंह कछवाहा प्रथम के प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा बल्ख, कंधार, बीजापुर, गोलकुण्ड की विजय आदि का पद्यात्मक गद्य शैली मे वर्णन किया है।

18वी शताब्दी की "नरसिंह दास गौड़ की दवावैत"[2] भी वर्णनात्मक शैली की दृष्टि से सुन्दर रचना है जिसकी रचना भाट मालीदास ने की है। इसी प्रकार संवत् 1772 मे श्री उपाध्याय रामविजय द्वारा रचित जैनाचार्य जिन सुख सूरिजी की दवावैत या मजलस तथा 19वी शताब्दी में याचक विनयभक्ति द्वारा रचित 'दवावैत जैनाचार्य जिन लाभ सूरि की' भाषा-शैली की दृष्टि से परम्परागत रचना कृतियां हैं, जिन्हें दवावैत विषयक राजस्थानी गद्य की प्रौढतम वर्णनात्मक रचनाएं स्वीकार किया जा सकता है। 'दवावैत' भी वचनिकाओं की तरह पद्य-बद्ध एवं गद्य-बद्ध दो रूपो मे मिलती हैं, जहां पद्य-बद्ध रचनाओं मे अनुप्रास अलंकार का विशेष प्रयोग किया जाता है किन्तु गद्य बद्ध रचनाओं मे ऐसा नही होता। पद्य-बद्ध दवावैतों मे चौबीस चौबीस मात्राओं के तुकयुक्त गद्य खण्ड होते हैं तथा गद्य-बद्ध मे तुक युक्त गद्य खण्ड होते हैं किन्तु मात्राओं आदि का कोई नियम नही होता।

अतः स्वीकार किया जा सकता है कि भारतीय साहित्य मे गद्य काव्य का विकास पद्य काव्य के साथ साथ ही हुआ है किन्तु हिन्दी भाषा में कलात्मक एवं गद्य काव्य की परम्परा विशेष प्राचीन नही दिखाई देती तथा परिमाण मे वह राजस्थानी की अपेक्षा कम है। हिन्दी गद्य मे 18वी शताब्दी से पूर्व की कोई महत्वपूर्ण गद्य रचना कृति उपलब्ध नही है। इस दृष्टि से वल्लभ सम्प्रदाय के प्राचीन व्रजभाषा के गद्य ग्रन्थो को हिन्दी के प्राचीन गद्य के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। तुकान्त

1. मरु भारती, वर्ष 14, अंक 2, जुलाई, 1966।
2. ह. लि. (अ. जै. ग्र. बीकानेर)

राजस्थानी गद्य की वर्णनात्मक शैली में वचनिका एवं दवावैत विषयक रचनाएं अपना विशेष स्थान रखती हैं। दोनों ही परम्पराओं में राजस्थानी गद्य का विकास गद्य-बद्ध एवं पद्य बद्ध रूप मे दिखाई देता है। छोटे-छोटे वाक्य, गद्य मे पद्य की सी रसानुभूति, अनुप्रास योजना एवं तुक बद्धता आदि अनेक विशिष्टताएं हैं जिनसे राजस्थानी गद्य की 'वचनिका' एवं 'दवावैत' परम्पराएं अनुप्राणित हैं।

35 सिलोका :

'सिलोका' भी कलात्मक राजस्थानी गद्य का एक रूप है। मूल शब्द श्लोक है, किन्तु जनभाषा राजस्थानी मे इसे सलोका या सिलोका कहते हैं। ये श्लोक पद्य ही मे होते हैं किन्तु 'सलोके' की शैली को राजस्थानी भाषा के छन्द ग्रन्थ 'रघुनाथ रूपक' में गद्य का ही एक प्रकार माना है। इसमे मात्रा आदि का ध्यान नही रखा जाता। 'सलोको' मे देवी देवताओ एवं वीरों का गुण वर्णन उच्च स्वर मे वर्णनात्मक शैली में किया जाता है। इस परम्परा के सम्बन्ध में एक जनधारणा यह भी है कि 15वी शताब्दी के आसपास जमाई जब अपनी ससुराल जाता था तो वहां उसकी बौद्धिक परीक्षा के लिए श्लोकों का अर्थ पूछा जाता था तथा जमाई अपने साले को अहो सालक। शब्द से सम्बोधित कर उनका अर्थ स्पष्ट करता था। जैसे—

अहो सालक !

'अम्हारा गुरु खरतर गच्छ-नायक, आनन्द दायक, श्री शांति सागर सूरि वर्णिता सामलि। किसा मे ते गुरु ? जोधपुर इसउ नामि करी महां स्थान, अभिनव देव लोक समान। रिद्धि तणउ निधान, धनवंत लोके करी प्रधान। तिहां""""" रायोराय जोधपुर मल्हार कमधज्ञ–कुल-श्रृंगार-सब सार रूपि करी इन्द्रावतार श्री सूर्यमल्ल उदार। तेह-कई अपवेतउ श्री वाघउ कुमार धरतउ चउरासियां नापरिवार वाका वीर पधारणहार, छत्रीस दण्डायुध फोरवइ अपार संग्रामांगणि जय तूमार। जेह-नइ भूंकार अनेक अनेक असवार। दीसइ चउंडा-पौत्रा नापरिवार। तेह नई राजि, मोटइ काजि, जाणिता, पराणिता, लोके वखाणिता, संघवी श्री जिणराज ठाकुर। गुण तणा आकर, करणी कुबेर, धीरिमिमेर।'

अपने साले द्वारा श्लोक के माध्यम से यह पूछे जाने पर कि उनका गुरु कैसा है ? उत्तर मिलता है-अहो सालक। हमारे गुरु खरतरगच्छ नायक आनन्द प्रदायक शान्ति सागर सूरि का वर्णन सुनो।....प्रश्नोत्तर शैली में—कैसे हैं वे गुरू ?"""""" उत्तर"""""उसके राज्य मे उच्च पद प्रतिष्ठित, ज्ञानवान, प्रामाणिक लोक प्रशंसित सघ पति ठाकुर, जिण राज गुणो का भंडार, संग्रह करने में कुबेर और धैर्य मे सुमेरु के सदृश हैं।

भाषा शैली का ऐसा कलात्मक एवं आलंकारिक सौन्दर्य साहित्य में बहुत कम मिलता है किन्तु राजस्थानी 'सिलोकों' में इसकी सर्वत्र प्रधानता है। राजस्थानी गद्य मे 'सिलोका' विषयक रचनाएं जैनाचार्यों की भी मिलती हैं, जिनमे सबसे पुरानी रचना कवि कुंवर विजय रचित 'हीर विजय सूरि श्लोकों' है। सोलहवी

शताब्दी में रचित सिलोका साहित्य के राजस्थानी गद्य में मारवाड़ के राव सातल और खरतरगच्छ आचार्यों आदि का विवरण बड़े सुन्दर रूप में छटादार शैली में मिलता है। रघुनाथ रूपक कृति में भी अनेक राजस्थानी सिलोकों का संग्रह मिलता है, जिनकी भाषा सुबोध एवं स्पष्ट है।

विषयगत विविधता राजस्थानी गद्य की अपनी विशेषता है। केवल ऐतिहासिक साहित्य ही उसका विषय नहीं अपितु कलात्मक साहित्य के अतिरिक्त नीति, विनोद, उपदेश एवं भक्ति सम्बन्धी विपुल साहित्य आज भी जैन भंडारों में सुरक्षित है। जैन विद्वानों ने सब तरह का साहित्य लिखा है किन्तु पांडित्य प्रदर्शन के लिए नहीं, अपितु अपनी ही जन भाषा में। जैनेतर लेखकों का योगदान भी कम महत्त्व का नहीं। यहां विविध विषयक साहित्य के सन्दर्भ में राजस्थानी पत्र साहित्य एवं उनकी परम्परागत शैलियों का उल्लेख करना भी अनिवार्य है।

36. राजस्थानी पत्र साहित्य और शैली :

राजस्थानी गद्य साहित्य के विकास में पत्रों का विशेष योगदान रहा है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक भेजे गये लिखित सन्देश को पत्र कहते हैं। पत्र हार्दिकता के प्रतीक हैं। प्रारम्भ में किसी मध्यस्थ, सन्देश वाहक, पत्र वाहक, दूत अथवा कासिद के माध्यम से पत्र प्रेषित किये जाते थे। किन्तु आज वह विधि पूर्णतया बदल चुकी है। पत्र भेजने के उद्देश्य भिन्न भिन्न हो सकते हैं किन्तु इनमें मैत्रीपूर्ण भावनाएं ही अन्तर्निहित रहती हैं। भाषा शैली की दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व है। प्रारम्भ में इनकी शैली में सहजता, स्पष्टता एवं सरलता का गुण मिलता था किन्तु अब धीरे धीरे साहित्य की विविध विधाओं में परिष्कार उत्पन्न हो जाने के कारण पत्रों में भी क्लिष्ट शैली का प्रयोग किया जाने लगा है। वर्गीकरण की दृष्टि से साहित्य में पत्रों के दो रूप स्वीकार किये जा सकते हैं; प्रथम–व्यक्तिगत पत्र तथा द्वितीय-वे पत्र जो किसी विशिष्ट विषय का प्रतिपादन करने के लिए पुस्तकों एवं पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित किये जाते हैं। राजस्थान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में राजकीय पत्रों का विशेष महत्त्व रहा है। संकटकालीन परिस्थितियों में शासकों का विचारात्मक आदान-प्रदान पत्रों के माध्यम से ही सम्भव था।

17वीं शताब्दी से पत्रों में राजस्थानी भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था। हिन्दू राजाओं द्वारा लिखित पत्रों की भाषा तो राजस्थानी होती थी, साथ ही मुगल बादशाहों एवं अंग्रेजी सरकार तक को पत्रों के उत्तर राजस्थानी भाषा में ही प्रेषित किये जाते थे। राजस्थानी भाषा में भी व्यक्तिगत एवं राजकीय—दो प्रकार के पत्र-व्यवहार की पद्धति ही प्रचलित थी। डा० शिवस्वरूप शर्मा 'अचल' ने जैन आचार्यों से सम्बन्ध रखने वाले पत्रों की ओर भी उल्लेख किया है।[1] किन्तु विषय की दृष्टि

1. डा० अचल, राज० गद्य : उद्भव और विकास, पृ. 171।

से मूलतः वे व्यक्तिगत पत्रों की श्रेणी में ही पाते हैं जिनमें धार्मिक विषयक विचारों का उल्लेख किया गया है। जैन आचार्यों से सम्बन्ध रखने वाले पत्रो मे शिष्यों की ओर से प्रदर्शित विनय एवं श्रद्धा के भाव प्रकट किये जाते थे। राजस्थानी साहित्य मे व्यक्तिगत एवं राजकीय पत्रो का विपुल भण्डार मिलता है जिनमे भाषा की एक-रूपता तक मिलती है। रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत लिखती हैं:-

"राजस्थानी गद्य का व्यावहारिक स्वरूप मिलता है रुक्कों में, खतों मे, बहियों में, पट्टो में, परवानों में, खरीतों में, अमल की चिट्ठियों में और व्यक्तिगत पत्रों में। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनकी भाषा में एक रूपता है। खत, पट्टे तथा परवानों की एक मान्यता प्राप्त भाषा थी जिसे "प्रैस्काइब्ड फार्म" कहा जा सकता है।"[1] पत्रों में विषय की विविधता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि चाहे पत्रों में विषयानुसार निर्धारित शैली का प्रयोग होता रहा हो, किन्तु उनमे समाज की विभिन्न इकाइयो का स्पष्ट चित्रण किया जाता था। पत्रों के विषय को देखकर सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का अध्ययन सरलता से किया जा सकता है। राजकीय कर्मचारियों, रानियों, बांदियों एवं जन सेवक की ओर से राजा को लिखे गये पत्रो को अरदास्त (अरजदास्त या अर्ज दास्त) कहा जाता था, जिनमें अपनी किसी इच्छा को आत्म निवेदन के रूप में प्रकट किया जाता था। इन पत्रो को व्यक्तिगत अथवा अर्द्ध सरकारी पत्रो की श्रेणी मे रखा जा सकता है। आत्म निवेदन विषयक उदाहरण—

"अर्जदास्त विजेराम—रामसिंह जी को—इतला अने फते वगैरह पठाणों के रकाब में व दाखिल कराने बकाया नवीस में सिपाह में—वगैरह—वगैरह।

X X X X

॥ श्री राम जी

श्री राम संघ जी

॥ सिधि श्री महाराणा धीराज महाराज जी—देव चरण कमल नवेदा खाना जाद गुलाम विजैराम केनि पावाधोक अवधारी जे जी अठा का समाचार श्री महाराज जी मीहरबानगी सो भला छै श्री महाराज जी का घड़ी घड़ी का सदा आरोगा (आरोग्य) चाहीजे जी उपरची जी सलामति श्री चीमना साहीब जी नवाब जी रुप मुलाजमति कोटया का समाचार तो आगो आज दासति कोटया छा सो मालू महुवा होसी जी श्री जी सलामति असाढ व 5 सुकरवार जो रु. 500) मीजमानी का भेज्या छा सो रखाय्या जी श्री सलामति श्री चीमना साहीब जी का पधारी वा को हकीकति वा फते वागो पठाणा तीनें कंसरी काब आया सो दाखील कैवा-सुफिय्यान इस कंसा है दाखिल कराय्या तीकी नकल हजुर भेजि छै सो मालूम होईसी जी।

X X X X

1. रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, ग्रन्थमाल की भूमिका, पृ० 7

श्री जी सलामति रोज दौड़ चारी मौकाम सेती फारक होइ श्री महाराज कवार जी स्यूँ रुखसत होइ भ्राइ सौता व ही मुलजमति रोलो जी भीतो मसाढ व. 9 की राती लोह्या मुकाम काबिल—[1]

ऐतिहासिक एवं अर्द्ध ऐतिहासिक पत्रों मे उर्दू एवं फारसी के शब्दों की भरमार पायी जाती है। पत्रों में घटनाओं का उल्लेख विवरणात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। वकीलों की वहियों मे पत्रों के माध्यम से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण मिलता है। अरज दास्त अथवा अरजदास के माध्यम से रानियां एवं बांदियां भी राजाओं को पत्र लिखा करती थीं जिनमें अनेक उपमाओं का प्रयोग किया जाता था। यथा–कमल दल लोचन, मोतियां रा हार, गरीब निवाज, सुख सागर, माथे री बिंदिया आदि। राजाओं के पारस्परिक पत्र व्यवहार में भी अलंकृत शैली का प्रयोग होता था।

37. महाराजा अनोपसिंह रो पत्र महाराजा बिसन सिंघ रै नामे :

सिध श्री गढ आमेर महासुभ सुथाने राजयोनि बीराजिमान, गंगाजल नीरमल, पुन्य पवीत्र, परम मीचत्र, सकल सुख दाईक, सकल गुण गंभीर, सकल गुण सागर, मोहन नागर जी, सकल आसा के बिसराम; ओण प्रबीण, सकल गुण निधान, गऊ ब्राह्मण के प्रतिपाल कुल दीपक, भूखां रा भूपाल, तीसियां रा समुद्र, अमृत री घूंट, समुद्र की सी महिमा, चन्द्रमा की सी कला, सुरिज को सो तेज परताप, दिन-दिन वधंते रहोजी। महाराजाधिराज श्री श्री बिसनसिंघ जी। कंवर चिंजीवोजी। बरस कोड़ि सुलमति रहो जी। लिखाईत गढ़ आदूणी स्यों सदा सेवग आग्याकारी : चरणा की खेह, दरसण का भूखा, बचन का आधीन महाराजधिराज श्री श्री अनोपसिंह जी कंवरां कंन घणा मोह स्यों हित प्रीत स्यो कालिजा की कोर स्यों अवधारिज्यो जी। अठां रा समाचार भला छै। श्री राजि की घड़ी-घड़ी पल-पल का छिन-छिन का सदा आरोग्य चाहीजै जी, ज्यो परम संतोख होई जी। राजि रो कागद उलटो आयो। हकीकत बांची। सुण्यां परम संतोख हुवो जी।

—परम्परा–भाग 24, 1967, पृ. 25–26।

उपर्युक्त पत्र की भाषा शैली मे मालोपमाओं की सुन्दर अभिव्यंजना प्रस्तुत की गई है। पत्र-प्रेषक ने हार्दिकता का परिचय दिया है। रचना की दृष्टि से राजस्थानी पत्रों मे वाक्यो के छोटे-छोटे रूप मिलते हैं जिनमें सुस्पष्टता का गुण है। राजस्थानी पत्रों की भाषा मे शैली का एक निश्चित रूप मिलता है। विषय की दृष्टि से भिन्नता स्पष्ट है किन्तु पत्रो मे प्रारम्भ एवं अंत का अंश एक ही रूप में मिलता है। विवाह आदि पर प्रेषित निमंत्रण पत्रो का प्रारम्भिक अंश सामान्य पत्रों की तरह परम्परागत पद्धति के अन्तर्गत ही प्रचलित था, किन्तु संक्षिप्तता एवं सुस्पष्टता का विशेष ध्यान रखा जाता था, यथा—

---

1. अर्जदास्त–हा. लि., राज. पुरातत्व विभाग, बीकानेर।

से मूलतः वे व्यक्तिगत पत्रों की श्रेणी में ही आते हैं जिनमें धार्मिक विषयक विचारों का उल्लेख किया गया है। जैन आचार्यों से सम्बन्ध रखने वाले पत्रों में शिष्यों की ओर से प्रदर्शित विनय एवं श्रद्धा के भाव प्रकट किये जाते थे। राजस्थानी साहित्य में व्यक्तिगत एवं राजकीय पत्रों का विपुल भण्डार मिलता है जिनमें भाषा की एक-रूपता तक मिलती है। रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत लिखती हैं:-

"राजस्थानी गद्य का व्यावहारिक स्वरूप मिलता है रुक्कों में, खतों बहियों में, पट्टों में, परवानों में, खरीतों में, अमल की चिट्ठियों में और अर्जी पत्रों में। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनकी भाषा में एक रूपता खत, पट्टे तथा परवानों की एक मान्यता प्राप्त भाषा थी जिसे "प्रेस्क्राइब्ड कहा जा सकता है।"[1] पत्रों में विषय की विविधता को देखते हुए यह सकता है कि चाहे पत्रों में विषयानुसार निर्धारित शैली का प्रयोग होता किन्तु उनमें समाज की विभिन्न इकाइयों का स्पष्ट चित्रण किया जाता के विषय को देखकर सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का अध्य से किया जा सकता है। राजकीय कर्मचारियों, रानियों, बांदियों की ओर से राजा को लिखे गये पत्रों को अरदास्त (अरजदास्त या ... जाता था, जिनमें अपनी किसी इच्छा को आत्म निवेदन के रू... जाता था। इन पत्रों को व्यक्तिगत अथवा अर्द्ध सरकारी पत्रों ... जा सकता है। आत्म निवेदन विषयक उदाहरण—

"अर्जदास्त बिजेराम—रामसिंह जी को—इतला अने... के रकाब में अ दाखिल कराने बकाया नवीस मे सियाह मे—य...

X X X

॥ श्री राम जी

श्री राम संघ जी

॥ सिधि श्री महाराणा धीराज महाराज जी—दे...
जाद गुलाम बिजेराम केनि पांवाधोक अवधारी जे जी
राज जी मीहरबानगी सो भला छे श्री महाराज जी ...
(आरोग्य) चाहीजे जी उपरंची जी सलामति श्री ...
मुलाजमति कोटया का समाचार तो आगो आज ...
होसी जी थो जी सलामति प्रसाद व 5 ...
भेज्या छा सो रखाय्या जी श्री सलामति थी ...
हकीकति वा फते बागो पठाणा तीनें कंसरी काव ...
इस कंसा है दाखिल कराय्या तीको नकल हजुर भेजि

X X X

---

1. रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, ग्रन्थमाल की भूमिका, पृ

विलायत सूं बापर्या छै त्यांको हुक्म उठाबा में तो आपको धर्म बा नाम नकस बी गुमाय दे छै परन्तु बांकी मरजी साधे छैं अर ज्यो करै ज्योही झुकते छै अर आपका बरोबरया सजानीय छै सो आपका मत का छै आपकी जाति का छैं तो बी ज्यामूं लाख गुणी ठसक ल्यावै छैं अर त्यां मे कोई धर्म की तरफ देखि अर नम्रता दिखावै छै तदि जाणे छै के म्हे बडा छा अर अैं नम्रता दिखाबा जोग छैं सो नम्रता करै छै या बुद्धि हिन्दुस्तान कां की हुई जादि पैली विलायत कां को अमल हुवै छै अर कलियुग लागां पहली पहली तांई धर्म के साथ एकता रही जतरै एही इंग्रेज बा मुसलमान राजालोका कै पलटण्यां में भरयाजावैं छा इत्यादिक लिखी ज्यो बात तो आपसूं बी सारी ही छानी छैं नहीं ऊं ठिकाणां को आछो भाग्य छै तीसू आप जिस्या महा धर्मिष्ठ उठै परमेश्वर ने मालिक किया छो अर ज्यो आपको हित चहै तीसूं एकता ही चाहो हो।'[1]

सूर्यमलजी मिश्रण के पत्रों की भाषा में अभिव्यक्तिगत स्पष्टता तो है किन्तु उन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग भी कही कहीं राजस्थानी भाषा के साथ किया है। व्यंग्यात्मकता का गुण होने के कारण पत्रों की भाषा पाठक पर सीधा प्रहार करती है। पत्रों का विषय तत्कालीन परिस्थितियों का सम्यक उद्घाटन करता है। राजस्थानी साहित्य में राजा महाराजाओं के पारस्परिक पत्र व्यवहार के अनेक संग्रह सुरक्षित है जिन्हे फारसी मे इलकाबनामा कहा जाता है। इनमें राजकीय तथा व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के पत्र सग्रहीत हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने मुगल शासन काल मे प्रचलित अनेक पत्रों का उल्लेख किया है जिन पर मुसलमानी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। फरमान, रुक्का एवं अहकाम बादशाह के निजी पत्र होते थे जिन्हें आज की प्रचलित भाषा मे डी. ओ लेटर कह सकते हैं। निशान–वे पत्र होते थे जिन्हें शाहजादे अन्य व्यक्तियों को लिखते थे, अरजदास्त के लिए अर्जी शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। विजय के सन्देश को प्रेषित करने वाले पत्रों को फतहनामा कहते हैं। सनद–एक प्रकार का नियुक्ति पत्र कहला सकता है। प्रशासनिक कार्य के अन्तर्गत मन्त्री बादशाह की आज्ञा से उनके आदेश की सूचना के लिए जब आज्ञा पत्र जारी करते थे उन्हें 'हस्बुल हुक्म' कहा जाता था। एक प्रकार का पास या परमिट 'दस्तक' कहलाता था जिसे लेकर लोग इधर-उधर सामान ले जा सकते थे। किसी वर्जित स्थान, दरबार या शिविर में प्रवेश करने के लिए दस्तक की आवश्यकता पड़ती थी। बादशाह जब अपने मन्त्री अथवा सचिव को किसी विशिष्ट विषय पर टिप्पणियां अथवा नोट लिखाता था उसे 'रम्ज और अहकाम' कहते थे। विदेशियों के साथ तथा स्थानीय शासको में परस्पर जो संधियां होती थीं उनके लिखित रूप को अहदनामों से पुकारा जाता था।

---

1. उद्धृत: वीर सरसतई।

"सिद्ध श्री शाहपुरा शुभ स्थान सर्व ओपमा लायक विराजमान राजाधिराज साहिब श्री नाहर सिंघ जी जोग्य लिखाइ तंग कोटा कुनाड़ी सुं राज विजय सिंह केन जुहार मालुम होसी वंचावसी अठा का समाचार श्री·······जी री कृपा सुं भला छै राज का सदा भला चावे तो म्हे परम आनन्द होई ॥ अपरंच कुवर चन्द्रसेन को विवाह मृगसर सुदी 5 सोमवारो मैंडो छै सुदी 8 गुरुवार लग्न छै बरात ठि० चमुलिये जासी सो राज दिन चार पहले पधार सो राज पधारिया अधिक शोभा होसी।

मिति का. सु. 5 सम्वत 1964 का ता 26-10-1907।"

कुछ पत्रो में उपमाओं की भरमार पायी जाती है जबकि कभी कभी एक उपयुक्त शब्द ही समस्त उपमाओ की अभिव्यंजना करता है—यथा—सर्व-ओपमा लायक आदि पत्रो के। लेखक (प्रेषक) ने आभार प्रकट करने के लिए (विनयशील) निवेदन शील शैली का प्रयोग किया है यथा—

'आपतो म्हाका सरदार छो और म्हाका मुडया छो म्हे तो आपका लड़का छा·"" ····· ·····अबकी बचाव होय म्हामें तो बाकी नही रह छै····म्हाने तो आपना लड़का ही जाणेला आपकी सहाय करां म्हाकी सहाय होयसी···· ····· ·····म्हे आपका हुकमी जाणेला········हुकम माफिक छां············आपकी सहाय करा म्हाकी सहाय होयसी····· ·· ·····'[1]

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, राजाओं के पारस्परिक पत्र जो अंग्रेजी सरकार को लिखे जाते थे उनकी भाषा शुद्ध राजस्थानी होती थी। मुगल बादशाहों के साथ पत्र-व्यवहार सुदूर दक्षिण तक राजस्थानी भाषा मे ही होता था। पत्रों का एक निश्चित प्रारूप होते हुए भी उनमें शैलीगत विभिन्नता के दर्शन भी होते हैं। अनाथ राजा *बलवन्त सिंह जी के नाम भाद्रपद शुक्ला सं. 1909* में सूर्यमलजी मिश्रण के पत्र में व्यंग्यात्मक शैली के दर्शन होते है—

'हिन्दुस्तान को दिन खोटो छै तीसूं एकता कोई बिरली ठांव ही रह गई छै पाच बरस पहली अंग्रेजो ने सती होवा की बात मनै करिबा को हुक्म सारा ही रजवाड़ा में लगायो तों पर ज्यां-ज्यां की जसी जसी बानगी का जवाब आपकी अर्जी में जाहिर किया त्यां में कोयां का वी जवाब एकता की सम्मति सु मिल्या वही तीसू इंग्रेज भी हुस्या भर बिना एकता का जवाब कोई भी यकीन हुतो नही, त्यां में कोई ने आपकी धर्म की राइ सूं ठीक जवाब लिख्यो छै तो ऊबी जुदा जुदा मत का कारण सूं सांस का जवाब छा जस्यो ही मान्यो गयो एकता होती भर सबको एक जवाब जातो तो सरकार कम्पनी में बी मंजूर ही होतो परन्तु हिन्दुस्तान का राजा में तो या बुद्धि रहि गई छो *पैला दिन का इंग्रेज लोक वा मुसलमान पैल*

---

1. मुंशी खाना फायल न. 14 दरवारह जन्ना जागीर बहादुर सिंह जावली का खत राव राजा प्रतापसिंह जी के नाम संवत् *1829*।

विलायत सूं बापर्‌या छै त्यांको हुक्म उठाबा मे तो आपको धर्म वा नाम नकस बी गुमाय दे छै परन्तु बांकी मरजी साधे छै अर ज्यो करै ज्योंही भुकते छै अर आपका बरोबरया सजातीय छै सो आपका मत का छै आपकी जाति का छै तो बी ज्यांमूं लाख गुणो ठसक ल्यावै छै अर त्यां में कोई धर्म की तरफ देखि अर नम्रता दिखावै छै तदि जाणे छै के म्हे बडा छां अर अं नम्रता दिखाबा जोग छै सो नम्रता करै छै या बुद्धि हिन्दुस्तान का की हुई जदि पैली विलायत का को अमल हुवै छै अर कलियुग लागां पहली पहली तांई धर्म के साथ एकता रही जतरै एही इंग्रेज वा मुसलमान राजालोकां के पलटण्यां मे मरयाजावै छा इत्यादिक लिखी ज्यो बात तो आपसूं वो सारी ही छानी छै नही ऊं ठिकाणां को आछो भाग्य छै तीसूं आप जिस्या महा धर्मिष्ठ उठै परमेश्वर ने मालिक किया छो अर ज्यो आपको हित चहे तीसूं एकता ही चाहो हो।'[1]

सूर्यमलजी मिश्रण के पत्रों की भाषा में अभिव्यक्तिगत स्पष्टता तो है किन्तु उन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग भी कहीं कही राजस्थानी भाषा के साथ किया है। व्यंग्यात्मकता का गुण होने के कारण पत्रों की भाषा पाठक पर सीधा प्रहार करती है। पत्रों का विषय तत्कालीन परिस्थितियों का सम्यक उद्‌घाटन करता है। राजस्थानी साहित्य मे राजा महाराजाओं के पारस्परिक पत्र व्यवहार के अनेक सग्रह सुरक्षित है जिन्हें फारसी मे इलकाबनामा कहा जाता है। इनमें राजकीय तथा व्यक्तिगत दोनो ही प्रकार के पत्र सग्रहीत हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने मुगल शासन काल में प्रचलित अनेक पत्रो का उल्लेख किया है जिन पर मुसलमानी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। फरमान, रूक्का एवं अहकाम बादशाह के निजी पत्र होते थे जिन्हें आज की प्रचलित भाषा मे डी. ओ लेटर कह सकते है। निशान–वे पत्र होते थे जिन्हें शाहजादे अन्य व्यक्तियो को लिखते थे, अरजदास्त के लिए अर्जी शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। विजय के सन्देश को प्रेषित करने वाले पत्रों को फतहनामा कहते हैं। सनद–एक प्रकार का नियुक्ति पत्र कहला सकता है। प्रशासनिक कार्य के अन्तर्गत मन्त्री बादशाह की आज्ञा से उनके आदेश की सूचना के लिए जब आज्ञा पत्र जारी करते थे उन्हें 'हस्बुल हुक्म' कहा जाता था। एक प्रकार का पास या परमिट 'दस्तक' कहलाता था जिसे लेकर लोग इधर-उधर सामान ले जा सकते थे। किसी वर्जित स्थान, दरबार या शिविर मे प्रवेश करने के लिए दस्तक की आवश्यकता पड़ती थी। बादशाह जब अपने मन्त्री अथवा सचिव को किसी विशिष्ट विषय पर टिप्पणिया अथवा नोट लिखाता था उसे 'रम्ज और अहकाम' कहते थे। विदेशियों के साथ तथा स्थानीय शासकों में परस्पर जो संधिया होती थी उनके लिखित रूप को अहदनामों से पुकारा जाता था।

---

1. उद्‌धृत: वीर सरसतई।

राजस्थानी पत्रों में विषयगत विविधता होते हुए भी अभिव्यक्तिगत सरसता बनी हुई है जिससे परिस्थिति एवं परिवेश की जानकारी सरलता से मिल जाती है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से तो इनका महत्त्व इसलिए अधिक है कि इनमें यथार्थ तथा तथ्यों के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। कल्पना को पत्रों में कहीं स्थान नहीं मिलता, अतः सामयिकता के सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि देश का सच्चा इतिहास पत्रों में खोजा जा सकता है। भाषा-शैली के सन्दर्भ में सम्बोधन करने की विशिष्टता उपमाओं की विविधता एवं विदेशी शब्दो (अरबी-फारसी) की प्रचुरता सर्वत्र मिलती है किन्तु जहां तक प्रस्तुतीकरण का प्रश्न है, वह एक फोरमल रूप में सम्बन्धगत विविधता के साथ मिलता है। पत्रो की भाषा में युगानुकूल परिवर्तन की झलक अवश्य दिखाई देती है। पत्रों के साथ-साथ प्रशासनिक व्यवस्था में काम आने वाले पत्र (पुर्जे) (डोक्यूमेन्ट्स) भी अपना सामयिक महत्त्व रखते हैं। उर्दू का प्रभाव इन पुर्जों में इतना अधिक है कि कहीं-कहीं भाषा भी अस्वाभाविक व बोझिल सी लगती है। यहां उन पर पृथक् से प्रकाश डाला जा रहा है।

38 पट्टा परवानों में गद्य की विशिष्ट शैलियां

पट्टे और परवाने मूलत. शासकीय अधिकार पत्र हैं जो राज्य की ओर से किसी भी व्यक्ति को प्रदान किये जाते हैं। ऐतिहासिकता की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है। पट्टे और परवाने के भेद के सम्बन्ध मे डा. मानावत का मत है कि—"राजाओं द्वारा दी गई जागीरो का अधिकार-पत्र और उसका विवरण पट्टा कहलाता है तथा उसका राजकीय आज्ञापत्र परवाना।"[1] डा. शिवस्वरूप शर्मा अचल ने भी स्पष्ट किया है कि "राजाओं के द्वारा दी गई जागीरों का अधिकार-पत्र और उसका विवरण पट्टा तथा राजकीय आज्ञा पत्र को परवाना कहते है।"[2] पट्टा मूलतः जागीर की प्राप्ति का अधिकार पत्र ही होता है जो राजाओं की ओर से जन-सामान्य को प्रदान किया जाता रहा है। पट्टे एवं परवानों के गद्य मे कोई विशिष्टता स्पष्ट नहीं होती अपितु वे एक फोरमल रूप में ही लिखे जाते थे जिनमें उर्दू एवं फारसी के शब्दों की भरमार रहती थी। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रशासनिक-पत्र अपने से छोटे अधिकारी को प्रेषित किये जाते थे।

॥ श्री राम जी ॥

नकल पट्टा

श्री सीताराम जी सहाय महाराव राजाजी श्री सवाई नियसिंह बहादुर सेवक राजा बहादुर मदन सिंह कलानोत

देह जागीर लिसाना

श्री दीवाण वंचनात व इसम वख्तावर सिंह हनुमत सिंह का नरूका वासी

1. डा० मानावत, राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियां, पृ० 9।
2. डा० शिवस्वरूप शर्मा 'अचल', राजस्थानी गद्य साहित्य, उद्भव और विकास, पृ० 23।

छिनोड़ी का दमे अत मौजा मेड़ा की एवज मौजा निमाना परगना किशनगढ़ को तन 230 राम एक परती बीघा 135 ॥ 3 बाको 323। मारिफत परवानगी राजा बहादुर पदमसिंह जी माफ वन्हास् संवत् 1893 मुकाम मनवर थाने जागीर माँगे सरकार ॥ं दियो छै सो ये गांव की आबादी कराय घोड़ा दिमाय हासिल साथ दरबार की चाकरी मे हाजरो रहवो करोगा मवकव मौजा माफ मिति आषाढ़ सुदी 12 संवत् 1893।

X X X X

॥ श्री राम जी ॥

नकल पर्वाना

मौजा बहरेर

लाला साहब मिहर्बान लाला गोविन्द प्रसाद तहसीलदार रामगढ़ मन्नामह् मल्लाह लालावर अवक मारूबा जवानी पदम सिंह व तख्त सिंह व खुशाल सिंह वगैरह हिस्सेदारान मौजे बहरेर हस्व मुहकम बेदगान आसो बिदीगुंना हजे हुज्जार बिजार-फूता हस्व कि नाम सुर्दगानहक बर्या फ़ज़गी हिस्से हाय सुर हस्व दस्तूर कदीम बमूजिब तफसील जैल हिस्सेदार रामान पदम सिंह नकुरा।

नीमरास 1, 2

खुशाल सिंह तख्त सिंह बिशाल सिंह काबिज राम 1–2 व मुशमलिक बानंद लिहाजा कलमी मीसज कि हिस्स: हाय मुनर्बानिस्द हस्तदरा बमूजिब मदरीक माफ़्तगी साबिका बोहरा बकलणे व तमस्सुक हाँ या मुस्तान्द व मुरची गरदानि आज हिस्से हाय भाग नीज बरदाश्त कर्व बरतूब बिन्द दस्त सिहम सन् 1264 हिजरी।

पट्टे-परवानों के गद्य के सन्दर्भ में केवल यही कहा जा सकता है कि उनके अन्तर्गत राजस्थानी गद्य का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता रहा है जिनमें उर्दू-फारसी का विशेष महत्त्व रहा है। [illegible] शिल्प एवं विकास का कहीं स्थान नहीं। केवल परम्परागत प्रचलित [illegible] एवं [illegible] आदि की ही तरह महाराजाओं की ओर से ताम्र पत्र भी [illegible] किये जाते थे। ताम्र पत्र स्थायित्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते थे किन्तु वे सर्वत्र [illegible] किए जाते थे अर्थात राजा उपहार [illegible] दान में कोई भूमि [illegible] वस्तु किसी व्यक्ति को प्रदान करते थे। [illegible] एवं [illegible] सामान्यतया [illegible] एवं [illegible] शैली में लिखे जाते थे। उनमें [illegible] विशेष ध्यान रखा जाता था। आडम्बर बातों को स्थान नहीं दिया [illegible]

राज घर जागीर या ग्राम नाडोल में एक धरती बीघा 125) मा धरसवा तीम सुदी सुरज परबीम रा का तरपण करदीधो जणी रो तांबा पत्तर कर दी दो भणी री कोई खषल करसी जो न श्री अकलिंग नात पुगसी सम्वत 1447 रा मती वैसाव वुद दसकत पंचोली किसन लाल का ।[1]

ये समस्त चिट्ठे राजकीय आदेश से प्रशासकीय शैली में ही लिखे जाते थे तथा सामाजिक क्षेत्र मे जातीय नियमों एवं मान्यताओ को सुरक्षित रखने के लिए *'महजर नामा' अथवा पंचायत नामा लिखने की परम्परा भी प्रचलित रही है।* 'ब्रह्म लोक की आण' सीमा रेखा के बल पर मान्यताएं स्थायी बनाई जाती थी। कानून एवं आज्ञा के अन्तर्गत 'मुचलकों' लिखने की परम्परा भी प्रचलित रही है। झगड़े आदि के भय से लोगो को 'मुचलको' से ही पाबन्द किया जाता था।

पट्टों की तरह जागीर आदि के सन्दर्भ में सनद आदि प्रस्तुत करने की परम्परा भी प्रचलित रही है। सनद का अर्थ सबूत से है। फारसी तथा राजस्थानी दोनों में ही सदन शब्द का प्रयोग होता रहा है। सनद के साथ साथ आज्ञापत्र को रुक्का भी कहा जाता रहा है। सभा के साथ रुक्के से दीवान जब किसी को आज्ञा (आर्डर) देता था, उसे 'सनद' के नाम से पुकारते थे। दूसरे शब्दों में आर्डर की असल प्रतिलिपि को भी सनद कहा जा सकता है।

39. खास रुक्का :

श्री परमेश्वर जी सत्य हो
श्री कृष्ण चरण
शरण राज राजेश्वर
महाराजाधीराज महाराज
श्री विजय सिंह जी
कस्य मुद्रिका
(भाले की सही)
हुक्म छै।

स्वरूप श्री राज राजेश्वर महाराजा श्री राज महाराजा श्री विजय सिंघ जी महाराजा कंवर श्री फतेह सिंघ जो बचनात—तथा मेड़तारा व्यास लोकमण जना॰ रजन नें धरम खरें रुपीया ॥) खतरे थाधो रुपीयो रोजो ने चलू मेड़तारी सायर सूं कर दीयो छैं सो चलू पाया जासी ने गीता पाठ कीयां जासी दरबार मे आशीर्वाद देसी।

संवत 1810 री पोष सुदि 11 मु. मेड़ते—

× × × ×

पत्र, पट्टे, परवाने, नसीयत नामें एवं अर्जदास्त के अतिरिक्त विभिन्न विषयक

1. ताम्र पत्र–राजस्थान प्राच्य शोध संस्थान, जोधपुर।

गद्य भी राजस्थानी साहित्य में मिलता है जिसमें वैज्ञानिक गद्य अनुवादात्मक, टीकात्मक तथा स्वतन्त्र रूप में लिखा गया है। योगशास्त्र, वेदान्त, वैद्यक, ज्योतिष, यंत्र तंत्र एवं नीति-विषयक कृतियों में वैज्ञानिक गद्य के दर्शन होते है। नाड़ी परीक्षा तथा उपचार, तन्त्र मंत्रादि पत्र, नक्षत्र फल विधि, वैद्य महोत्सव, दिन मान गणक विधि, सकुन विचार, ऋतु चर्चा, रसज्ञान, शकुनावली, सामुद्रिक ज्ञान, शीर्षक के अन्तर्गत रचनाएं हस्तलिखित प्रतियो के रूप मे संग्रहलयों में सुरक्षित हैं। अधिकांश रचनाओं में संस्कृत के शब्दों का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है तथा प्रारम्भिक रचनाओं में अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है किन्तु कहीं कहीं इन रचनाओं में प्रौढ़ राजस्थानी गद्य के दर्शन भी होते हैं। यथा—

"अथ कुंभ राशिफल लिख्यते ऊं नमो भगवते श्री वासुदेवाय नमः। श्री महादेव भाखितं कुंभराशि विचार हर वे जन्म की वार्त्ता अर्णव सुं कर्म देवता पूछै। पूर्व भव कुण कर्म कीधा। मालव देश वसता। उज्जेणी नगरी विश्राम सिंघल जाति नार सपूत हूंता। पिता नाम सोमजी माता नाम वेणी। भाई 5 हुंता बहिन 2 हुती। स करमण हुंता। कर्म देवता पूछै। तिहां कुण कुण कर्म कीया। श्री महादेव भाखिते। पूर्व तालाव कोवयो। तलाव उपरि वड पीपल बढ़ाया। घणां एक रूंख बढ़ाया। ते पाप लागो।

X X X X

श्री महादेव भाखितं सोनो तोलो 1 रुपो तोला 3 केरड़ा 1 कपिल गाय। धान मण 5 दोवटी गज 25 ब्राह्मण नै देज्यो। गोत्री जी माडे। जिम पाह टलै। धन धान्य पुत्र पुत्री हुवै। रोग जाई सुखी हुवै। इति राशि फलं।"[1]

वाक्य रचना पर संस्कृत का प्रभाव दृष्टव्य है। छोटे छोटे वाक्यो के बल पर कथात्मक शैली मे प्रासंगिक घटनाओं की सुन्दर योजना सरसता के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है। कथोपकथन में कहीं कहीं नाटकीय शैली के भी दर्शन होते हैं। आयुर्वेद विषयक रचनाओं मे विविध पदार्थों (घृत, तेल, भस्म, मृगांक, आसव, चूर्ण आदि) का प्रयोग की दृष्टि से वर्णन मिलता है तथा पदार्थों के उपयोग की विवेचनात्मक शैली से समीक्षा की गई है।

उपदेशात्मक शैली मे रचित साहित्य जैन तथा जैनेतर दोनों प्रकार के लेखकों का मिलता है। "नसीयत नामा" विषयक साहित्य इसी कोटि का है। जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों पर व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा इन रचनाओं मे मिलती है। इन रचनाओं की भाषा शैली 'बालवबोध' विषयक कृतियों की तरह सरल, सुबोध एवं स्पष्ट होती है। केवल जन सामान्य बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग करना मिलता है। उदाहरणार्थ—

"अवना मास हयु पद मित्र कों न देखाईये, जिया किणही को न मींजए।

---

1. ह. लि. प्रति–'कर्म विपाक फल' (सं. 1740) ([illegible])।

अपना बल अजमावता रहो यें। जिसको खाइया तिस को भलो कहो यें। अपणी रोटी विराणें घरै न खाइये। देही को कष्ट न देवे। जो आपण कूं पहिचातो नहीं तासौ भलाई की उमीद न राखीये। क्रोध करि किस ही को वचन न कहीयें। इति नसीयत संपूर्णमः।[1]

रचना 19वीं सदी की प्रतीत होती है जिसमें राजस्थानी की अपेक्षा खड़ी बोली का प्रभाव अधिक है। मूर्ख के लिए शिक्षा सम्बन्धी अनेक उपदेश राजस्थानी गद्य में मिलते हैं।

अथ मूर्ख बहोतरी लिख्यते—

"बालक सू संग करै ते मूर्ख। बड़ा माणस सु हरही मैं ते मूर्ख। आलें मारें पर घरजाइ तै मूर्ख। पितानुं नीच नी उरमा दे ते मूर्ख। बेकाम पाप करै ते मूर्ख। दान दैता आडो आवैं ते मूर्ख। गीत कथा कहतां आडो कांकडो मारै ते मूर्ख। राजा माने तेह सूं आडो हाले ते मूर्ख।

X X X X

गई वस्तु नें झूरें ते मूर्ख। कीधो उपगार न जाणे ते मूर्ख। इति मूर्ख बउतरी समाप्त। लेखक रामधन नागोर वाला।"[2]

उपदेशात्मक राजस्थानी साहित्य में गद्य का सुन्दर प्रौढ़ रूप मिलता है। व्याकरण विषयक रचनाओं की भी यही स्थिति है किन्तु कुछ रचनाएं जो 19वीं शताब्दी के लगभग लिखी गई हैं, उनमें ब्रज अथवा खड़ी भाषा का प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। राजस्थानी गद्य में अभिव्यक्तिगत सामर्थ्यता एवं स्पष्टता के सच्चे उदाहरण व्याकरण-ग्रन्थ ही हैं। जहां तक भाषा के व्यावहारिक उपयोग का प्रश्न है, राजस्थान का व्यावसायिक वर्ग प्रारम्भ से ही राजस्थानी गद्य का प्रयोग अपने दैनिक बही-खातों तथा लेन-देन विषयक चिट्ठों (हुंडी) आदि में करते रहे हैं। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि राजस्थानी मात्र साहित्यिक भाषा ही नहीं है, अपितु व्यावहारिक भाषा भी है। राजस्थानी का प्राचीन राजस्थानी गद्य जहां आकार की दृष्टि से विशाल है वहां प्रकार की दृष्टि से भी वह विभिन्न स्रोतों में प्रवाहित होता रहा है। सारांश यह है कि भाषा-शैली तथा शिल्प की दृष्टि से यह गद्य अनुदित, ऐतिहासिक, कलात्मक, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक रूपों में अपनी विशालता का परिचय स्वयं देता है। विभिन्न विधाओं के सृजनात्मक साहित्य का मूल्यांकन करने के पश्चात् उनके विशिष्ट शैलीकारों का परिचय देना भी आवश्यक है।

---

1. ह. लि. प्रति (चौपासनी)।
2. ह. लि. प्रति 19वीं शताब्दी : राज. प्रा. वि. प्र., जोधपुर।

तृतीय-प्रकरण

प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य : रचनाओं का परिचय और शैलियां

राजस्थानी भाषा का आधुनिक गद्य साहित्य विभिन्न साहित्यिक रूपों में विकसित हो रहा है किन्तु उसका प्रारम्भिक गद्य साहित्य भी अपने साथ अतीत की गौरवपूर्ण परम्पराएं संजोए हुए है। राजस्थानी भाषा का गद्य साहित्य जितना प्राचीन है, परिमाण की दृष्टि से उतना ही समृद्ध भी है। यद्यपि 12वीं शताब्दी तक का समय अपभ्रंश काल के रूप में माना जाता है किन्तु 9वी शताब्दी से अनेक जनभाषाएं विभिन्न जन पदों में अपना पृथक् स्वरूप स्थापित कर रही थी, जिनमे मरु भाषा के रूप मे राजस्थानी भी एक थी। 16वी शताब्दी तक पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात की भाषा एक ही रही है तथा दोनों का विकास अपभ्रंश के एक ही स्रोत से हुआ है, चाहे उसे नागरी अपभ्रंश के नाम से पुकारा जाय अथवा गुर्जरी अपभ्रंश से। दोनो शब्दों का अर्थ एक ही अपभ्रंश से है, मात्र नाम भेद की समस्या विद्वानों ने उपस्थित की है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नागर-अपभ्रंश का अर्थ पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात की साहित्यिक भाषा से ही है जो 16वी शताब्दी तक एक सम्मिलित रूप में दोनो प्रदेशों की ही जनभाषा थी। 'गुर्जरी' का नाम देकर विद्वान 'गुर्जर' प्रदेश की ओर संकेत करना चाहते हैं जिसका अर्थ भी गुजरात प्रदेश ही है। अतः चाहे इसे गुर्जरी अपभ्रंश कहा जाय अथवा नागर अपभ्रंश, किन्तु बात एक ही है।

13वीं शताब्दी तक राजस्थानी पद्य में रचनाएं होती रहीं किन्तु वे कम सुरक्षित रह सकी। गद्य रचना को परम्परा स्पष्ट रूप से 14वीं शताब्दी से मानी जा सकती है। शिलालेख एवं ताम्र पत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि गद्य की परम्परा इससे भी प्राचीन अवश्य थी किन्तु उसके पर्याप्त उदाहरण नहीं मिलते तथा चूंकि इससे पूर्व की रचनाओं पर अपभ्रंश का इतना अधिक प्रभाव है कि उनमे जन भाषाओं के प्रकृतिगत संस्कार बहुत कम मिलते हैं, अतः उन्हें राजस्थानी गद्य की रचनाओं के रूप में स्वीकार नहो किया जा सकता। बीकानेर के नापूसर गांव मे राजस्थानी गद्य का एक 13वीं शताब्दी का जो शिलालेख मिला है उससे राजस्थानी गद्य की प्राचीनता स्पष्ट प्रकट होती है।

1. शिलालेख :

'समत 1280 वेरखे मती माह सुद 2 राग-ड कुसलो गारधनत
काम पायो ढुंगा धनेस-सर माह। रगड़ कुसलो रणधोर

त भुभार हवा छै पाता हरपोयो रै वैरे महे कम था पा
भटी कस (ल) सध अलराज तरै म हुउत ।। काम यथा छ ।।'[1]

क्रिया शब्दों के लिए 'छ' का प्रयोग पुरानी राजस्थानी में बराबर मिलता है तथा इस शिलालेख की अधिकांश शब्दावली राजस्थानी भाषा की ही है। हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासकारों ने गोरखपंथी गद्य ग्रन्थ के कुछ अवतरणों मे 'कहिबो' करिबो, पूछिबो के प्रयोग के कारण उन्हें राजस्थानी गद्य के उदाहरण ही माने हैं,[2] किन्तु डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी इन रचनाओं को राजस्थानी का अंग नहीं मानते, क्योंकि पूछिबो, कहिबो तथा करिबो आदि का प्रयोग मूलतः ब्रजभाषा में ही होता है, राजस्थानी मे नहीं। पूर्वी राजस्थान मे (जो ब्रज से प्रभावित है) आज भी क्रियाओं के अन्त में 'बो' लगाने की प्रथा प्रचलित है। राजस्थानी गद्य के प्रामाणिक उदाहरण 14वी शताब्दी से ही मिलते हैं। इस समय तक राजस्थानी और गुजराती भाषाएं एक ही थी तथा दोनो मे मात्र आंशिक प्रादेशिक भेद ही था। एल. पी. टेसेटरी ने इस काल की भाषा को प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का नाम दिया है,[3] जो संगत ही है। इस काल की प्रमुख रचनाएं ताड़ पत्रों पर ही मिलती हैं जिनका साहित्यिक परिचय यहा दिया जा रहा है। इन रचनाओ का प्रकाशन हो चुका है। कृतियों के विभिन्न नाम इनके शिल्प की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। ये रचनाएं न केवल राजस्थानी गद्य की दृष्टि से, अपितु हिन्दी गद्य के लिए भी महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। इनका गद्य और विषय भी विविध प्रकार का है। धार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टि से ये रचनाएं उपयोगी हैं।

2. आराधना (सं. 1330 वि.) :

यह सबसे प्राचीन कृति है जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। कृति के नाम से ही स्पष्ट होता है कि कृति का विषय धार्मिक उपासना मूलक है। कृति की भाषा मे संस्कृत शब्दो की प्रचुरता है तथा अपभ्रंश के शब्द भी काफी संख्या मे हैं। वाक्य अत्यन्त लम्बे हैं एवं विराम चिह्न बहुत कम एवं दूर-दूर पर हैं। अतः इसे समास प्रधान शैली की कृति कहा जा सकता है। जैसे—'परमेश्वर अरहंत सरणि सकल कर्म निमुक्त सिद्ध सरणि संसार परिवार समुतरण यान पात्र महासत्व साधु सरणि सकल कर्म निर्मुक्त सिद्ध सरणि संसार परिवार-समुतरण यान पात्र महासत्व साधु सरणि सकल पाप पटल कवल नव कलक कलितु केवलि प्रणीतु धर्म्मु सरणि सिद्ध संघ गत केवलि श्रुत आचार्य उपाध्याय सर्व साधु व्रतिणी श्रावक श्राविका इहज काइ आशातना की हुंति ताहि मिच्छामि दुक्कड़।'[4]

1. वरदा, वर्ष 4 अंक 3, पृ. 3।
2. हि. सा. का इतिहास, आचार्य रा. च. शुक्ल।
3. Notes on the Grammar of old Western Rajasthani Indian Antiquatry 1914-16 : Introduction, L. P. Tessitory.
4. प्रा. गुर्जर का. सं. पृ. 89।

प्रस्तुत कृति में शैलियों के विविध रूप नही मिलते। समास प्रधान शैली का प्रयोग प्रारम्भ से अन्त तक हुआ है। शैली में काव्यात्मकता एवं गद्यात्मक लय अधिक मात्रा मे है। शब्दों की पुनरुक्ति है किन्तु खटकती नही है; मात्र भाव को ही बल देती है। कहीं-कही अनुप्रास प्रधान काव्य शैली बोझिल सी प्रतीत होती है। अपभ्रंश एवं सस्कृत का व्यापक प्रभाव होने के कारण भाषा मे क्लिष्टता आ गयी है। प्राचीन राजस्थानी भाषा का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। सार्थक और निरर्थक तथा विपर्यय शब्द-युग्मों का प्रयोग बराबर हुआ है, जैसे—श्रुत-अश्रुत, स्वजन-परिजन, मित्र-शत्रु, इष्ट-अरिष्ट, ज्ञात-अज्ञात, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि।

आराधना में गद्य का स्पष्ट स्वरूप परिलक्षित नही होता अपितु यह टीका, टिप्पणी सा प्रतीत होता है। भाषा का तत्कालीन-रूप उसमें सुरक्षित है। लेखक ने गद्य लिखने का प्रयास अवश्य किया है किन्तु वह प्रौढ गद्य लिखने में सफल नही हो सका है। श्री सीताराम लालस इस कृति की भाषा को राजस्थानी भाषा का उदाहरण नहीं मानते। वे इसमे परवर्ती प्राकृत एवं अपभ्रंश का रूप मानते हैं जिस पर संस्कृत का भी प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है।[1] श्री लालस का यह कथन बहुत कुछ सत्य है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आराधना एक ऐसी कृति है जिसमें राजस्थानी गद्य के अंकुर देखे जा सकते हैं।

अपभ्रंश की रचनाओ मे ध्वन्यात्मक शब्दो का प्रयोग उसकी प्रवृत्ति के अनुसार ही हुआ है। अणुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग महाकाव्यों के साथ गद्य रचनाओं में भी मिलता है; जैसे—हुण कट कियटतर नत्र सुत्र। खु खुंद खंद लम्बे अरबुमि नि। आकारान्त पदों का रूप अपभ्रंश में खूब पाया जाता है, जैसे—मल्ला, मारिआ, मग्गा, चडिया, मिलिया आदि। अपभ्रंश में अलकारो का प्रयोग तो ठीक संस्कृत की तरह ही हुआ है। उकारात्मक प्रवृत्ति अपभ्रंश की अपनी प्रकृतिगत विशेषता है, किन्तु धीरे-धीरे अपभ्रंश की विभक्तियां और प्रत्यय कम होते गये। 'उ' कार का प्रयोग समाप्त होता गया तथा अ और इ के स्थान पर 'ए', अ और उ के स्थान पर 'ओ' तथा अ और ऊ के स्थान पर 'ऊ' एवं प्रत्यय के स्थान पर 'ए' का प्रयोग प्रारम्भ होने लगा। 'उ' एवं 'इ' प्रत्यय के प्रयोग से शब्दो के गठन की परम्परा अपभ्रंश मे बराबर रही है; जैसे—आवश्यक, व्याकरण, रात्रि, गुरि आदि इन प्रत्ययों का प्रयोग वर्तमान कालिक क्रिया के रूप मे भी बराबर होता रहा है, जैसे—लिउ, दिउ, करइ, हुई, बइसइ, कीजउ, दिवरावइ, लमाडइ आदि। आचार्य सोम प्रभ सूरि तथा अन्य जैनाचार्यों की गद्य रचनाओ मे इनका प्रयोग बराबर देखने को मिलता है; जैसे—अंउ करइ, तउ करइ, लेइ इत्यादि। तथा-गुरि अणुआणिउ चेलु व्याकरण पढत। आदि।

(औक्तिक संशक रचना)

---

1. श्री सीताराम लालस, परम्परा, भाग 12, पृ. 120।

अपभ्रंश में व्यंजनों में ङ तथा 'ञ' को छोड़कर सभी ध्वनियां मिलती हैं। आदि 'य' अपभ्रंश परम्परा के अनुसार 'ज' में बदल जाता है जिसका रूप आज भी राजस्थानी में चला आ रहा है, जैसे-यजमान का जजमान आदि। मध्य व्यंजन के लोप की प्रवृत्ति के साथ-साथ 'म' का 'व' भी हो जाता है। अन्तिम व्यंजना का लोप भी राजस्थानी में अपभ्रंश के प्रभाव के कारण ही है; जैसे—जगत का जग, आत्मन का आतमा आदि। सर्वनामों में रूप परिवर्तन के साथ-साथ शब्द-रूपों में सरलता भी अपभ्रंश के कारण ही आ पायी है। अपभ्रंश की ये समस्त विशेषताएं किसी न किसी रूप में राजस्थानी की प्रारम्भिक रचनाओं में देखने को मिलती हैं।

3. बाल शिक्षा व्याकरण (सं. 1336) :

श्री संग्राम सिंह द्वारा रचित बाल शिक्षा व्याकरण' में राजस्थानी गद्य के उद्धरण पाये जाते हैं। यद्यपि यह कृति संस्कृत व्याकरण से सम्बन्धित है किन्तु तथ्यों को समझाने के लिए इसमें राजस्थानी शब्द समूहों का प्रयोग किया गया है, जैसे–

"अथ प्रत्येकं विभक्ति प्राप्ति माह-करई, लियई, दियई इत्यादौ वर्तमाना।।।
कीजई, दीजई, लीजई इत्यादौ वक्तोता कर्माणि वर्तमानाया आत्मनेपदम।
करिजे, लेजे, देजे इत्यादौ एकारान वचन सप्त पद।।"[1]

उपर्युक्त शब्दों में राजस्थानी का रूप दिखाई देता है। व्याकरण ग्रन्थ में भाषा एवं शब्द के रूपों को व्यवहारिक रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसे हम बालवबोध पद्धति का ही एक रूप मान सकते हैं। रचना कृति शैली की दृष्टि से उपयोगी है।

4. अतिचार (सं. 1340) :

आचारण सम्बन्धी दोषों का निवारण अतिचार कहलाता है। 'अतिचार' नाम से दूसरी प्रति (सं. 1399) भी ताड़ पत्र पर मिली है। इन दोनों ही रचनाओं में धार्मिक सिद्धान्तों के पालन करने के नियमों का वर्णन किया गया है। अतिचार (सं. 1340) एवं आराधना की रचना में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है, केवल विषय वस्तु का ही अन्तर है। अतिचार की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार है। अपभ्रंश का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणार्थ—

"रस त्यागु, काय किलेसु सलेखना कीधी नहिं तथा प्रत्याखान एकासणा विपरिमद्ध साढ पोरिसि पौरिसि मंगु अतिचारू नीविय आंबलि उपवासि की घर विरासइ सचित पाणीउ हुयइ पक्ष दिवसमांहि।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण में शब्दों की प्रकृति प्राचीन राजस्थानी [redacted] समान है। कुछ शब्द तो ऐसे भी मिलते हैं जिनका ज्यों का त्यों प्रयोग आधुनिक राजस्थानी में भी होता है, जैसे—करतां, पढतां, गुणतां, एकासणा आदि। वाक्य छोटे-छोटे, सरस

---

1. डा. हरीश, आदिकाल का हिन्दी गद्य साहित्य, पृ. 24।
2. प्रा०गु० काव्य संग्रह, पृ० 88।

एवं प्रवाह वाले है । 'इ'कार की परम्परा पहले से भी प्रचलित है जबकि 'ए' के रूप मे जो शब्द आये हैं वे नये हैं तथा उन पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है । अप-भ्रंश की उकारान्त प्रवृत्ति शब्दों मे प्रतीत होती है । अपभ्रंश के प्रभाव से नये शब्द रूप, जैसे—लागउ, पानि, आगलइ, कीधो, केसणा आदि का प्रयोग सर्वत्र मिलता है । सम्वत् 1368 में रचित अतिचार की भाषा मे कुछ ठेठ प्राचीन राज-स्थानी शब्दो का भी प्रयोग हुआ है ।

5. नवकार व्याख्यान (सं 1358) :

यह कृति प्राकृत मे सूत्र रूप में लिखी गयी है । जैन अपने पंच परमेष्ठियों को जिन मंत्रों के माध्यम से नमस्कार करते हैं उनकी व्याख्या इस कृति में की गई है । इसे टीकात्मक पद्धति का प्रथम ग्रन्थ इसलिए स्वीकार किया जा सकता है कि इससे पूर्व की कोई रचना कृति इस पद्धति में प्रकाश मे नहीं आयी है । इस व्याख्यात्मक परम्परा मे जैन आचार्यों द्वारा लिखित अनेक रचनाएं मिलती हैं जिन पर आगे प्रकाश डाला जायेगा । श्री समय सुन्दर की कृति 'षडावश्यक बालावबोध' की टीका इसी परम्परा में लिखी गई है । प्राकृत सूत्र की व्याख्या सरल व स्पष्ट रूप मे की गई है ।

उदाहरणार्थ —

।। नमो सिद्धाणं ।। 2 ।। महारउ नमस्कार हुउ । किसा जि सिद्ध, दुष्टाष्ट कर्म्मक्षउ वक करिउ जि मोक्षि गया । आठ कर्म किसा भणियइ । ज्ञाना वरणिउ रा, दरिसणावरणीउ 2, वेदनीउ 3, मोहनीउ 4, आयु 5, नामु 6, गोत 7, अंत-राउ 8, इहे आठ कर्म्मक्षउ करिउ जी सिद्धि गया । किसी ज सिद्धि, लोक तणइ आग विभागि पंचतालीस लक्ष योजन प्रमाणि जिसउ उत्ताणु छतु तिसइ आकारि ज सिद्धि-सिद्धि मिला अमल परिनिर्मल जल संकाश जु अजरामर स्थानु, तेइ ऊपरि योजन संवधिइ चउवीसमइ य विभयगी जि सिद्ध अनेत सुखलीण ति सिद्ध भाणिय हुतीह सिद्ध माहरउ नमस्कारू हुउ ।।"[1]

उपर्युक्त अवतरण की भाषा में प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्दों का प्रयोग हुआ है । समय सुन्दर ने भी अपने षडावश्यक बालावबोध मे आठ कर्मों की ओर उल्लेख किया है किन्तु उनकी शैली में संक्षिप्तता एवं समास प्रधान शैली का गुण है जबकि इस कृति में इन्हीं तथ्यो की विस्तार से व्याख्या की गई है । अतः इसकी शैली को व्यास शैली कह सकते हैं ।

6 तत्त्व विचार प्रकरण (सं. 14वीं शताब्दी) :

इस कृति के माध्यम से धर्म प्रचार, चरित्र सयंम एव शुद्धाचार जैसे अनेक तथ्यों को जनसाधारण तक पहुंचाने का प्रयत्न किया गया है । कृति के विषय को

1. उद्धृत : भा० का हिन्दी ग० सा० : डा० हरीश, पृ. 25 ।

देखकर यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि इसका रचनाकार कोई जैन लेखक ही होगा क्योंकि इसमें जैन धर्म के तत्वों पर ही टिप्पणियां मिलती हैं। इसके गद्य में स्पष्टता एवं सरसता का गुण है किन्तु कथात्मकता, शृंखलबद्धता एवं गद्यात्मक लालित्य का अभाव है। वर्ण्य विषय जनसामान्य के लिए दुरुह है किन्तु लेखक ने प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से विषय को स्पष्ट बनाने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ—

सोउ धर्मु किसउ भणियइ ? दुर्गति पड़ता प्राणिया धरइ सु धर्मु भणियइ। सोइ कति विधु होइ ? दु-विधु-प्रथमु यति-धर्मु, बीजउ, श्रावक धर्मु ।

"यति किसा भणियइ ? प्रव्रजिया, चारित्रिया अठार सहस्र सीलांगधारक, पंच महाव्रत पालक।

श्रावक किसा होहि ? श्रवतीति श्रावकः वृतिया पासि धर्मु सांभलहि, दातु अनवरतु श्रयहि, ते श्रावक भणिजहि।

ताहं वणउ धर्मु केते भेदे ? बार भेदे-पांच अणुव्रत, तिन्नि गुणव्रत, चारि शिक्षाव्रत ॥ 1 ॥

प्रस्तुत उद्धरण से ही प्रतीत होता है कि रचनाकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए स्वयं ने ही प्रश्न उपस्थित किये हैं तथा व्याख्यात्मक ढंग से उनका हल भी खोजा है। समसामयिक रचनाओं की तुलना में इसे सरलता से पढ़ा जा सकता है। सानुप्रासिकता का गुण भाषा-शैली में बराबर मिलता है। अपभ्रंश का प्रभाव तो स्पष्ट है किन्तु पुरानी राजस्थानी अथवा गुजराती शब्दों का प्रयोग एवं प्रभाव भी स्थल-स्थल पर दिखाई देता है। इस कृति का रचना काल 14वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध होना चाहिए क्योंकि इसकी भाषा काफी प्रौढ़ है। अतः निश्चित रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'तत्त्व विचार प्रकरण' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना-कृति है। इस कृति की भाषा का प्रवाह सरलता की ओर है तथा 'आराधना' की भाषा से तो पर्याप्त भिन्न है। शब्दों में समान रूप से संतुलन प्रतीत होता है। तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

7. धनपाल कथा (14वीं शताब्दी) :

कथात्मक शैली में रचित इससे पूर्व की कोई प्राचीन प्रौढ़ रचना आज तक राजस्थानी गद्य में प्रकाश में नहीं आई है। इसकी कथावस्तु अत्यन्त सरस और मौलिक है तथा राजा भोज से सम्बन्धित है। मूल कथा में धनपाल (स्वयं लेखक) ने अपने जीवन की एक घटना की ओर संकेत किया है। तिलक मंजरी कथा को अग्नि से नष्ट कर दिये जाने के पश्चात् धनपाल कवि ने पुनः किस प्रकार उसकी रचना की—इसी कहानी को प्रचलित जनभाषा (राजस्थानी) में प्रस्तुत किया है। कथा की भाषा-शैली से यह प्रकट होता है कि लेखक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं का विद्वान था। इसकी भाषा अपभ्रंश के अधिक निकट है, अतः 14वीं शताब्दी से पूर्व की ही प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ—

'उज्जयनी नामि नगरी। तहिठे भोजदेवु राजा। तीयहि तणइ पंचह सपइ पंडितह मोहि मुख्यु घनफल नामि पडितु। तीयहि तणह घरि अन्यदा कदाचित साधु विहरण निमित्तु पइठा। बीजतु पंडितह एणी भार्यात्रीजा दिवसइ णो दधि लेह ऊठी। बीजतु काई तिणि प्रस्तावि वृत्तिया। विहरण सारी लेउं नहुंतउ व्रतिया भणियउं केता दिवसहणी दधि। तिणि ब्राह्मणी भणियउ, तीजा दिवसहणी दधि। महा मुनिहि भणियउ त्रिजा दिवराइ णी न दधि न उपगरीं व्रतिया ठाला नीसरता पंडिति घनपालि गवाक्षि उपविष्टि हूंतइ दीठा।'—घनपाल कथा—

माहि, नीसरता, दीठा, भणइ आदि शब्दों मे राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। क्रिया शब्द 'है' के लिए 'छइ' शब्द का प्रयोग भी राजस्थानी के प्रभाव को ध्वनित करता है। भणियउ, पूछियउ, करउ, वालियउ, नहुंतउ आदि शब्दों में अपभ्रंश का प्रभाव है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी बराबर हुआ है। रचना में भाषागत सौन्दर्य, सरसता एवं राजस्थानी का प्रारम्भिक विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है। मूलतः कथात्मक शैली का ही सर्वत्र प्रयोग हुआ है, अतः यह कहा जा सकता है कि यह कृति राजस्थानी गद्य की प्रथम कथात्मक रचना है। अनेक वाक्यों का गठन आधुनिक राजस्थानी के निकट प्रतीत होता है, जैसे—

घनपाल पंडित रीस चढी।

+ + +

ब्राह्मण जाइउ भोजदेव राजा आगइ कहियएं।

(ए का प्रयोग पूर्णतया आधुनिक है)

कहीं-कहीं क्रिया शब्द ही लुप्त है; जैसे—

उज्जयनी नामि नगरी तहिठे भोजदेव राजा। आदि। यह परम्परा राजस्थानी गद्य में 19वीं शताब्दी तक प्रचलित रही है। इस कृति की भाषा शैली को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो इसके रचना काल तक आते-आते राजस्थानी गद्य मे स्थिरता आ गयी थी।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त 'सर्व तीर्थ नमस्कार स्तवन' (सं. 1359) नाम की एक अन्य छोटी सी रचना भी प्रकाश में आयी है जो टिप्पणी के रूप मे लिखी गई है। इसमें संक्षेप मे समस्त लोकों के विशिष्ट तीर्थों की वंदना की गई है। राजस्थानी के प्रारम्भिक गद्य में इन कृतियों का विशेष महत्त्व है क्योंकि इन्ही के बल पर राजस्थानी गद्य की परम्परा का परिचय मिलता है। डा. हरिवंश कोछड़ ने उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला कथा (वि. सं. 835) से लेकर घनपाल कथा तक की रचनाओं को अपभ्रंश गद्य के अन्तर्गत ही माना है।[1] वे इन कृतियों में अन्त्यानुप्रास (तुकान्त) शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति के कारण ऐसा मानते हैं किन्तु अन्त्यानुप्रास शब्दों की परम्परा तो राजस्थानी गद्य में 17वीं शताब्दी तक भी किसी न किसी रूप मे रही

1. डा. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. 377, 381।

है। इन कृतियों पर अपभ्रंश का प्रभाव तो स्पष्ट है किन्तु राजस्थानी भाषा की अपनी शब्दावली का प्रयोग इनमें बराबर है; अतः इन्हें एकमात्र अपभ्रंश की रचनाएं स्वीकार नहीं किया जा सकता।

14वीं शताब्दी का राजस्थानी गद्य विकास एवं भाषा-स्वरूप की दृष्टि से उल्लेखनीय है। अब तक के गद्य साहित्य मे भाषा के प्रकृतिजनित संस्कार नहीं आ पाये थे तथा वह अपभ्रंश के प्रभाव से भी पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाया था। भाषा मे स्थिरता न आने का एक कारण यह भी था कि लेखक अपभ्रंश एवं संस्कृत की परम्परा को छोड़कर जनभाषा मे रचना करना अच्छा नहीं मानते थे। धीरे-धीरे यह हीन भावना हटती गई एवं जैन आचार्यों ने राजस्थानी गद्य के माध्यम से अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जन सामान्य तक पहुंचाना प्रारम्भ किया। अतः यदि यह कहा जाय कि प्राचीन राजस्थानी गद्य को विकसित करने में जैन आचार्यों का प्रयास विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है तो कोई अनुचित नहीं होगा। जैनों के प्रयास के कारण शब्द चयन एवं भाषा मे वैज्ञानिकता उत्पन्न होने लगी किन्तु गुजराती भाषा का प्रभाव फिर भी बना रहा। 14वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में अपभ्रंश का प्रभाव अवश्य ही कम मिलने लगता है। तत्सम शब्दों का प्रयोग भाषा की गौरवपूर्ण परम्परा के लिए प्रचलित रहा। जैन आचार्यों के प्रयासों के कारण अनेक कृतियों के दर्शन होने लगे तथा मौलिक प्रवृत्तियों का विकास प्रारम्भ हुआ। परिणामत. शैली में विविध रूपों का विकास प्रारम्भ हुआ। जैनों के साथ चारणों ने भी गद्य लिखना प्रारम्भ किया जिसके कारण स्मृति ग्रंथों की रचना प्रारम्भ हुई, जैसे—पृथ्वी चन्द्र चरित्र, दलपत विलास, अचल दास खीची री वचनिका आदि।

14वीं शताब्दी से लिखे जाने वाला राजस्थानी गद्य साहित्य बालावबोध, टब्बा, दवावैत, वचनिका, ख्यात एवं बात आदि विशिष्ट विधाओं के अन्तर्गत जैन, जैनेतर एवं लोक साहित्य के रूप मे विकसित होने लगा। जैन आचार्यों द्वारा रचित प्रारम्भिक रचनाएं 'बालावबोध' पद्धति में मिलती हैं। सरल भाषा मे जन साधारण के लिए ये ग्रन्थ टीकात्मक पद्धति मे लिखे गये थे। टीका के पर्यायवाची नाम से अथरार्थ, अर्थ तत्त्व, अवचूरि, छाया, टिप्पनक, पर्याय, पंजिका, फक्कि, वर्तिक, विवरण, विकृति, वृति, व्याख्या, बालबोध, वचनिका, स्तबक (टब्बा) आदि रूप इस समय प्रचलित रहे हैं। जैन ग्रन्थो के अतिरिक्त जैनेतर ग्रन्थो पर भी टीकाएं लिखने की परम्परा प्रचलित रही है। श्री अगर चन्द जी नाहटा के अनुसार जैनेतर ग्रन्थों पर सबसे पुराने *टीकाकार श्री हरिभद्र सूरि हैं जिनका समय 9वीं शताब्दी* है।[1] इसके पश्चात् लगातार टीकाएं लिखने की परम्परा विकसित होती ही गई। प्राकृत अथवा सस्कृत भाषा के सूत्रो को भी इन कृतियो में बड़े ही सरल एवं सरस ढंग से प्रकट किया गया है। आदिकाल हिन्दी गद्य का विकास ... बालावबोध ... के

1 श्री नाहटा, भारतीय विद्या, भाग 2, अंक 3, पृ.

माध्यम से हुआ है। टीकात्मक गद्य साहित्य के साथ-साथ आदिकालीन राजस्थानी गद्य में वर्णनात्मक गद्य रचनाओं की भी संख्या कम नहीं है। वर्णक साहित्य में विभिन्न वस्तुओं, स्थलों एवं दृश्यों का सांगोपांग वर्णन किया जाता है। प्रकृति वर्णन से लेकर स्त्री पुरुष तक का वर्णन करने की परम्परा राजस्थानी के आदिकालीन गद्य साहित्य में मिलती है। वर्णन में स्वाभाविकता एवं मौलिकता नितान्त आवश्यक है। वर्णन की इस परम्परा के दर्शन राजस्थानी की अन्य कलाओं एवं विधाओं में भी हो सकते हैं। वर्णनात्मक शैली का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि साहित्य की कोई भी विधा इससे अछूती नहीं रह सकी है। आदिकालीन राजस्थानी गद्य में वर्णनात्मक शैली की प्रधानता रही है।

उदाहरणार्थ—

नदी वर्णन—

नदी, दो तड पाड़ती, कचवर उपाडती।
संज उन्मूलती कुंभिणि घालती।
सावज हणती, जड़ो मूली खणती।
मार्गलोक खलती वलणि वलती।
तरू तोखती, नीचउ ओप्रती।
महापूरि कल कलती, कल्लोलि उछलती।
लहरि करी सू सूती, वाहले फूफूती।
जिस कृतांत तणी मूर्ति तिसी रौद्र, बेउ तट लेई भावी नदी।
(सभा श्रृंगार, सं. नाहटा, पृ. 28)

तथा—

8. वर्षाकाल वर्णन :

"उमटी घटा, बादला होइ एकठा, पड़ई छटा, भाइज भटा,
भीजइ लटा।
मेह गाजइ, जाणे नाल् गोला वाइज, दुकाल भाइज, सुवास वाजई,
इन्द्र राजइ, ताप पराजई।
बीज भबके, मेह टबके, हीया दबके, पाणी भमके, नदी उबके
वन चर तबके, आयो प्रबके।
X X X X
खलके खाल्, वहै परनाल, चूवे साल्, साप गया पयाल्।
भड़ लागी, लोक दसा जागी, घर पड़े, लोक ऊंचा चढ़ै,
आभा राता, मेह माता।"[1]

राजस्थानी गद्य के प्रारम्भिक काल में अज्ञात लेखकों की विविध विषयक अनेक वर्णनात्मक रचनाएं मिलती हैं जिनमें गद्य का विकास स्पष्ट होता है। यहाँ-

1. सं. अगर चन्द नाहटा, सभा शृंगार।

कहीं विभिन्न वस्तुओं के वर्णन के साथ साथ युद्ध वर्णन भी विविध रूपों में मिलता है। राजस्थानी का प्राचीन लोक साहित्य मूलतः पद्य में ही विकसित अधिक हुआ है तथा इसकी परम्परा भी मौखिक ही रही है। शैली की दृष्टि से भी यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगे चलकर गद्य में दो प्रमुख धाराएं बन गयी थी—जैन शैली और चारण शैली। जैन शैली विविध विधाओं में विकसित होती रही किन्तु चारण शैली ऐतिहासिक ख्यातों, वचनिकाओं तथा बातों तक ही सीमित रही। उसका मूल पक्ष लौकिक था जो मात्र मौखिक रहा। जैन साहित्य सुरक्षित भंडारों में सुरक्षित रहा किन्तु चारणों का साहित्य तत्कालीन अशान्त (युद्ध) वातावरण में सुरक्षित नहीं रह सका क्योंकि चारण कवियों का कार्य मात्र साहित्य निर्माण करना ही नहीं अपितु युद्ध के मोर्चे पर तलवार लेकर उपस्थित होना भी था। जैन गद्य साहित्य भी स्थूल रूप से श्वेताम्बर जैन और दिगम्बर जैन शाखा में विभाजित किया जा सकता है। श्वेताम्बर जैन साहित्यकारों का साहित्य गुजराती से प्रभावित रहा तथा दिगम्बर जैनाचार्यों का साहित्य व्रज भाषा से। श्वेताम्बर जैन आचार्यों, कवियों तथा विद्वानों का क्षेत्र अधिकतर राजस्थान और गुजरात ही रहा, अतः उनकी कृतियों की भाषा पूर्णतया राजस्थानी रही जबकि दिगम्बर कवियों और आचार्यों का क्षेत्र दक्षिण भारत और मध्य देश रहा जिससे उनकी रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम किन्तु व्रज का अधिक रहा। नासिकेत री कथा एवं पूरणमासी री कथा पर व्रज भाषा के प्रभाव को प्रकट रूप में देखा जा सकता है। कालान्तर में दिगम्बर जैनों ने ढूंढाडी (राजस्थानी) में भी पर्याप्त गद्य लिखा किन्तु विषय विविधता एवं साहित्यिक दृष्टि से श्वेताम्बर जैनाचार्यों का गद्य ही परिमाण की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।

प्राचीन राजस्थानी गद्य के परिचयात्मक उल्लेख के पश्चात् प्रमुख साहित्यकारों एवं अज्ञात लेखकों की रचनाओं का शैलीगत विवेचन करना भी आवश्यक है।

9. आचार्य तरुणप्रभ सूरि :

तरुणप्रभ सूरि आचार्य जिनचन्द्र सूरि के शिष्य थे। इनके जन्म काल एवं स्थान के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती किन्तु यह सत्य है कि लोक भाषा के गद्यकारों में आपका स्थान प्रथम है। आपने सं. 1411 में लोक भाषा राजस्थानी में '*षडावश्यक बालावबोध*' की रचना की थी। प्रस्तुत रचना राजस्थानी गद्य के अभ्युदय काल की विशिष्ट रचना है जिसका आधार धार्मिक है। जैन धर्म के छः आवश्यक कर्मों (सामयिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान) पर प्रकाश डाला गया है। लेखक का उद्देश्य चाहे धर्मोपदेश रहा हो, किन्तु इसकी रचना से आदिकालीन राजस्थानी गद्य को पर्याप्त बल मिला है। लेखक ने जैन धर्म सम्बन्धी आचार-विचार पर बड़ी ही सरल शैली में कथात्मक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए इस कृति की रचना की है। कृति को देखने से ही यह पता चलता है कि तरुणप्रभ सूरि संस्कृत, प्राकृत तथा लोक भाषा राजस्थानी के प्रकाण्ड विद्वान

थे। इनसे पूर्व राजस्थानी में स्वतंत्र एवं प्रौढ रूप में गद्य में रचना नही हो रही थी। यह रचना लोक भाषा में जैन ग्रन्थों की सर्व प्रथम भाषा-टीका है। इसके पश्चात् सैकड़ो बालावबोध लिखे गये हैं। इस ग्रन्थ मे अनेक कथाएं हैं, जैसे—दशार्णभद्र कथा, सम्यक्त्व उहर कथा, षष्ठ व्रत उपर कथा, प्रकीर्ण उपर कथा, शास्त्राभ्यास विषय पर कथा, लोभा लोभ विषयक कथा एवं जीवित मरण आशंका विषयक कथा आदि। संस्कृत मे जो श्लोक दिये गये हैं उनकी व्याख्या व्याख्यात्मक एवं सरल भाषा-शैली में कथात्मक दृष्टांतों के साथ की गई है। जैसे—

10. षष्ठ व्रत उपर कथा :

"वासंति नामि नगरी, कीर्तिपालु नामि राजा, भीमु नामि तेह नगरह प्रभु। पुत्र ही कन्हा अति वल्लभु सिंह नामि श्रेष्ठि। सु पुणु परम श्रावकु [illegible] वर्तई। अनेरई दिनि समामाहि कीर्तिपालु राजा सिंह श्रेष्ठि [illegible] जोयतउ हुंतउ वर्तई। तेतलई, प्रस्तावि प्रतीहारु आवी [illegible]— 'महाराज'! तुम्हरहइं देखण हारु एकु पुरुषु दिव्याकार [illegible]। राजा भणइ, माहि मेल्हि। तउ पाछइ प्रतीहारि मुक्त, [illegible] रहइं प्रणामी करी, आसनी समासीनु वीनवइ 'महाराज [illegible], [illegible] चन्द्र नामि नरेन्द्र रत्न मंजरी राज्ञी।"

सौन्दर्य है जो उससे पूर्व की रचनाओं में नहीं मिलता वस्तुतः इस रचना के पश्चात् राजस्थानी गद्य विकास की ओर चरण बढ़ाने लगा।

11. सोम सुन्दर सूरि :

तपागच्छीय सुप्रसिद्ध आचार्य सोम सुन्दर सूरि का रचना काल सं. 1456 से 1500 तक माना जाता है। आप एक शिष्ट ग्रन्थकार के रूप में जाने जाते रहे हैं। आपकी शिक्षा, बचपन एवं धार्मिक सेवाओं का क्षेत्र गुजरात रहा, अतः वहां के वातावरण का आपकी रचनाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। आपने संस्कृत में भाष्य त्रय चूर्णि, कल्याण स्तव, रत्न कोश एवं नवतत्वी आदि ग्रन्थों की रचना तथा राजस्थानी गद्य में आठ बालवबोध लिखे; जैसे—उपदेश माला, योग शास्त्र, षडाव' श्यक, आराधना, पताका, नवतत्व, भक्ता स्तोत आदि। साहित्यिक सेवाओं के कारण इनके युग को 'सोम सुन्दर युग' के नाम से पुकारा जाता है। जैन धर्म के इतिहास एवं साहित्य में श्री सोम सुन्दर सूरि का व्यक्तित्व प्रभावशाली रहा है। बालावबोध संज्ञक रचनाओं में भक्ति, आराधना, उपदेश, योग, नवतत्व विवेचन एवं योग शास्त्र आदि विषयों पर सरल भाषा में टीकात्मक पद्धति में व्याख्या की गई है तथा स्थल-स्थल पर दृष्टान्त स्वरूप कथाएं भी प्रस्तुत की गई हैं। योग शास्त्र विषयक कृति मूलतः हेमचन्द्र की कृति है किन्तु सोम सुन्दर सूरि ने इसी विषय पर मूल श्लोकों के आधार पर दो बालावबोध लिखे हैं। उपदेश माला बालावबोध इनकी सबसे सुन्दर कृति है। आचरण की पवित्रता पर प्रकाश डालने के लिए कुछ प्राकृत कथाएं भी जोड़ दी गई हैं। अन्य कृतियों में भी धार्मिक उपाख्यानों के अन्तर्गत स्थल स्थल पर सरल एवं सरस भाषा में कथा तत्व सम्मिलित किये गये हैं।

'उपदेश माला बालावबोध' प्राकृत भाषा का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। सदाचार के उपदेशों को कथाओं के माध्यम से संग्रहित किया गया है। श्रावकों के गुण, नियम, आचार विचार, अनुव्रत, योग पुरुष के लक्षण, इन्द्रियों की शुद्धि का स्वरूप एवं भावनाओं आदि का विश्लेषण किया गया है।

12. उद्धरण :

'चाणक्य ब्राह्मणि चन्द्रगुप्त क्षत्री पुत्र राज्य योग्य मणी संगलियो छइ। अनइ एक पर्वतक राजा मित्र कीधओ छइ। तेहनइ बलि चाणक्यइ कटक करी पाडलिपुरि आवी नंदराय काढी राज्य लीधउं। पर्वतक अर्ध राज्यनु लेणहार भणी एक नंदरायनी बेटी तक्षणे करी विष कन्या जाणी नइ परणातिओ चन्द्रगुप्त विसना उपचार करतओ वारिओ। तिम अनेराइं आपणां काज सरिया पूंठि मित्र हुई अनर्थ करइं।'

—उपदेश माला बालावबोध—

इनकी समस्त कृतियों में शैली एवं वस्तुगत समानता है। अपभ्रंश का प्रभाव तो स्पष्ट है किन्तु ध्वन्यात्मक एवं अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। 'उ' कार के साथ-साथ 'ओ' का प्रयोग भी प्रारम्भ होता प्रतीत

हो रहा है। भाषा की प्रकृति को देखकर यह कहा जा सकता है कि इनकी भाषा अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त होती जा रही है, अतः इसे प्राचीन राजस्थानी या जूनी गुजराती कहा जा सकता है। कथाओं में कहीं-कहीं उपदेशात्मक प्रवृत्ति के साथ-साथ वार्तालाप शैली भी मिलती है, जैसे—

'एक नापित विद्या-नइ बलि आपणउ घरपलु आकाश मंडलि राखइ। ते कन्हइ अेकइ त्रिदंडिइं ते विद्या लीधी। त्रिदंडिउ विदिशिइ जइ तीणि विध इं आपणउ त्रिदण्ड आकाश-मंडलि राखइ। ते देखी विस्मय हतु लोक तेह हइं पूजा भक्ति करइ।

एक वार लोके पूछिउ-अे विद्या नउ तुम्हारइं गुरु कुण ? बीणइ लाजतइ नापित न कहिउ। इम कहिउ-हिमवंत वासी माहरू विद्या-नु गुरु। तीणइ गुरु नइ अो विवइं करी त्रिदंड सउ खड़ात करतउ भुंई पडिउं। लोके सहूंले हसिउं। तेण भणी बीज बोजे-ऊ गुरु नउ निहूनव न करिवु।'

—गुरु महिमा पर कथा

योग शास्त्र विषयक अनेक कथाओ को भी बालावबोध शैली में कृतिकार ने प्रस्तुत किया है, साथ ही स्थल-स्थल पर संस्कृत के मूल श्लोक को उद्धृत करके व्याख्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया है, जैसे—

'जे गृहस्थ व्यय वरउ इहलोक अनइ धर्म आश्री आपणा आयोचित आप पवनइं मानिउ व्यय करइं, ते धर्म योग्य। जउ तेहनइ जउ व्यवसायनउ लाभ घणउ हुइ कोई धर्म वरउ न करइ तउ केवलउं पाप विभागीउ जि थाइ; अनइ लोक मांहि निन्द्य पणउ आमइ। अनइ उपार्ज्जन थोडी हुइ अनइ वरउ घणउ करइ तउ थोड़े दीहाडे दारिद्रय आवइ। सुम धर्म सहू चूकइ। तेह भणी मुनि इसिउं कहिउं।'

—योग शास्त्र बालावबोध

उपर्युक्त अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बालावबोध रचनाओं में छोटे-छोटे वाक्यों के बल पर विषय का व्याख्यात्मक शैली में प्रतिपादन करने की पद्धति प्रचलित रही है। बीच बीच मे कथाओं का दृष्टान्त विषय के स्पष्टीकरण मे तो सहायक होता ही था, साथ ही वह मनोरंजन की दृष्टि से भी उपयोगी था। उपदेश प्रधान कृति के रूप मे श्रावको के गुण, नियमो आचार, विचार, एवं योग-पुरुष के लक्षण आदि की मीमांसा करने के लिए उपदेश माला बालावबोध श्री सोम-सुन्दर जी की महत्त्वपूर्ण कृति रही है। विषयगत विविधता की दृष्टि से उनकी साहित्यिक एवं धर्मगत प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। जैन धर्म, इतिहास एवं साहित्य के क्षेत्र मे वे पूर्णतया निष्णात थे। राजस्थानी गद्य के विकास की दृष्टि से आपका कृतित्व प्रेरणादायक रहेगा।

13. मेरु सुन्दर :

श्री मेरु सुन्दर आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि के शिष्य थे। जीवन-वृत के विषय में जानकारी प्राप्त नही की जा सकी। बालावबोध परम्परा मे वे एक जाज्वल्यमान

नक्षत्र के रूप में माने जाते हैं, क्योंकि राजस्थानी बालावबोध परम्परा में इनकी सर्वाधिक टीकाएं मिलती हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण है—शीलोपदेश माला बालावबोध, पुष्पमाला बालावबोध, षडावश्यक बालावबोध, भक्तामर स्तोत, वृत रत्नाकर, भावारि वरण, कल्प प्रकरण, कर्पूर प्रकरण, योगशास्त्र, पंच निग्रंथी, षष्टिशतक आदि। बालावबोधो के अतिरिक्त अंजना सुन्दरी कथा एवं प्रश्नोतर ग्रन्थ आपके अन्य दो गद्य ग्रंथ है। आपका रचना काल 16वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध है। सभी रचनाएं प्रौढ़ राजस्थानी के उदाहरण हैं। रचनाओं का विषय धार्मिक हैं एवं आदिकालीन जैन वाङ्मय में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। महत्त्वपूर्ण रचना शीलोपदेश माला बालावबोध मूलतः जयकीर्ति की लिखी हुई है, जिसमें शील (ब्रह्मचर्य) सम्बन्धी विचार प्रकट किए गये हैं।

14. गद्य का उदाहरण :

'आबाल ब्रह्मचारी आजन्म चतुर्थ व्रतधारी श्री नेमि कुमार बाकी सभा तीर्थंकर तिणां नैं नमस्कार करी नैं शील रूप उपदेश तेहनी माला नो बालावबोध मूर्ख जनना उपकार भणी हूं। कहिस्यु नेमिकुमार ए नाम श्याम जी णे गृहस्थ वास में तिणी णें वरस घर रही राज अनैं राजी मती परहरी कुमार पणइ चरित्र लीधो। वली करेवा छे जपसार जय कही जे त्रिभुवन तै माहि शील रूप धरवाइ सुं एक सार प्रधान छै अथवा बाह्य अंतरंग वपरी जीपवइं कर सार छै।'[1]

संस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग तो बराबर हुआ है किन्तु अपभ्रंश भाषा का प्रभाव अपेक्षाकृत शब्दो पर कम दिखाई देता है। ओ' कार एवं ए' कार की विभक्तियों का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ है। गद्य में कही भी तुकान्तता एवं पद्यात्मकता का रूप नहीं मिलता। कहीं-कही दृष्टान्त कथाओं मे वार्तालाप शैली का प्रयोग भी हुआ है, जैसे—

'वेश्या पूछइ–तुझ नइ काई दीघउ ? कुमार कहइ–मुझ नइ औखध दीधउ, जिणि जरा जाइ, यौवन आवइ। अेहवइ वेश्या लोभ लगी कहिवा लागी–मुझ नई ते अलगी आदि। कुमार तत्काल त्ते फूल सुंघाड्या, तेतलइ मगधा फीटी रास भी हुई। कुमार लकुट लेइ। रासभीय चडिउ। पछइ उभइं चहुटइं लकुटई कुटइ। लोक मिल्या। कहइ–अ े कुमार ! मुकि: कुमार तउ न मूकइ। तेतलइ सर्वे वेश्या पोकार करिवा लागी।'

—अमर सेन वयर सेन कथा–16वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध

अपभ्रंश के परम्परागत 'इ' और 'उ' प्रत्ययों का प्रयोग तो हुआ है किन्तु भाषा की सरलता के कारण उनका प्रयोग खटकता नहीं है। ठेठ राजस्थानी शब्दों का प्रयोग भी इनके गद्य मे मिलता है। कहीं-कही वर्तमान काल के लिए 'छै' का रूप भी मिलता है। सोम सुन्दर सूरि, जिन सागर सूरि एवं मेरु सुन्दर कृत बालाव-

1. ह. लि. प्रति (शीलोपदेश माला बालावबोध–अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर)।

बोधों की विषयवस्तु में अपार साम्यता मिलती है। तीनों ने ही संस्कृत के एक जैसे श्लोकों की बालावबोध पद्धति मे व्याख्या की है। सोम सुन्दर सूरि की व्याख्या मे जहां पर्याप्त विस्तार है वहा जिन सागर एवं मेरु सुन्दर की भाषा-शैली मे संक्षिप्तता का गुण है। पुष्पमाला बालावबोध में जहां मेरु सुन्दर ने सरल एवं सरस भाषा-शैली का प्रयोग किया है वहां दूसरी ओर वाग्भटालंकार बालावबोध एवं विदग्ध मुख मण्डल बालावबोध मे क्लिष्ट संस्कृत शैली का प्रयोग किया है।

15. पार्श्वचन्द्र सूरि :

राजस्थानी भाषा के प्रारम्भिक धार्मिक गद्य लेखकों में श्री पार्श्व चन्द्र सूरि का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इनका रचना काल 15वीं शताब्दी है। आपके नाम से गच्छ स्थापित है। गद्य साहित्य के परिमाण की दृष्टि से मेरु सुन्दर के पश्चात् इन्ही का स्थान है। बालावबोध पद्धति के अन्तर्गत एक दर्जन धार्मिक कृतियो की रचना आपने की है। आचारांग बालावबोध, दशवैकालिक सूत्र बालावबोध, औपपातिक सूत्र, चउसरण प्रकीर्ण जम्बू चरित्र, प्रश्न व्याकरण एवं नवतत्व आदि रचनाएं गद्य की दृष्टि से अनुपम हैं। प्रश्नोत्तर शैली मे 'प्रश्नोत्तर ग्रन्थ' महत्वपूर्ण कृति है। आपने अपनी अधिकांश रचनाओं में प्राकृत भाषा के धार्मिक सूत्रों की व्याख्यात्मक टीकाएं अधिक लिखी हैं। इस पद्धति को वर्तिक शैली के नाम से भी पुकारा जाता है।

16. उद्धरण :

'ते भिखु चारित्रिउ तिहां विप्रादिक सहित मार्ग ने विषय जातउ मार्गना विसंषणा माटि पएलेज्ज्वा (प्राकृत) कहतां ग्रवलइ स्तलइ पग आधा पाछा पड़ै तथा पयडेमवा (प्रा.) लड़ी न पड़ै। पडतां जे विराधना हुइ ते कहइ छेइ। से तथ्य ते साधु तिहां पड़तो खलतउ तिहां ते चारित्रीया नउ सरीर। उच्चार कहतां वड़ी नीति तिणइ अथवा पास वणेणवा (प्रा. कहता) लघु नीति खेल कहतां थूक कफादिक सिंघाणा कहता नाशिकनउ मैल वंत कहतः वमन पित्त विहइ जनो विशेष छदणावा कहतां तिर्यंच अथवा मेउ वीर्य शोणित लोही। एतलैं प्रकारें कटी पडतां ते साधुन उ शरीर उवलिते कहां खरडाणउ हुइ तिणि कारणे एहवइ मार्गइ न जाइवउ कदाचित अनेरो मार्ग न हुइ तिणि मार्गि जातां शरीर खरडाणउ ते किम काइ ते विधि कहइ छइ।'

—आचारांग सूत्र वर्तिक

स्थल स्थल पर स्वास्थ्य सम्बन्धी साधु तथा गृहस्थियों के लिए दिए गये हैं। प्राकृत शब्दों का सूत्र रूप में स्थल-स्थल पर प्रयोग हुआ है जिनकी विस्तार से प्रर्थगत समीक्षा की गई है। शब्दों के अन्त मे 'उ' एवं 'इ' प्रत्यय का प्रयोग अपभ्रंश के प्रभाव के कारण हुआ है। पद्यानुकारी भाषा शैली के दर्शन कहीं नहीं होते।

बालावबोध परम्परा में जैनाचार्य समय सुन्दर ने भी जैनागम विषय पर रचनाएं की हैं। पार्श्वचन्द्र सूरि की तरह प्राकृत भाषा की उक्तियों (जो जैन धर्म

कीटीरा लाडू, नोद उलिरा लाडू, तिलना लाडू, मगरिया लाडू, भूगरिया लाडू, सिंह केसरिया लाडू।[1]

—भोजन विच्छित्ति—19वी शताब्दी

ऐतिहासिक गद्य साहित्य की रचना में जैन आचार्यों का विशेष प्रयास नहीं रहा, क्योंकि उनका मूल उद्देश्य धार्मिक एवं कलात्मक गद्य साहित्य की रचना करना ही था। जैन आचार्यों द्वारा रचित ऐतिहासिक गुर्वावलियां अवश्य मिलती है जिनमे आचार्यों की नामावली एवं उनकी परम्पराओं का ही विवरण मिलता है। श्री जिन-वर्द्धन नी अपनी गुर्वावली[1] मे तपागच्छीय जैनो के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी से लेकर सोम सुन्दर सूरि तक की आचार्य परम्परा का विवरण एवं महात्म्य वर्णन भी मिलता है। भाषा-शैली में काव्यात्मक लय एवं तुकान्तता है, जैसे—

'जिम रस माहि घृत, जिम मधुर वस्तु माहि अमृत।
तिम सांप्रति कालि सकल गच्छ अन्तरालि॥'

—गुर्वावली

ऐतिहासिक गद्य ग्रन्थों की शृंखला में ही एक अन्य कृति 'दलपत विलास'[2] भी प्रकाश मे आयी है, किन्तु वह अपूर्ण एवं लेखक का नाम भी अज्ञात है। महाराजा रायसिंह के द्वितीय पुत्र महाराज कुमार दलपत सिंह के जीवन का वर्णन इस कृति मे किया गया है; अत. इसे साहित्यिक शब्दावली मे ऐतिहासिक जीवनी ग्रन्थ कहा जा सकता है। भाषा की प्रौढता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई है, क्योंकि यह कृति अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त है। उदाहरणार्थ—

"ताहरां पातिसाहजी (अकबर) पहिलो— ही घोडो पाणी माहे दियो। ताहरां पातिसाह तरि नीसरिया। वांसे बीजा ही उमराव तारि नीसरिया। तियांरी फोज च्यारि किया। हजार-हजार असवार री अेक अेक फोज थी। ताहरां मुगले विच-लतं— हीज मार की। तितरं बीजी फोज मुगलां री पाठाणां आडी आयी। बेठि हुयी। इम हीज अदल-बदल लड़ाई 4—5 हुयी। ताहरां पठाण विचलिया।"

—दलपत विलास

खरतर गच्छ गुर्वावली की तरह ऐतिहासिक दृष्टि से 'खरतर गच्छ पट्टा-वली'[3] भी वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक गद्य शैली की एक सुन्दर रचना है जिसमें खरतरगच्छ परम्परा का विवरण अविच्छिन्न रूप मे दिया गया है। कलात्मक गद्य साहित्य की दृष्टि से वचनिका शैली मे लिखी गई 'पृथ्वीचन्द्र वाग्विलासे' एक धर्म कथा है जिसकी रचना माणिक्य सुन्दर सूरि ने की है। यहां उनका साहित्यिक परिचय दिया जा रहा है जिसके अन्तर्गत इस कृति की भाषा—शैली पर प्रकाश डाला जा रहा है।

---

1. ह. लि. प्रति : अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर।
2. वही।
3. ह. लि. प्रति, अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर।

के सिद्धान्तों पर आधारित हैं) की राजस्थानी में वर्तिक शैली में व्याख्या की गई है। छोटे-छोटे सरल वाक्यों में समास प्रधान शैली का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ षडावश्यक बालावबोध रचना की भाषा-शैली पार्श्वचन्द्र की वर्तिक शैली से मिलती है। जैसे—

'नमो अरिहंताणं' नमो करतां नमस्कार हुअ। माहरो अरहंताणं कहतां इन्द्रादिकनी कीधी। पूजाप्रतें वली सिधि गति प्रतें जे अई कहतां योग्य ते अरहंत अनइ अरिहंताण पाठइ। अरि कहतां रागद्वेष रूपीया वयरी वेदना हणणहार।

'नमो सिधाण' नमो करतां नमस्कार हुऊ। सिध भणी। सिध कहतां आठ कर्म घणा काल ना बांध्या। शुकल ध्यान रूपणी अग्नि करी बाल्या ते सिध।'

—षडावश्यक बालावबोध

अपभ्रंश की विशेषता के अन्तर्गत व्यंजनों में 'ङ' तथा 'ञ' के अतिरिक्त सभी ध्वनियां इन कृतियों में मिलती हैं। 'इ' और 'उ' प्रत्यय का प्रयोग समय सुन्दर, पार्श्वचन्द्र सूरि एवं उनके समकालीन लेखकों की रचनाओं में हुआ है। पूर्वान्त स्वर अक्षुण्ण रहा है।

बालावबोध परम्परा में ही श्री रत्नसिंह सूरि के शिष्य दयालसिंह गणि तथा सोमसुन्दर सूरि के शिष्य श्री हेम हंस गणि ने भी राजस्थानी गद्य में रचनाएं की हैं। दोनों का विषय जैन धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना करना ही रहा है। संस्कृत श्लोकों की व्याख्या एवं स्थल-स्थल पर दृष्टांत रूप में कथाएं भी लिखी गई हैं; जैसे—

'मथुरां नगरी, शत्रुमर्दन राजा। तिहां हुंडिक चोर सदैव चोरी करइ। एक वार कहिएक व्यवहारि आनइ घरि खात्र पाडी घणउं सुवर्ण चोरिउ। कुटुम्ब नें भाणु से कलकल कीयउ। तलार-धाया। सोना सहित चोर साहिउ। बांधि प्रभाति राजा आगलि आण्यो। राजइ नगरमाहि चहुटई चहुटई फेरवी अनेक प्रकारि विडम्बना करावी-अहो लोको! इसिउ फल देखी बीजउ को चोरी म करसिउ।'

—नमस्कार बालावबोध–वि. सं. 1500

—हेमहंस गणी

वर्णनात्मक गद्य लेखकों में 15वीं तथा 16वीं शताब्दी के अन्य धार्मिक जैन गद्यकारों में श्री जयशेखर सूरि, सोम सुन्दर के शिष्ट संवेग देव गणि, श्री राजवल्लभ धर्मघोष गच्छीय, दयाल सिंह गणि आदि ने धार्मिक गद्य साहित्य की रचना की है। विविध विषयक ग्रन्थकारों में कवि समय सुन्दर का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। खाद्य पदार्थों का वर्णन उन्होंने बड़े ही सरस ढंग से किया है, जैसे—

'हिव पकवान आणइ, वेहवा बखाणइ, सतपुड़ा खाजा, तुरतना ताजा, सदला नइ साजा, मोटा जाणे प्रासादना छाषा। पछे प्रोस्या लाडू-जाणे कान्हा गाडू। गुण कुणते नाम, जीमतां मन रहे ठाम। मोतीया लाडू, दालिया लाडू, सेविया लाडू,

कीटीरा लाडू, मोद उलिरा लाडू, तिलना लाडू, मगरिया लाडू, मूगरिया लाडू, सिंह केसरिया लाडू।'
–भोजन विच्छित्ति–19वीं शताब्दी

ऐतिहासिक गद्य साहित्य की रचना में जैन आचार्यों का विशेष प्रयास नहीं रहा, क्योंकि उनका मूल उद्देश्य धार्मिक एवं कलात्मक गद्य साहित्य की रचना करना ही था। जैन आचार्यों द्वारा रचित ऐतिहासिक गुर्वावलियां अवश्य मिलती हैं जिनमें आचार्यों की नामावली एवं उनकी परम्पराओं का ही विवरण मिलता है। श्री जिन-वर्द्धन की अपनी गुर्वावली[1] में तपागच्छीय जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी से लेकर सोम सुन्दर सूरि तक की आचार्य परम्परा का विवरण एवं माहात्म्य वर्णन भी मिलता है। भाषा-शैली में काव्यात्मक लय एवं तुकान्तता है, जैसे—

'जिम रस माहि घृत, जिम मधुर वस्तु माहि अमृत।
तिम सांप्रति कालि् सकल गच्छ अन्तरालि।।'

–गुर्वावली

ऐतिहासिक गद्य ग्रन्थों की शृंखला में ही एक अन्य कृति 'दलपत विलास'[2] भी प्रकाश में आयी है, किन्तु वह अपूर्ण एवं लेखक का नाम भी अज्ञात है। महाराजा रायसिंह के द्वितीय पुत्र महाराज कुमार दलपत सिंह के जीवन का वर्णन इस कृति में किया गया है; अतः इसे साहित्यिक शब्दावली में ऐतिहासिक जीवनी ग्रन्थ कहा जा सकता है। भाषा की प्रौढ़ता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई है, क्योंकि यह कृति अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त है। उदाहरणार्थ–

"ताहरां पातिसाहजी (अकबर) पहिलो– ही घोड़ो पाणी माहे दियो। ताहरां पातिसाह तरि नीसरिया। वांसे बीजा ही उमराव तारि नीसरिया। तियांरी फोज च्यारि किया। हजार-हजार असवार री अेक अेक फोज थी। ताहरां मुगले विच-लतें– हीज मार की। तितरं बीजी फोज मुगलां री पाठाणां आड़ी आयी। वेढि हुयी। इम हीज अदल-बदल लड़ाई 4–5 हुयी। ताहरां पठाण विचलिया।"

–दलपत विलास

खरतर गच्छ गुर्वावली की तरह ऐतिहासिक दृष्टि से 'खरतर गच्छ पट्टा-वली'[3] भी वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक गद्य शैली की एक सुन्दर रचना है जिसमें खरतरगच्छ परम्परा का विवरण अविच्छिन्न रूप में दिया गया है। कलात्मक गद्य साहित्य की दृष्टि से वचनिका शैली में लिखी गई 'पृथ्वीचन्द्र वाग्विलास' एक धर्म कथा है जिसकी रचना माणिक्य सुन्दर सूरि ने की है। यहां उनका साहित्यिक परिचय दिया जा रहा है जिसके अन्तर्गत इस कृति की भाषा–शैली पर प्रकाश डाला जा रहा है।

---

1. ह. लि. प्रति : अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर।
2. वही।
3. ह. लि. प्रति, अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर।

17. माणिक्य सुन्दर-सूरि :

जैन गद्य लेखकों में कलात्मक साहित्य की दृष्टि से श्री माणिक्य सुन्दर सूरि का प्रमुख स्थान है। श्री माणिक्य सुन्दर सूरि आचार्य मेरुतुंग सूरि के शिष्य थे। आपका रचना काल 15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा है। पृथ्वी चन्द्र चरित्र, मलय सुन्दर कथा, संविभाग व्रत कथा, शुकराज कथा, गुणवर्मा चरित्र, सत्तर भेदी पूजा कथा आदि इनकी प्रमुख कृतियां हैं जिनमे पृथ्वीचन्द्र चरित्र या वाग्विलास साहित्यिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। वर्णन की दृष्टि से इस काल की कोई भी रचना इसकी टक्कर में नहीं रखी जा सकती। इसका सर्व प्रथम प्रकाशन गुजराती विद्वान श्री सी. डी. दलाल ने किया था। गद्य काव्य परम्परा कड़ी मे पृथ्वीचन्द्र चरित्र एक चरित्र ग्रन्थ है जिसका विषय प्रेमाख्यान मूलक है एवं वर्णनात्मक शैली मे चमत्कारिता है। कथा मे प्रमुख पात्र पृथ्वीचन्द्र एवं रत्न मंजरी हैं। कथा का सूत्र गौण है किन्तु शिल्पगत सौन्दर्य इस कृति का प्रमुख आकर्षण है। श्री सीताराम लालस के शब्दों मे—"लोक भाषा में वर्णनो का ऐसा सन्दर्भ ग्रन्थ सम्भवतः अन्य नहीं है।"[1]

राज्य, राजा, दण्ड नीति, सात द्वीप, वर्षा, सात क्षेत्र, युद्ध एवं स्वयंवर, बत्तीस हजार देश, नायक-नायिका, ऋतु एवं प्रकृति शृंगार आदि की काव्यात्मक एवं अनुप्रासात्मक वर्णन है। उदाहरणार्थ—

18. मरहट्ठ देश वर्णन :

"ओणाइ देसि ग्राम अत्यन्त अभिराम भला नगर, जिहा न भाजीयइं कर। दुर्ग, जिस्यां हुई स्वर्ग, धान्य. य नीपजइ सामान्य आगर सोना रूप। तणा सागर जेह देसमाहिं नदी बहइ लोक सुखइ निर्वहइ। इसिउ देस पुण्य तणउ निवेश न कल्मप्र प्रदेश। तीणि देसि पहुठाणपुर पाटण वर्तइ जिहां अन्याय न वर्तइ।"[2]

तथा—

वसंत वर्णन

सब्बे भल्ला मासड़ा पण वईसार न तुल्ल।
जे दवि दाधा रूपड़ा तीहं मायई फुल्ल॥

"मउरिया सरकार, चंपक उदार, वेउड वकुल, भ्रमर कुल संकुल, कलल करइ कोकिल तणां कुल। प्रवह प्रियंगु पाडल, निर्मल जल, विकसित कमल। राता पलास, सेवंभी वास। कुंद मुचकद महमहइ. नाग पुन्नाग गह गहइ। सार सतणी श्रेणि। दिसि वासीयी कुसुम रेणि। लोक तणे हाथि वीणा। वस्त्राडंबर भीणा। धवल शृंगार सार, मुक्ताफल तणा हार। सर्वांग सुन्दर, वनमोहिं रमइ भोग पुरंदर, रमलितणां रंग छाजई। एकि वादिइं फल चुटइं, वृक्षतणा पल्लव पुटइं। हींडोलइं

---

1. श्री सीताराम लालस, राजस्थानी सबद कोस की भूमिका, पृ. 186।
2. पृथ्वीचन्द्र चरित्र—प्रा. गुजराती गद्य संदर्भ।

हीचइं, झीलतां वादिइं जलिइं सीचइ। केलिहरा कउतिग जोअइं, प्रतीमत हीयइ। वनपालकि अवसर लही, वसंत अवतरिया तणी।"[1]

गद्य में तुकान्तता, काव्यात्मक लय एवं शब्द चयन मे अनुप्रासिकता का गुण है। शब्दों मे कहीं-की ध्वन्यात्मकता भी हैं। उपमा एव उत्प्रेक्षा का प्रयोग वर्णन में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए हुआ है। जैसे—

"राजा सोम देव आव्यावन मांहि, तेह जि सरोवर देखी कुं अरि सांभली मनमाहि।

पद्यानुकारी अनुप्रास युक्त आलंकारिक शैली के लिए—

"इसिईं अवसरि-आविउ आषाढ, इतर गुणि संवाढ।
काट लइ लोह, घाम तणउ निरोह
खांसि खाटी, पाणी पीआइ माटी
विस्तरिउ वर्ण काल, जे पथी तणउ काल।
नाठउ दुकाल जाणिइ वर्षा कालि।
मधुर ध्वनि नेह बाजइ, दुभिक्ष तणा भय भाजइ।"[2]

पृथ्वी चन्द्र राजा की कथा में वर्णन विस्तार अधिक है। समस्त प्रसंग वर्णनों की योजना से ही सजाए गये हैं। कथा में 'महोत्सव वर्णन' को काव्यात्मक ढंग से चित्रित किया है, जैसे—

अलंकरिउ प्राकार, शृंगारिया प्रतोली द्वार। मंच अति मंच तणि रचना हुई, स्वर्ग पुरी तणी शोभा लई। ध्वज पताका लहकई, पुष्प हरिमल बहकई। नाचइं पात्र, राज भवनि आवइं अक्षत पात्र। सोमाई भणतां आवइं छात्र, लोक अलंकरइ आभरणि गात्र, उत्सव करिवा एहइ ज बात। तीणि वेलां न भइं कोण, बांधीयईं तोरण, बांधीयईं बंदरवाल, उत्सव विशाल। गुल घीउ लाठीयइं, मन उमाहीयइं। ईणि युक्ति जन्म महोत्सव हुआ।

पद्यानुकारी भाषा-शैली में प्रांजलता एवं लालित्य का गुण है। अपभ्रंश की विशेषता के अन्तर्गत 'उ' एवं 'इ' का प्रयोग प्रत्यय के लिए किया गया है, जैसे नाठऊ तणउ, भणिउं, दीधई, वांचइ, बाजइ आदि। अपभ्रंश की 'उ' कार एवं 'इ' कार बहुला प्रवृत्ति यद्यपि इन शब्दों मे स्पष्ट है किन्तु फिर भी उसमें एक उत्तरोत्तर विकास का क्रम परिलक्षित होता है। इस कृति मे विभिन्न नगरों का वर्णन भी काव्यात्मक एवं अलंकृत शैली में ही किया गया है, जैसे—

उज्जयिनी नगरी, अयोध्यानगरी, पाल्हण पुरि नगरी एवं विद्या पुरी ग्रामि आदि। वर्णनों मे छोटे-छोटे वाक्यों के माध्यम से चित्रात्मकता उपस्थित करने का प्रयास किया गया है, जैसे—

---

1. पृथ्वीचन्द्र चरित्र, प्रा. गुजराती गद्य संदर्भ।
2. माणिक्य सुन्दर सूरि, पृथ्वी चन्द्र चरित्र।

'तिहां छइ नगरी अयोध्या । किसी ते नगरी धन कनक समृद्ध, पृट्वी पीढि प्रसिद्ध । अत्यन्त रमणीय, सकल लोक स्पृहणीय । पृथ्वी रूपिणी कामिनी इहइ तिय कायमान, सर्व सौन्दर्य विघान । लक्ष्मीलीला निवास सरस्वती तणउ आवास ।"

X X X X

प्रभात समइ सूर्यतणे किरणेकरी प्रासाद तणे शिखिरि धज कलश झलकइ, धजऊड ललकइ, घणउं किसु कहीई–जिसी होई अमरावती भोगावती अथवा अलका लका ईसी नगरी अयोध्या वरवाणिइ ।

—अयोध्या नगरी वर्णन

अलंकारों की सरसता एवं सामसिक शब्दावली की ऐसी सुन्दर योजना इस काल की किसी अन्य कृति में नहीं मिलती । रचनाकार का सम्पूर्ण मन्तव्य जैसे एक-एक शब्द में समा गया है –'सर्व सौन्दर्य विधान' और 'पृथ्वी रूपिणी कामिनि' में अभिव्यंजनात्मक सौन्दर्य का सुन्दर प्रयोग हुआ है । ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी वर्णनों मे मिलता है; जैसे—झलकई, गहगहई, लहलहई, खलहलइ आदि । प्रवाह्, गत शिथिलता कहीं नहीं किन्तु कहीं कहीं वर्णनों में स्थानों आदि के नाम गिनाने मे लेखक ने आवश्यकता से अधिक प्रयास किया है । सारांश यह है कि वस्तु वर्णन इस रचना की महत्त्वपूर्ण विशेषता है । काव्यमयी शैली के कारण कथा में अन्त तक रोचकता का निर्वाह हुआ है ।

संवत् 1485 में हीरानन्द सूरि द्वारा रचित वस्तुपाल तेजपाल रास का गद्य भी इसी परम्परा में एक सफल प्रयास है । कलात्मकता की दृष्टि से इस काल की 'वचनिका' विषयक कृतियां राजस्थानी गद्य के विकास में योग दे रही थी । जैन कवियों में जिन समुद्र सूरि एवं शान्ति सागर सूरि की वचनिकाएं महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं । दोनों की रचना अन्त्यानुप्रासप्रधान गद्य मे हुई है । जैन आचार्यों के अतिरिक्त चारण कवियों का भी गद्य को विकसित करने में विशेष योगदान रहा, अतः चारण गद्यकारों का साहित्यिक परिचय दिया जाना भी आवश्यक है ।

19. शिवदास चारण :

राजस्थानी साहित्य मे कलात्मक एवं ऐतिहासिक गद्य परम्परा में 'वचनिका' विषयक कृतियां विशेष लोकप्रिय रही हैं । ख्यातों की परम्परा भी कम महत्त्वपूर्ण नही रही किन्तु साहित्य का जो आनन्द (रस) वचनिकाओं में मिलता है वह ख्यातों में नहीं । राजस्थानी की प्रारम्भिक रचनाओं के महत्त्व का आकलन जब हम साहित्यिक परिवेश में करते हैं तो पाते हैं कि पाठक मात्र तथ्य एवं सत्य का ही अनुशीलन नहीं चाहता, वह रसात्मक अनुभूति भी चाहता है । इस दृष्टि से कल्पना के सुन्दर संयोग से 'वचनिका' विषयक साहित्य अधिक उपयोगी सिद्ध होता है । वचनिकाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है तथा छोटी-बड़ी अनेक वचनिकाएं राजस्थानी मे मिलती हैं किन्तु साहित्यिक दृष्टि से शिवदास चारण कृत 'अचलदास खींची री वचनिका' एव खिड़िया जग्गा कृत 'राठौड़ रतन महेस दासोत–री वचनिकाएं'

कलात्मक एवं महत्त्वपूर्ण रचना-कृतियां हैं। दोनों ही लेखकों की अन्य किसी विषय पर कोई रचना नहीं मिलती।

शिवदास जाति के चारण थे। इन्होंने 'अचलदास खीची री वचनिका' नामक एक तुकान्त गद्य ग्रन्थ की रचना की थी जिसमे माड़ के बादशाह और गागरोनगढ के खीची राजा अचलदास के युद्ध का वर्णन है। यह युद्ध सं. 1485 के लगभग हुआ था।[1] इस युद्ध में अचलदास लड़ते लड़ते मारे गये थे। शेष राजपूत एवं रानियों ने जौहर धारण कर लिया था। वंश की रक्षा के लिए राजकुमारों को संरक्षण देने एवं अपने आश्रयदाता की ख्याति को अमर करने के लिए शिवदास ने जीवित रहना उचित समझा। प्रस्तुत वचनिका इसी उद्देश्य का फल है। डा. टैसीटरी लेखक को अचलदास के समसामयिक ही स्वीकार करते हैं।[2] वचनिका मे एक ओर प्राचीन राजस्थानी गद्य की परम्परा के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर इसमे चारणी गद्य का स्वरूप भी स्पष्ट प्रकट होता है। प्राचीन गद्य के रूप में वचनिका के गद्य पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव है। गद्य की प्रौढता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस कृति की रचना 15वी शताब्दी मे ही हुई है। आदिकालीन जैनेतर रचनाओं में यह सर्वाधिक उपयोगी एवं प्रौढ रचना है।

वचनिका के गद्य के विषय में डा. हरीश का मत है, 'अचल दास खीची री वचनिका' मे ठीक उसी प्रकार का गद्य भाग मिलता है, जैसे पद्मनाभ के कान्हड़ दे प्रबन्ध महाकाव्य मे बीच-बीच मे गद्य भाग मिलता है।'[3] इस गद्य ग्रन्थ की कथावस्तु विशेष रोचक एवं मनोरंजक है। कृति का अधिकांश भाग काव्य में लिखा गया है। कवि ने केवल युद्ध और सज्जावर्णन गद्य मे किया है। जौहर-वर्णन भी काव्य मे ही हुआ है। काव्यात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए स्थल-स्थल पर कल्पना का सुन्दर निर्वाह हुआ है। राजा का परिचय कवि गुणो के आधार पर इस प्रकार देता है—

'ते राजा नरसिंघ दास सारीखा। वतीस सहस साहण रिणखेति मेल्हि चाल्यउ। मदोनमत्त हस्ती मेल्हि चाल्यउ। आपण जाई समंदई घाल्यउ। समद जाइ खांडउ परखालियउ। अनेक राइगढ गलित करि मेल्हया।'[4]

राजा की वीरता को नपे तुले शब्दों मे छोटे छोटे वाक्यों के बल पर अलंकृत ढंग से अभिव्यक्त किया है। चाल्यउ, घाल्यउ, परखालिउ आदि शब्दों पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट है। 'मेल्हया' शब्द का प्रयोग आज भी राजस्थानी मे होता है। कारक चिन्हों (शब्दो) का पृथक् से प्रयोग न करके शब्द के मूल में ही अपभ्रंश शब्द परम्परानुसार किया गया है, जैसे—समंदई–समुद्र मे। सामासिकता का प्रयोग शब्दो

1. डा. दशरथ शर्मा : अचल दास खीची री वचनिका, सं. दीना नाथ खत्री, पृ. 8।
2. A descriptive Catalogue of Bardic and Historical MSS, Pt. I Bikaner State Fasc. I, p. 41.
3. डा. हरीश, आदिकाल का हिन्दी गद्य साहित्य, पृ. 193।
4. अचल दास खीची री वचनिका, पृ. 6 तथा 9।

में सर्वत्र हुआ है, जैसे—नरसिंघ, राइमद आदि। आनुप्रासिकता का प्रयोग स्वाभाविक ढंग से हुआ है, चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन के लिए नहीं। जैसे–सहस साहण रिण सेति मेलिङ् घाल्यउ। तथा अन्य स्थलों पर—पातसाह आपुणपउ पसाए घाल्या (पृ. 6) कुण की जुगती, कण की प्राप्ति ?' (पृ. 8) 'छत्र छांडइ नहीं' (पृ. 9)। *तिणइ वेला तिणइ तालि राव राणा मुहड़-सांवत सहू को राजा अचलसर सब रहई मेटई थई।* (पृ. 17) आदि।

गद्य मे काव्यात्मकता सर्वत्र विद्यमान है जिसमें समास शैली के साथ साथ आलंकारिकता भी मिलती है, जैसे—

'पगि-पगि पखलि पड़ाल हस्ती गज घटा। ती ऊपरि सात-सात सइ धनक-धर साथठा। सात-सात ओलि प्राइक की बइठी, सात-सात ओलि पाइक–की उठी। येड़ा उडण मुद कर-करी मुंह चकि ठांइ-ठांइ ठठरी। इसी एक रया पटउडि चम दिसि पड़ी, तिण वाजित-कइ निनादि घर आकास चड़हड़ी।'[1]

युद्ध क्षेत्र मे सेना का वर्णन करते समय शिवदास ने काव्यात्मकता के साथ *आनुप्रासिकता, सामासिकता, ध्वन्यात्मकता, तुकान्तता का निरन्तर प्रयोग किया है* जिससे नाद सौन्दर्य के माध्यम से वीर रस का परिपाक स्वतः हो उठा है। चारण कवि ने काव्य की भांति गद्य का सुन्दर अभिनिवेश स्थापित किया है। बादशाह की सेना के वर्णन में भी चित्रात्मकता एवं वीर रसात्मक भावना का गुण मिलता है। वर्णन-क्रम मे कहीं शिथिलता नहीं मिलती। वीर रस सर्वत्र टपकता है एवं गद्य वर्णन मे आंशिक रूप से ही अतिशयोक्ति एवं कल्पना प्रधान अतिरंजना मिलती है। वर्णन-प्रधान स्थलो पर कवि ने अनावश्यक विस्तार को रोकने का बहुत ध्यान रखा है। समास प्रधान शैली में नपे-तुले शब्दो से सम्पूर्ण वर्णन को समेटा है, जैसे—

20. हिन्दू राजाओं के वर्णन में–वर्णनात्मक शैली :

'हींदू राजा कवण-कवण ? सकल ही सकबंधी सकल कला संपूरण, राजा नरसिंघ सारीखा। वइ नरसिंघ दास रा कटक बंध चालिता सांतरि मागलइ दलि पाणी पाछिलइ दलि कादम। तइ कादम-कइ ठारि लेत उड़ती जाई। इसरउ विकमाईत।'[2]

इसी प्रसंग में 'कउण की माई वियाणीं, जू सामउ रहइ अणी पाण ?'—कहकर कवि ने ग्रामीणत्व दोष की सृष्टि की है। 'वियाणी' शब्द मात्र पशुओं की प्रजनन-क्रिया के लिए ही प्रयोग मे आता है, स्त्रियों के लिए नही। वर्णनात्मक शैली का प्रयोग कवि ने 'विड़द' (विरदावत) मे राजस्थानी परम्परा के अनुसार ही किया है। अलंकारों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से न करके अर्थ की अभिव्यक्ति को अधिक सशक्त करने के लिए बड़े ही स्वाभाविक ढग से किया गया है। उदाहरणार्थ—

1. अचलदास खीची री वचनिका, पृ. 21।
2. अचलदास खीची री वचनिका, सं. दीनानाथ खत्री, पृ. 5, 8।

'तेणि पातिसाहि मायां सोवरि सत छाडइ नहीं, खत्र खांडई नही, दीण न भारतइ, पागार लंघित न होयई। ते राजा अचलेसर सारिखा अचल नई अचलेस होयइ।[1]

'हीई राजा कवण कवण ? सकल ही सक-वंधी
सकल कला सम्पूरण, राजा नरसिंघ सारीखा ॥'[2]

कही-कही संस्कृत के तत्सम् एवं तद्भव शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। यत्र-तत्र मुहावरों के भी गद्य में दर्शन होते हैं, जैसे—दूध मांहि साकर, भला-भलेरा, कहण की माई विवाणी, सोनउ अर सुवास आदि। डिंगल के विशिष्ट प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। जैसे–उपरांवठा, आलिगाणा, गलत्यण, धमी-धमी, डहडटिहयां आदि। उर्दू एवं फारसी शब्दों का प्रयोग तत्कालीन सम्पर्क के कारण हुआ है।

अन्त मे कवि युद्ध का अन्त जोहर के वर्णन में करता है, जो पद्यात्मक है। वस्तुतः कवि ने पद्य की भांति युद्ध वर्णन में वीर रस का प्रयोग धारावाहिक किया है। अचलदास खीची री वचनिका छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त एक तुकान्त गद्य रचना है जिसके शब्दों मे अभिव्यंजना एवं माधुर्यता है।

21. श्री जग्गा खिड़िया :

श्री जग्गा खिड़िया शाखा के चारण थे। उन्होंने भी वचनिका परम्परा मे मात्र 'राठौड़ रतन सिंह जी री महेस दासोत री वचनिका' की संवत् 1715 मे रचना की। इस कृति से जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह और मुगल सम्राट शाहजहां के विद्रोही पुत्र औरंगजेब तथा मुराद के मध्य उज्जैन के रणक्षेत्र में सं. 1715 मे जो युद्ध हुआ था, उसका वर्णन है। इस लड़ाई मे रतलाम के राठोड़ राजा रतनसिंह की बहादुरी एवं उनकी वीरगति प्राप्त होने की स्थिति का वर्णन है। वचनिका का नामकरण भी इसी कारण उनके नाम से हुआ है। इस वचनिका को लिखने से पूर्व जग्गा खिड़िया के सामने शिवदास रचित अचलदास री वचनिका' का आदर्श अवश्य रहा है। जग्गा ने शिवदास की परम्परा का अनुकरण अवश्य किया है क्योंकि इन दोनों की वचनिकाओं मे पर्याप्त साम्य मिलता है। दोनो वचनिकाओ के साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जग्गा खिड़िया की कृति अधिक अनुपम है किन्तु उन्होंने शिवदास के मार्ग का अनुसरण किया है। दोनों ही कृतियों मे अनेक स्थलों पर साम्यता मिलती है। कवि द्वारा रतन सिंह को आशीर्वाद दिये जाने का जो प्रसंग तुकान्तक गद्य मे प्रस्तुत किया है वह अचल दास खीची री वचनिका के 'विरुदावली' अंश का उद्धरण मात्र ही प्रतीत

1. वही, पृ. 9।
2. वही, पृ. 5।

होता है। जग्गा खिड़िया ने वर्णन में परम्परागत मान्यताओं का बराबर निर्वाह किया है।

युद्धोत्साह के सांगोपांग वर्णन में दोनों कवि अपनी-अपनी दृष्टि से चित्रण करते हैं तथा दोनों ही कृतियों में वीर रस प्रधान रस के रूप में प्रकट हुआ है किन्तु शृंगार रस के क्षेत्र मे जग्गा खिड़िया शिवदास के आगे निकल गया है। अचल दास खीचीरी वचनिका मे शृंगार रस का निर्वाह नहीं के बराबर हुआ है जबकि प्रस्तुत वचनिका में स्थल स्थल पर इस रस के दर्शन सर्वत्र होते हैं। जग्गा खिड़िया ने तो कल्पना के बल पर दुखान्त प्रसंगों को भी शृंगार रस के बल पर सुखान्त बना दिया है। रतन सिंह की मृत्यु के पश्चात् वस्तुतः पाठक जहां करुण रस की सम्भावना करता है वहा भी कवि ने अपनी कल्पना शक्ति के बल पर शृंगारिक वातावरण उपस्थित करने का सफल प्रयास किया है। गद्य की तुलना मे इस वचनिका मे भी गद्य कम है किन्तु अचल दास खीची री वचनिका के गद्य से अधिक है। जग्गा खिड़िया ने इस कृति में मारवाड़ी के साहित्यिक रूप का प्रयोग किया है जिसमें सर्वत्र ओज एवं प्रसाद गुण मिलता है एवं भाषा मे स्वाभाविकता है। संस्कृत मिश्रित शब्दावली का प्रयोग पद्य के साथ-साथ गद्य में भी मिलता है। वचनिका के गद्य को कवि ने सरलता के साथ संजोया है। कृति का महत्त्वपूर्ण स्थल है—औरंगजेब और रतन सिंह का युद्ध। युद्ध वर्णन बहुत ही सजीव बन पड़ा है। युद्ध स्थल का वर्णन मूलतः पद्य मे किया है किन्तु कुछ अंश मे गद्य के प्रौढ़तम रूप के भी दर्शन होते हैं। जैसे—

"चतुरंग फौजां बौहरंग बानां किणि भांति सूं विराजमान दीसैं। जाणै अठार भार वनसपति फूली फुलि रही। दीठा ही ज बनि आवै। पिणि न आप कहीं। हो भाई अकरणी रित रा कासूं। अ वणि दिहाड़ै छह रित नयरस निजर आवै। करि दिखावै किणि भांति। मारावां आतस झाल। ऊंन्हाला प्रलै काल। सर कायर सूका। सूर धीर निवाणैं जल ढका। कहि दिखाई उगति। या सो ग्रीखम रितं। मद धारां बरसता थका गज डबर नीलाण गज्जै। बीजली आंकुस विराजै। ग्रिध चात्रिग वीर घंट दादुर बोलै। मुगल लाल ममोला सा दिखावै। वरिखा रित वरणी। सरद रित कहणी। रिण समंद माहै सूर कमल विकसि विराजमान हुवा। चंदा नेही चंद वदनी अपछरा सोलह कला सुधा नेह संपूरण उदित हुई। कैसी। आसोज की पूनिम सरद रित जैसी। अजली फौजा ऊपरा ऊजला झाला रा डम्बर झलार करि जग्गा जोति जागी। जाणै बरफ टूक हेमाचल पहाड़ माथै विराजमान हुता।"[1]

कवि ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से किया है। आनुप्रासिकता भी दृष्टव्य है। शब्दों में ध्वन्यात्मकता का गुण है एवं आंचलिक शब्दावली का विशेष प्रयोग हुआ है। लौकिक सत्य की मान्यता स्थापित करने हेतु कवि ने मुहावरों का स्थल स्थल पर प्रयोग किया है जिससे भाषा-शैली जीवन के अधिक निकट आ गयी है। अपभ्रंश का प्रभाव बहुत कम है। जग्गा खिड़िया ने वचनिका के गद्य में छोटे-छोटे वाक्यों का ही प्रयोग किया है। कहीं रचना शैली में कहीं भी विलष्टता एवं शिथिलता नही आ पायी है। शैली को अधिक सरल एवं स्पष्ट बनाने के लिए खिड़िया ने प्रश्नोत्तर परम्परा के बल पर तथ्यों एवं प्रसंगों की सुन्दर विवेचना की है, जैसे—

"पातिसाहां रा विभाड़ण हार। पातिसाहां रा पड़िगाहण। गजराजां राजान के गजबाग। अरिसाल। खिजाई माल। ससदीयण जसलीयण। राजान के राजा। तपे महाराजा रयण। तिणि वेला कपूर बीड़ा आइयां उंबरावां कवीसुरां कूं दिया। दीवाण किया। सभा रूप कैसा। अैसा जैसा छत्तीस वंस बणाव करि बैठा राजेसुर। *साहिब खांन भगवान अमर सारिखा। अमर गांगावत गिरधर सारिखा।* बारहठ जसराज जैसा कवेसर। तिजारा की फूल फगर। जल कमल हंस बणाव। जाणै मान सरोवर सौरंभ की लहरि आवै। जवाधिजलहर गुणीजण गाया। रंग राग सुणाया। राजा महेसदास का जाया। इन्द्र सा निजरि आया।"[1]

छोटे-छोटे सरल वाक्यो के बल पर आलंकारिक चित्रण करने में जगा खिड़िया को पूर्ण सफलता मिली है। भाषा-शैली मे कहीं मधुर कोमल कान्त संस्कृत पदावली के उदाहरण मिलते हैं तो कहीं भाषा शैली मे ओज गुण के दर्शन भी होते हैं, जैसे—

'तिण वेला दातार झूंझार राजा रतन। मूंछां करि घांति बोलै। तरवार तोलै। आगै लंका कुरखेत महाभारत हुवा। देव दाणव लड़ि मुवा। च्यारि जुग कथा रही। वेद व्यास बालमीक कही। अौ तीसरो महाभारत आगम कहता उगेरिया संत। अगनि सोर गाजसी। पवन बाजसी। गजबंध छत्र बंध गजराज गुड़सी। हिंदू असुरायण। लड़सी।'[2]

तुकान्तता के कारण शैली मे लयात्मक सौन्दर्य की सृष्टि हुई है। ठेठ राजस्थानी शब्दों के बाहुल्य के कारण शैली में सरसता एवं सरलता का गुण स्वतः उत्पन्न हो गया है। वचनिकाकार ने स्थल-स्थल पर वर्णनात्मक शैली मे शृंगारिक चित्रण की योजना भी की है। युद्ध में वीर-गति को प्राप्त होने के पश्चात् बैकुण्ठनाथ ने राजा रतन सिंह को अपने पास आसन पर उचित स्थान दिया और उनका विविध प्रकार से सम्मान किया। रचनाकार ने इस वातावरण का सुन्दर शृंगारिक चित्रण इन शब्दों मे किया है—

---

1. वचनिका-खिड़िया जगा री कही, सं. काशीराम शर्मा, पृ. 30।
2. वही, पृ. 32।

'चन्द सूरज वेद सवासी करैं छै। चौसरा चयर ढुलैं छै। नव लाख नाखित्र माल चिराक झालि खड़ा रहिया छै। बारह घण मुंहड़ा आगै छिड़काव करें छै। तीन प्रकार रो पवन वाजै छै। सीतमन्द सुगन्ध अनेक परिमल जुगाते झोला खाय-खाय लहरि ले छै। मुंहडा आगलि आखाड़े रंभा पातर नट नाटिक संगीत धुनि करि करि दिखावै छै। ज्यारां मलूक हाथ पांव कडि घड़ा। सोलह सिंगार रंग प्रेम का झड़। तेज पुंज। रूप की गंज। काम की कली। चख नख चीज। सुख की सिलाव विरह की बीज। अैसी उरवसी जेसी अपछरा। मुंहडा आगलि हाव भाव कछाट थेई थेई ततकार निरत करे करैं छैं। छह राग छत्तीस रागणी सपत सुर भांति भांति करि दिखावैं छैं।'[1]

वचनिका की भाषा-शैली मे तुकबद्धता तथा काव्यात्मक सौन्दर्य सर्वत्र विद्यमान है। यत्र तत्र कहावतों एवं लोकोक्तियों के दर्शन भी होते हैं; जैसे—चन्द जस नामो चाढ़ो, कीधा चन्द नामा, हार जीप करतां हरि हाथे आदि। गद्य वर्णन मे कही-कही ललित पदावली-शैली के दर्शन भी होते हैं, जैसे—

'वैजन्ती माल। मोर मुकुट कुंडल विसाल। मदन मोहन। कमल लोचन। स्याम सुन्दर ठाकुर विराजमान हुवा छै। मणि माणिक जड़ित छत्रपाट सिंघासण विराजमान दीसैं छै। झललाट की कटि जगाजोति जागै छै।'[2]

श्री जगा खिडिया ने वचनिका लिखने की परम्परा को शिवदास से ग्रहण किया हो, किन्तु यह तो स्वीकार करना होगा कि साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से कृति अचलदास खींची री वचनिका से अधिक सुन्दर एवं कलात्मक है। भाषा-शैली मे उचित परिष्कार है तथा गद्य मे विकास एवं प्रौढता का क्रम है। वचनिका में स्वर तथा व्यंजन का प्रयोग हिन्दी की तरह किया गया है। 'ल्' ध्वनि का प्रयोग शब्दगत ध्वनि के अन्तर्गत हुआ है। भाषा मे समस्त पदों का भी प्रयोग दृष्टव्य है। तत्सम शब्दों का तो प्रयोग सर्वत्र मिलता ही है, साथ ही ध्वन्यानुकरण-मूलक शब्दों का प्रयोग भी कम नहीं मिलता, जैसे—गड़-गड़, हड़बड़, खाट खाडि, चड़-चड़, कल्ल, सल्सपलि, कडक्कड़, दडव्बड़ आदि। जगा खिड़िया द्वारा रचित वचनिका का गद्य शिवदास के गद्य से परिमार्जित एवं परिष्कृत है। वर्णन की दृष्टि से जो स्थल प्रमुख थे, उनका चित्रण शिवदास ने संक्षेप मे किया है जबकि जगा ने कुछ स्थलों का विस्तार दिया है; जैसे कि 'युद्ध स्थल पर दोनो सेनाओं का आमने-सामने उपस्थित होना' आदि। दोनों लेखकों ने अन्त्यानुप्रास पूर्ण सतुकान्त गद्य शैली में रचना की है किन्तु शिवदास का गद्य एक ओर जहां अपभ्रंश से प्रभावित है, वहां जगा खिड़िया का गद्य इस आवरण को छोड़कर नये धरातल की ओर चरण बढाता प्रतीत हो रहा है। गद्य के विकास में यह शुभ चिह्न है। दोनो लेखकों की रचनाओ

---

1. वचनिका—जगा खिड़िया री कही—पृ. 96।
2. वही, पृ. 96।

मे समय का अन्तर होने के कारण उनके गद्य-रूप में भी पर्याप्त अन्तर होना स्वाभाविक है। अन्त मे यह कहना ही समीचीन होगा कि शिवदास से प्रेरणा पाकर जगा खिड़िया कलात्मक गद्य की रचना मे उनसे कहीं आगे निकल गया है।

प्रारम्भिक काल के कलात्मक गद्य के प्रमुख शैलीकारों के पश्चात् ऐतिहासिक गद्य लेखकों का साहित्यिक परिचय देना भी नितान्त आवश्यक है क्योंकि 'ख्यात' विषयक गद्य-साहित्य इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। प्रशस्ति एव वंशावलियों के रूप मे ख्यात लिखने की परम्परा राजस्थान मे अत्यन्त ही प्राचीन रही है, अतः उसके लेखकों का साहित्यक परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

22. मुंहणोत नैनसी :

मुंहणोत नैणसी जाति के ओसवाल, जैसलमेर की तरफ से आकर जोधपुर के राजाश्रय मे दाखिल हुए थे। महाराज जसवंत सिंह (प्रथम) ने इन्हें पहले अपनी सेना मे स्थान दिया तथा बाद मे सं 1714 में उन्हें अपना दीवान नियुक्त किया। वीर कथाओ के अतिरिक्त इतिहास लिखने मे नैणसी की बड़ी रुचि थी। जोधपुर राज्य का दीवान होने के कारण उन्हें इतिहास संग्रह करने मे अधिक सुविधा हुई। नैणसी ने केवल 'ख्यात' ही की रचना की, जिसमें उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा,, प्रतापगढ़, जैसलमेर, जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ के राजवंशों की वंशावलियों का इतिहास मिलता है। इतिहास के अतिरिक्त इन राज्यों के विभिन्न स्थानों आदि का वर्णन भी मिलता है। इस ग्रन्थ मे विविध लडाइयों, वीर पुरुषों तथा जागीरों आदि का प्रसंगानुसार सुन्दर विवेचन भी मिलता है। नैणसी ने केवल राजपूताने के इतिहास को ही सुरक्षित नहीं रखा अपितु गुजरात, काठियावाड़-कच्छ, बुंदेलखंड आदि के इतिहास पर भी प्रकाश डाला है।

मुंहणोत नैणसी की ख्यात की भाषा लगभग 300 वर्ष पुरानी मारवाड़ी है जिसमे स्थल-स्थल पर पुराने गीत, दोहे आदि भी उद्धृत किए गये हैं जो अर्थ की दृष्टि से क्लिष्ट हैं। ग्रन्थ सम्पादकीय में श्री साकरिया जी ने लिखा है, "इस ग्रन्थ की मारवाड़ी भाषा भारतीय आर्य समाज की अपभ्रंश परम्परा की निकटतम शाखा के प्रौढ गद्य का उत्कृष्ट रूप है जो राजस्थान की सभी बोलियों मे अधिक विकसित और मान्य 'पश्चिमी मारवाड़ी' की परम्परा का प्राचीन और प्रधान रूप है। अपभ्रंश भाषा की परम्परा से प्रभावित मारवाड़ी भाषा मे लिखा गया यह विवरण (ख्यात) विक्रम सम्वत 1300 से 1700 तक का ऐतिहासिक चित्र प्रस्तुत करता है। इसमे प्राचीन गद्य साहित्य के सभी प्रचलित पुष्ट रूप ख्यात, बात, विगत, विरतन्त (वृतांत), हकीकत, याद, आददास्त, हाल, प्रस्ताव, हवालो, सिघाय-लोकणी, मिसाल, साख, परियावली, वंसावली, पीढ़ियां आदि मिल जाते हैं। अतः ख्यात परम्परा में अपने आप मे यह एक पूर्ण कृति है।

23. पीढ़ियों के वर्णन में वार्त्तालाप शैली :

"एक लिंग जीं कनैं राठासण देवी छैं। तठैं हारीत रिख बारैं बरस बड़ी तपस्या करी। तठैं बापो रावल टोघड़ा चारतो, बांमणरो बेटी थको। सो इण हरीत रिखरी बारैं बरस घणी सेवा करी। पछैं रिखिस्वर री तपस्या पूरी हुई। रिखीस्वर चासण रो विचार 'कियो तरैं हारीत राठासणा देवी ऊपर कोप कियो। कह्यो-'बारैं बरस थांसू निकट तपस्या करी, थे म्हारी कदेई खबर न लीनी।" तरैं प्रतख्य हुय देवी कह्यो—"मोनूं कासूं आग्या करी छो।" तरैं हारीत रिखीस्वर कह्यो—"म्हारी इण डावडैं बापै घणी सेवा की, इणनुं मठारो राज दीयों चाहिजैं। तरैं देवी कह्यो—श्री महादेव जी प्रसन्न करो। राज महादेव जी री सेवा बिना पाई यै जैं न छैं। तरैं देवी कह्यो—श्री महादेवजी प्रसन्न करो। राज महादेव जी री सेवा बिना पाईजैं न छै।"[1]

वाक्य रचना में कहीं कर्त्ता कारक का शब्द लुप्त है तो कहीं क्रिया पद अथवा कर्म पद ही लुप्त है। वर्तमान कालिक क्रिया के लिए भूतकालिक क्रिया का प्रयोग हुआ है। कह्यो अथवा कह्यो का प्रयोग अधिक मिलता है। कर्त्ता का प्रयोग लुप्त—तरैं हरीत राठासण देवी ऊपर कोप कीयो। कह्यो बारैं बरस थांसू निकट तपस्या करी आदि।

ख्यात के अन्तर्गत जो बातें लिखी गई हैं उनमें कथात्मक प्रवाह एवं क्रमबद्धता है। संक्षिप्तता का सर्वत्र ध्यान रखा गया है। अनावश्यक कथा विस्तार कहीं नहीं है। उदाहरणार्थ—

"नरबद जी सतावत मंडोवर राजा बरैं। ताहरा सीहड़ सांखलो रूण रैं धणी आपरी बेटी सुपियार दे रो नालेर नरबदजी नू मेल्हियो। ताहरां नरबद जी ऊपर राव रिणमलजी रांणो मोकल आया। तद लड़ाई हुई। नरबद घावैं पड़ियों रिणमल जी मंडोवर लियो। आय गदी बैठा। नरबद नू रांणो मोकल ले गयो।" (अथ नरबद सतावत री बात सुपियार दे लायो तै समय री, ख्यात भाग 3)

पश्चिमी राजस्थानी गद्य में ख्यातों की परम्परा अपने विकास में अग्रणी, परिपक्व और अधिक प्राचीन गद्य शैली के रूप में प्रचलित रही है। नैणसी की ख्यात की भाषा पर अपभ्रंश के रूपों का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है; जैसे—उदयसिंह का अपभ्रंश रूप 'ऊदल' (सिंह का लोप) इसी प्रकार-अरहड़, मलधरो, आसथांन, गंपो, धाहड़, पाब, पेथड़, वैरड, बाहड़, सीपक, हड़बू आदि पुरुष नाम अपभ्रंश से प्रभावित हैं।

गांवों में—आवड़, ईहड़, मायड़, लोछा हुरड़ आदि। स्त्री नामों में—चीबा, पोकरण, बिसनोई आदि।

भाषा की प्रौढ़ता और अर्थ बोधता की दृष्टि से नैणसी की ख्यात एक उत्कृष्ट

---

1. मुंहणोत नैणसी री ख्यात, भाग 1-3 सं. साकरिया बदरी, पृ. 11।

रचना-कृति है। मुहावरों एवं रूढि प्रयोगों का रूप स्थल-स्थल पर बड़ी प्रचुरता से देखने को मिलता है। क्रिया पद सर्वनाम और विशेषण के रूप तो इतने अधिक हैं कि इस स्थल पर उनका उल्लेख करना भी सम्भव नहीं। प्रत्यय, परसर्ग और विभक्तियों के अनेक कारक रूप और प्रकार एव उनके प्रयोग भाषा की प्रौढता एवं सम्पन्नता के अच्छे उदाहरण हैं। अंत में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 'मुंहणोत नैणसी की ख्यात' राजस्थानी गद्य की प्रौढ एवं सुन्दर रचना है जिसमें नैणसी ने जन प्रचलित राजस्थानी भाषा का प्रयोग किया है।

24. दयाल दास 'सिढायच' :

चारण कवियों का साहित्य पद्य के साथ-साथ गद्य में भी विपुल मात्रा में मिलता है। दयाल दास सिढायच मारु चारण जाति की आदलिया शाखा के कवि थे। बीसवीं सदी के प्रारम्भ मे उन्होंने राठोड़ा री ख्यात नामक एक वृहत ग्रन्थ की रचना की जिसका कुछ अंश अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर से प्रकाशित भी हो चुका है। आप बीकानेर महाराज रत्न सिंह के विश्वासपात्र कवि थे। विद्वान एवं योग्य होने के कारण राजकीय वंशावलियों, पट्टों, बहियों एवं राजकीय पत्रों के माध्यम से आपने इतिहास की पूर्ण जानकारी प्राप्त की। ख्यातकार के रूप में दयाल दास सिढायच ने महत्वपूर्ण कार्य किया। राठोड़ों री ख्यात के अतिरिक्त आपने 'देश दर्पण'[1] एवं आर्याख्यान कल्पद्रुम[2] नामक दो गद्य ग्रन्थों की रचना भी की। 'देश दर्पण' नामक ख्यात ग्रन्थ की रचना महाराजा सरदार सिंह जी के समय संवत् 1927 में हुई थी। इसमे बीकानेर के प्रारम्भिक राजाओं का संक्षिप्त वृतान्त हैं। आर्याख्यानक कल्पद्रुम की रचना सम्वत् 1834 मे महाराजा डूंगर सिंह जी के समय हुई थी। इसमे राठोड़ो की वंशावलियो, राज्य के परगनों, गांवों का विवरण एवं इतिहास तक मिलता है। गांवों की पैदावार का वर्णन, टकसाल मे रुपियों के लेन-देन का वर्णन, पट्टों का वर्णन, निजराना एवं तत्कालीन इन्तजाम व्यवस्था आदि का वर्णन भी दिया गया है। स्थल-स्थल पर वारता आदि में संस्कृत के श्लोको का भी प्रयोग मिलता है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—जस रत्नाकार, सुजस बावनी, अजस इक्कीसी एवं वंश दर्पण आदि। सभी काव्य ग्रन्थ हैं जो हस्तलिखित रूप मे अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित हैं।

'दयाल दास की ख्यात' बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ की रचना कृति है। इस ख्यात की रचना साहित्यिक रूप मे न होकर ऐतिहासिक रचना के रूप मे हुई थी, फिर भी इस ख्यात का धारा प्रवाहिक गद्य राजस्थानी साहित्य मे विशेष उपयोगी है। ख्यातें प्राय: दो रूप मे लिखी गई हैं; एक वे जिनमें ऐतिहासिक क्रम है तथा दूसरी वे जिनमे इतिहास के साथ साथ फुटकर बातें भी लिखी गयी हैं। दयाल दास की ख्यात प्रथम श्रेणी में ही रखी जा सकती है क्योंकि उसमें फुटकर बातें

1-2 हस्त लिखित प्रतियां--अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर।

नहीं हैं, मात्र इतिहास का क्रमिक विकास धारावाहिक रूप में मिलता है। उदाहरणार्थ—

'पीछै सूतै सुभाव चांपावत हाथीसिंघ गोपाल दासोत सासरै जावतां प्राद-मियां दो सौ सूं अजमेर आयो। महाराज कैद हुता तठै डेरा हुवा। तद हाथी सिंह पूछियो-अठै डेरा किणरा है? तद उठैरा लोका कयोजी अठै बीकानेर राजा दलपत सिंह जी कैद में है? तद ठाकर चोपदार मेल मुजरो मालम करायो। तारो म्हाराजा ठाकर खनै आदमी मेल कहायो जो एक बार ठाकर मैं-सूं मिल जावै तो ठीक है। तद ठाकर कहायो कै अवार तो सासरै जाऊं छूं। वा पाछो आवतो मिलसूं। तठै म्हाराजा वलै आदमी मेल ठाकर-नूं कहायो कै सासरै जावै जिके म्हारा समंचार थांई सुणसी। इसी कही आदमी तद ठाकर आपरै भायां राजपूतां सूं सला करी। अरू कयोजन्म मरण तो देह रो सम्बन्ध छै पण पाछै परब पर मरिया नाम रहे। तद् भायां सारां-ई-कयो-जो मोटी परब है, पणां राठोड़ां ईणां नू ईमान बदल नै पकड़ाया है।'[1]

उपर्युक्त अवतरण से इस ख्यात के ऐतिहासिक प्रसंग की जानकारी मिलती है जिसमे तथ्यों को सुस्पष्ट ढंग से धारावाहिक रूप में प्रस्तुत किया है। ख्यात के गद्य पर अपभ्रंश का प्रभाव नही के बराबर है, क्योंकि इसकी रचना 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई थी और उस समय तक राजस्थानी गद्य अपभ्रंश के आवरण से पूर्णतया मुक्त हो चुका था। शैली की दृष्टि से इतना कहा जा सकता है कि ख्यातों मे शैलियों के जो विविध रूप मिलते हैं, वे सब इसमें विद्यमान हैं; जिनमें विवरणात्मक, वर्णनात्मक, संवादात्मक एवं चित्रात्मक शैलिया प्रमुख हैं। उपर्युक्त अवतरण मे कथात्मक सौन्दर्य के साथ साथ संवाद योजना का सुव्यवस्थित रूप भी शैली मे मिलता है।

'आर्याख्यान कल्पद्रुम' (इतिहास-ख्यात) मे ऐतिहासिक विवरण के साथ-साथ अनेक वार्ताएं भी मिलती हैं जिनमे कथात्मक शैली के साथ-साथ सूत्र पद्धति के अन्तर्गत व्याख्यात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ—

'आरियावर्तकार हर्ण वाला है। अरु जन से वितनाम गन करें। गुनकरिकें सेवित है। अबे गुणवान है। अरु सदार अमंद निरा आलसी नहीं है। अरु नन्द नन्दनी बेटा बेटी। आरिया नाम इनको है। नन्द नन्दनी आरिया मूर्तिक अ वी मूर्ति हैं। तिन करिके जय है। इन लोक परलोक की जय है।'[2]

क्रिया शब्द 'है' का प्रयोग शेखावाटी बोली की परम्परा के अनुसार हुआ है किन्तु कुछ वाक्यों की गठन पर खड़ी बोली गद्य का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है, जैसे-अमंद निरा आलसी नही है।' आदि। ठेठ राजस्थानी के शब्दों का रूप भी

1. दयालदास री ख्यात, ह. लि. अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर।
2. आर्याख्यान कल्पद्रुम : हस्त लिखित प्रति, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर।

द्रष्टव्य है, जैसे आये के लिए आविया 'ये भी' के लिए 'अ वी' (शेखावाटी रूप) 'मोर' के लिए 'मह' आदि। इसी ख्यात में वर्णनात्मक शैली में पट्टों का वर्णन, पैदावार का वर्णन एवं पीढ़ियों आदि का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है जो भाषा-शिल्प एवं शैली की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। 'देश दर्पण' नामक रचना में बीकानेर नरेश महाराजा रतन सिंह की पीढ़ियावली का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमें साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव है। अतः इनकी कृतियों में मात्र 'ख्यात' ही एक ऐसी ऐतिहासिक कृति है जिसमें तत्कालीन इतिहास को तत्कालीन बोलचाल की भाषा में चित्रित किया है।

25. बांकीदास :

कविराजा बांकीदास डिंगल एवं पिंगल शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता एवं आशु कवि थे। उनकी अद्भुत कवित्व शक्ति, सत्यवादिता एवं इतिहास ज्ञान ने उन्हें जोधपुर के तत्कालीन महाराजा मानसिंह के यहां 'कविराजा' होने का सम्मान प्रदान किया। उन्होंने डिंगल और ब्रज भाषा में छोटे-बड़े लगभग 24 काव्य ग्रंथ लिखे। उनका महत्त्वपूर्ण गद्य ग्रन्थ है—उनकी ख्यात (बांकी दास की ख्यात) जिसका सम्पादन पं. नरोत्तम दास स्वामी ने राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मन्दिर, जोधपुर के संरक्षण में किया है।

26. कृतियां :

सूर छत्तीसी, सीह छत्तीसी, सुजस छत्तीसी, सुजस छत्तीसी, सियराव छत्तीसी, सुकवि बत्तीसी, विदुर बत्तीसी, धवल पचीसी, वचन विवेक पच्चीसी, कृपण दर्पण, दातार बावनी, संतोष बावनी, वीर विनोद, सुरजाल भूषण, वैसक वार्ता, मावड़िया मिजाज, मोह मर्दण, चुगल मुख चपेटिका, वैस वार्ता, कायर बावनी, झमाल, गंगा-लहरी, नीति मंजरी, जेहल-जस-जड़ाव आदि। ये सभी कृतियां बांकीदास ग्रंथावली में तीन भागों में प्रकाशित हुई हैं। बांकीदास की ख्यात ऐतिहासिक कृति होने के साथ-साथ कलात्मक कृति भी है जिसमें छोटी-बड़ी दो हजार सात सौ के लगभग बातें भी संग्रहीत हैं। कुछ बातें तो इतनी छोटी हैं कि 10-15 पंक्तियों में ही समाप्त हो जाती हैं। इन बातों में विषयगत विविधता मिलती है जिनका संकलन व्यवस्थित नहीं है। कथावस्तु की दृष्टि से भी इन बातों का कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है क्योंकि कुछ बातें तो आकार में इतनी छोटी हैं जो मात्र सूचना तक ही देती हैं। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी भी नहीं मिल पाती। गद्य की दृष्टि से कुछ को छोड़कर शेष निरर्थक हैं।

बांकीदास की ख्यात प्रामाणिक गद्य रचना कृति है। राज्य के अन्तर्गत आने वाले अनेक गांवों की ऐतिहासिक सूचना भी ख्यात में मिलती है तथा राजाओं की वंशावली एवं विभिन्न जातियों का विवरण भी दिया गया है, जैसे—

उदैकरण रो सगनो, सगतारो मनोहरदास सं. 1672 महाराज सूरजसिंघ

जी मनोहर दास नूं पट्टे पीसांगण दीनी पछै बीकानेरिया राजा सूरजसिंघ मनोहर दास नूं मरायो। इण ठांव जोधपुर बीकानेर पण वध वधियो।'[1]

ख्यात में अनेक फुटकर बातें हैं जो उक्तियों पर आधारित हैं एवं उनमें उर्दू-फारसी का विशेष प्रभाव है। उदाहरणार्थ–'ईसवर निरंकुस है, चाहै स करै। खुदा इरादो करै एक चीज को, बंदा करे अमवाव उसको। खुदा तालारी पातसाही वे जवाल है, आदि। ख्यातों पर पृथक् से प्रकाश डालते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उनमे स्थल-स्थल पर विवरणात्मक एवं वर्णनात्मक शैली का प्रयोग अधिक हुआ है। जैसे—

27. विवरणात्मक गद्य शैली :

बीकानेर गढ कोट राजा रायसिंघ करायो। प्रधकोस सहर छै। जूनी बीकानेर। बीकानेर सूरजपोल बंधा ऊपरै हाथी ये है जैमल पत्तो है। बड़ एक। मोटो तारणो छै। बावन बुरज छै। उगवणनुं पोल सू पड़कोट सूं तीन पोल है। पोल एक पश्चिम दिसा छै। बारी एक उत्तर नं छै। छत्तीस गज कोट ऊंचो धरती थी। हाथ तैंतालस कोट नै गज 14 प्राडो छै। गज नव कोट दोली -खाई ऊंडी। भींत प्रागणो सगला छव गज छै। कुवा तीन पुरस साठ। पाणी मीठो। पहलां बारै हुंता त्यां दोलो कोट कराय मांय लिया तलाव घड़सीसर सहर थी कोस दोय पाणी सात मास रहै। आठ कुवा सहट की गिरद। साठ पुरस। पाणी मीठा। बीस नाड़ियां पाणी मास दोय तथा तीन रहै। सूर सागर पाणी मास छव रहै।'[2]

क्रिया के लिए "छै" के साथ साथ 'है' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। बातों में कथावस्तु का विकास छोटे-छोटे वाक्यों के बल पर सरलता के साथ किया गया है। जैसे—

"जैसलमेर री रावत सींवो भाटी, नापासर वेलासर रा सांखला प्रोहित सीवड़ नागोर महाराज बखत सिंघ जी सूं मिलया। यां कनै बीकानेर आयो। आं कपो बीकानेर रा किला मे राजाधिराज रो अमल कराय देसां, जोरावर सिंघ जी बीकानेर रो राजा ज्यांनू सुपना मे अै समाचार श्री करनी जी फुरमाया। जोरावर सिंघ जी आठां सांखला नू मारिया। प्रोहित भाज गया। सींवो सुन्दरों खालो पड़ भागो। बीकानेर सूं चौघड़ा से लोक ताकीद सूं किला में आय गयो। राजाधिराज देसणोक परांसू पाछा पधारिया। नागोर हूं बीकानेर रो गढ हाथ आयो नही।"[3]

अरबी फारसी के शब्दो का बाहुल्य ख्यात मे तत्कालीन मुगल शासन के प्रभाव के कारण है। चमत्कार प्रदर्शन का ख्यात में पूर्णतया अभाव है। वास्तव मे इस ख्यात की रचना एक व्यवस्थित पुस्तक के रूप मे नही हुई है। एक इतिहासकार

---

1. सं. नरोत्तम स्वामी, बाकीदास की ख्यात, पृ. 85।
2. बांकीदास री ख्यात, बात संख्या 841, पृ. 76।
3. बांकीदास री ख्यात, सं. नरोत्तम दास स्वामी।

जिस तरह अपनी डायरी लिखता है उसी प्रकार जो बात लेखक ने सुनी उसे वहीं अंकित कर दिया। क्रम बद्धता का पूर्ण अभाव है। राजाओं की पीढियों, लड़ाइयों एवं राजदरबार से सम्बन्धित अनेक कहानियां हैं किन्तु उनकी योजना क्रम बद्ध नहीं है। कहीं प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण है तो कहीं बीच में ही जन्म एवं मृत्यु की जानकारी दे दी गई है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कृतिकार के सामने कृति का कोई निश्चत प्रारूप नहीं रहा है। जो बात जहां सुनी, वहीं उसे अंकित कर दिया। वर्णन की विविधता की दृष्टि से कृति अधिक उत्तम है चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से उसका कोई महत्त्व न हो। ख्यात में स्थल स्थल पर भूगोल, इतिहास, वेदान्त व जीवन दर्शन से सम्बन्धित विषयों पर टिप्पणियां भी लिखी गई हैं। इस दृष्टि से बांकीदास की ख्यात विविध विषयों का एक संग्रह ग्रन्थ सा प्रतीत होता है।

28. श्री सूर्यमल मिश्रण :

महाकवि सूर्यमल मिश्रण का जन्म 1815 ई मे राजस्थान के इतिहास प्रसिद्ध हाडा चौहानों के राज्य बूंदी मे चारण जाति की मीसण (मिश्रण) शाखा मे उस समय हुआ जब कि राजस्थान मे मराठा शक्ति का पराभव हो रहा था। पिता की तरह सूर्यमल ने बचपन मे ही अपनी प्रतीभा का परिचय देना प्रारंभ किया था। दस वर्ष की आयु में इन्होने मध्यकालीन परम्परा के अनुसार क्षत्रिए जाति का शौर्यमय इतिहास काव्य रूप मे लिखने का उपक्रम किया और उसके फलस्वरूप उनकी अद्वितीय काव्य कृति 'वंश भास्कर' सामने आई। 'वंश भास्कर' की रचना के पीछे कवि का उद्देश्य क्षत्रिय जाति के इतिहास को पुनर्जीवित करना था। उनकी सुप्रसिद्ध वीर रसात्मक कृति 'वीर सतसई' की रचना का सम्बन्ध 1857–58 के स्वतन्त्रता संग्राम से सीधा जुड़ा हुआ है। बल वद्धि-लास, छदो मयूख, सती रासो, धातु रूपावली आदि ग्रन्थ काव्य-कृतियों एवं फुटकर कवित्त-सवैयों की रचना की। उन्होने स्वतन्त्र रूप से कोई गद्य ग्रन्थ नही लिखा किन्तु इनके महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ 'वंश भास्कर' के चतुर्थ, पंचम, षष्ठम एवं सप्तम राशियो (भागों) मे गद्य का लगभग 185 पृष्ठों में प्रयोग हुआ है। गद्य का प्रयोग भी धारा-प्रवाहिक स्वतन्त्र रूप से न होकर दोहा– छप्पय, पद्धति के साथ हुआ है।

'वंश भास्कर' राजस्थानी का अत्यन्त एवं यशस्वी काव्य इतिहास ग्रन्थ है जिसमें लगभग ढाई हजार पृष्ठ हैं। पद्यात्मकता, वस्तु सगठन, पात्र सृष्टि, शैली, स्वरूप एवं छंद योजना आदि के आधार पर वंश भास्कर 'चम्पू' सा प्रतीत होता है। वश भास्कर का अधिकांश भाग ईतिवृत्तात्मक शैली में रचित है। वर्णन मे चित्रात्मकता है। गद्य मे कही-कही लक्षणा-व्यंजना का प्रयोग भी हुआ है। जैसे—

"भूखों केहरी रो केहर खीजिया नागराजा से मणि माडाणी झाटकि लेणरो बल होय तो म्हारां प्रस्थानरी राह रोकणरी सलाह छै।

अर आजरा समय में गुजरात– रूपी काचा कलसरे सीस चहुवाणांरा समद्र.. रो सीमा लोपियो प्रावाह छै इसड़ा कान्हरा वचन गिरिनारी राम रे समान ..

पड़िया तिकासूं कालो हो तो पाछो पलटणरी जेज करती नहीं। अर मणिइलपुर बंधी में पाधरो ही जाय पेठणरो संकल्प धरनो नही।

(वंश. 1374–75; 49)

वंश भास्कर मूलतः काव्य ग्रन्थ है, अतः उसमें गद्य की विविध शैलियों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। श्री मिश्रण जी अनेक भाषाओं के प्रकांड पंडित थे, अतः उनके वंश भास्कर में संस्कृत प्राकृत, मागधी, शौरसैनी, अपभ्रंश एवं ब्रज भाषा की शब्दावली का प्रयोग बराबर हुआ है किन्तु गद्य मे प्रमुखतः संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है, जैसे—

"सो राजा ने आपरा प्राण रो ओषध अनंग सेन जाणी अवरोध लाय राणी रै अरथ निवेदन कीधो। राणी तो कलिजग रो रूप एहा अभिरूप अवनीस रो तिरस्कार करि सुद्धान्त रै आश्रित अनेत जन रई जिकां मे कोई दो ही लोक रो खोवणहाद ठालियो जिण री संगति रै प्रभाव स्वर्ग लोक रा मार्ग मुद्रित कराय कुंभीपाक रो निवास भालियो सो आपरा स्वामी रो दीधो अपूर्व चमत्कारिक फल राणी अनंगसेना नैं जाररैं भेठ कीधो।"[1]

श्री मिश्रण जी की भाषा मे क्लिष्टता का दोष उनका बहुभाषाभिज्ञता के कारण ही आया है। उपर्युक्त अवतरण में जनभाषा से हटकर उन्होंने साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है। ब्रज भाषा का प्रभाव उनकी भाषा-शैली पर स्पष्ट दिखाई देता है। वंश भास्कर के अतिरिक्त तत्कालीन राजनीति (1857 के स्वतन्त्रता संग्राम) से प्रभावित होकर उन्होंने अपने पड़ोसी राजाओं को हाड़ती बोली मे व्यक्तिगत पत्र भी लिखे थे जिनकी भाषा-शैली वंश भास्कर के गद्य से पूर्णतः भिन्न है। एक तरफ जहां वंश भास्कर के गद्य मे प्रसाद गुण का अभाव है वहां उसमे राजस्थानी संस्कृत-निष्ठ क्लिष्ट टकसाली शब्दों का प्रयोग भी प्रचुरता से किया है। श्री मिश्रण जी के पश्चात् आधुनिक राजस्थानी गद्य मे भाषा-शैली का ऐसा साहित्यिक रूप आगे नही मिलता। श्री मिश्रण जी ने अपने पत्रों में तो लौकिक भाषा का ही प्रयोग किया है जो अपेक्षाकृत सरल, एवं आधुनिक राजस्थानी गद्य के अधिक निकट है। इन पत्रों में ओज के साथ साथ कही शैली मे व्यंग्यात्मकता का पुट भी मिलता है, जैसे—

29. भिणाय के राजा श्री बलवन्त सिंह को लिखे गये पत्र का अंश :

"हिन्दुस्तान को दिन खोटो छै सीसूं एकता कोई विरलो ठांव ही रह गई है पांच वर्ष पहली इंग्रेजों ने सती होवा की बात मनै तरिवा को हुकम सारा रजवाड़ा मे लगायो तीं पर ज्यां ज्यां को जसी जसी बनगो का हुकम आप आपकी अंजरी में जाहिर किया व्यां में कोयां का वी जवाब एकता की संगति सूं मिल्या नही वीसूं इंग्रेज भी हंस्या अर बिना एकता का जवाब कोई भी यकीन हुवो नहीं..........

1. उद्धृत—राजस्थानी शब्द कोश-भूमिका, सं. सीताराम लालस, पृ. 199।

एकता होतो भर सबको एक जवाब जातो तो सरकार कंपनी में बी मंजूर ही होती परन्तु हिन्दुस्तान का राजां मे तो या बुद्धि रहि गई सो पैला दिन का इंग्रेज लोक वा मुसलमान पैली विलायत सूं तापरया छै त्यां को हुकम उठावा मे तो भ्रापको धर्म वा नाम नकस भी गुमय दे छुं परन्तु यांकी मरजी साघ छै भर ज्यो करै ज्यो ही मुकते छं ।"

—सतसई की भूमिका से ।

पत्र की भाषा में लौकिक सत्य को व्यंग्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया है। कहीं-कहीं कहावतों एवं मुहावरों के प्रयोग से पत्रों की शैली में सरसता तो उत्पन्न हुई ही है, साथ ही वह साहित्यिक रूप को त्याग कर जनसामान्य की भाषा के धरातल पर उतर भ्रायी है। खडी बोली का प्रभाव तत्कालीन हिन्दी गद्य के विकास के लिए किए जा रहे प्रयासों के कारण भ्रा पाया है। पूर्व परम्परानुसार विराम आदि चिह्नों का कहीं ध्यान नहीं रखा गया है। भ्ररबी-फारसी के शब्द भी पत्रों में बराबर मिलते हैं। श्री मिश्रण जी 19वीं शताब्दी के गद्य के भ्रन्तिम गद्यकार हैं, जिन्होंने भ्रपने गद्य में हाड़ौती बोली का प्रयोग किया है।

'सूर्य' मिश्रण के बाद राजस्थानी गद्य का एक नया विकास प्रारम्भ होता है। प्राचीन राजस्थानी गद्य भ्रधिकांश कथात्मक रूप में ही मिलता है क्योंकि उस काल के गद्यकार भ्रपने विचारों को सामान्य ढंग से जनसाधारण तक पहुंचाना ही उचित समझते थे। पांडित्य प्रदर्शन को कोई महत्त्व नहीं देता था, इसी कारण प्रारम्भिक गद्य मे कहीं क्लिष्टता नहीं मिलती। राजस्थानी गद्य की आधुनिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने से पूर्व प्राचीन काल की भ्रज्ञात लेखकों की कुछ कृतियों की भाषा-शैली पर विचार किया जाना भ्रावश्यक है।

30. भ्रन्य गद्यकार एवं भ्रज्ञात रचनाएं:

14वीं शताब्दी में श्री संग्रामसिंह द्वारा रचित 'बाल शिक्षा व्याकरण' एव षडावश्यक बालावबोध जैन गद्य साहित्य मे उत्तम रचनाएं हैं। संस्कृत व्याकरण के विषयों को राजस्थानी शब्द समूह के माध्यम से सरल ढंग से स्पष्ट किया गया है। सुगम शैली के द्वारा बालकों को व्याकरण की शिक्षा दी गई है। भाषा में राजस्थानीपन अधिक है और 'उ' कार मूलक प्रवृत्ति भी भ्रधिकांशतः दिखाई पडती है। व्याकरण में संस्कृत के मूल शब्दों को चित्रित किया गया है तथा उनका अनुवाद राजस्थानी मे किया गया है। कहीं-कहीं भाषा मे ठेठ मारवाड़ी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी मिलता है, जैसे–करिजे, देजे, लेजे भ्रादि। इस काल की अन्य व्याकरण विषयक रचनाएं भी मिलती हैं जिनमें मुग्धावबोध भ्रौक्तिक–कुल मण्डल, भ्रौक्तिक श्री सोमप्रभ सूरि एव उक्ति संग्रह–श्री तिलकम प्रमुख हैं।

बालावबोध शैली मे कुछ गणित की रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं जो भाषा शैली के विकास की दृष्टि से उपयोगी कही जा सकती हैं। इन्हें वैज्ञानिक गद्य के भ्रन्तर्गत भी रख सकते हैं। 'गणित सार', 'गणितपंच-विंशतिका बालावबोध' तथा

'संग्रहणी बालावबोध' आदि कृतियां इस विषय में उत्तम रचनाएं हैं। 'गणित सार' की मूल रचना राजकीर्ति मिश्र ने सं. 1449 में अणहिलपुर में थी जिसका बालावबोध शैली में श्रीधर ने राजस्थानी अनुवाद किया था।

गद्य का उदाहरण–

"किसु जु परमेश्वरु, केलास शिषरु मंडनु, पारवती हृदय रमणु विश्वनाथु। जिणं विश्व नीपजावि उं तसु नमस्कारु करीउ। बालवबोधनार्थं, बाल मणोहि अज्ञान तीह अवबोध आणिवा तणउ अर्थि, अलीय वंश वृद्धयथु श्रीधरवायुं गणितु प्रकटी कृतु।
—ह.प्र. गणित सार

घटना बाहुल्य एवं वर्णन प्रधान प्रवृत्ति की दृष्टि से राजस्थानी गद्य में अज्ञात लेखकों की अनेक बातें मिलती हैं जिनमें छोटे-छोटे वाक्यों की योजना से सूक्ष्म तत्वों का विवेचन मिलता है तथा परम्परागत वर्णन के अन्तर्गत 'व्यक्ति-चित्रण' भी मिलता है। सोलहवीं शताब्दी की 'खीची गंगेव नीबावत री सेपहरो, राजांन राउत री बात वणाव' आदि इसी कोटि की रचनाएं हैं जिनमे तत्कालीन समाज की परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण मिलता है।

17वीं शताब्दी में रचित अज्ञात लेखक की रचना के रूप में 'दलपत विलास' भारतीय इतिहास एवं साहित्य की अमूल्य निधि है। 'दलपत विलास' एक छोटी सी गद्य रचना है किन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह एक उपयोगी रचना कृति है। इस कृति में महाराजकुमार अनूपसिंह के जीवन चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। 'दलपत विलास' की भाषा प्रौढ राजस्थानी गद्य रचना है जिस पर अपभ्रंश का प्रभाव संज्ञा व क्रिया रूपों में मिलता है। संस्कृत के प्रचलित शब्दों का प्रभाव भी दृष्टव्य है।

31. गद्य का उदाहरण :

आगे बीकोड़ि साणो उदयसिंघ राज करे छै। तिण री विस्तार आगे कही जिसी। राव मालदे जोधपुर राज करे छै। पातिसाहजी रो उमराव खान खानो तियें कहाड़ियो राणा उदयसिंघ मैं राव मालदे नूं मोटा राजा जाणि करि, आपरा परधाना मेल्हि ने कहाड़ियो जु मोनैं सरणे राखो तो थां कन्हे आवूं। ताहरां इयां निहूं राजवियां खान खानखाना रा परधाना साथे कहाड़ियो जु तूं पातिसार रो बडो उमराव म्हांहरै कियें सरणे राखियो न जाइ। ताहरा सइयद महमद बारहै रो बडो उमराव तियें कहियो तौने जै सरणे राखे तो बीकानेर रो धणी राव कल्याणमल राखे।"[1]

अन्य प्रमुख गद्य कृतियों के रूप में संवत् 1512 में रचित 'कान्हड़दे प्रबन्ध' भी तुकान्त गद्य की दृष्टि से एक सुन्दर वर्णनात्मक गद्य ग्रन्थ है जिसमे गद्य के बीच-बीच में कहीं-कहीं गद्य के उदाहरण मिलते हैं। वैज्ञानिक गद्य के अन्तर्गत विविध विषयक कृतियों का उल्लेख किया जा चुका है। जहां तक राजस्थानी भाषा

1. दलपत विलास, सं. रावत सारस्वत, पृ. 10-11।

की लिपि का प्रश्न है, दो प्रकार की लिपियां प्रशासन तथा व्यवहार मे प्रचलित रही हैं। पहली महाजनी लिखावट एवं दूसरी वह लिपि जो देव नागरी से प्रभावित है तथा आज भी उसी रूप में प्रचलित है। महाजनी लिपि मे मात्राओ आदि का बहुत कम ध्यान रखा जाता था किन्तु विराम आदि चिह्नों की परम्परा तो दोनों लिपियों में ही प्रायः लुप्त रही है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कविराजा सूर्यमल मिश्रण के पश्चात् आधुनिक राजस्थानी गद्य की परम्पराओं का विकास होता है जिसमें तत्कालीन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन की भूमिका से गद्य के दिशा-दर्शन मे विशेष बल मिलता है। खड़ी बोली गद्य की परम्परा के विकास के कारण राजस्थानी गद्य का स्रोत कुछ समय के लिए अवरुद्ध अवश्य होता है किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उसका पुनर्विकास द्रुत गति से होता है। गद्य में विशिष्ट नवीन परम्पराओं एवं संस्कारों का विकास होता है, जिससे नाटक कहानी, उपन्यास एवं निबन्ध साहित्य के साथ साथ नवीनतम विधाओं की परम्परा भी हिन्दी गद्य के साथ साथ विकसित होती है। हिन्दी गद्य के अनुरूप शिल्प एवं शैलीगत नवीनताएं आती हैं जिनका आगे पृथक् से चित्रण किया जा रहा है।

चतुर्थ-प्रकरण

नई प्रेरणा से आधुनिक राजस्थानी गद्य शैलियों का आविर्भाव

भाषा मानव जीवन के विकास का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। इसी साधन के बल पर हमें एक दूसरे के निकट आने का अवसर मिलता है। 'हम क्या हैं ?' यह मात्र भाषा के बल पर दूसरों के सामने सिद्ध करते हैं एवं इसी के माध्यम से यह भी जानने का प्रयत्न करते हैं कि 'वे किन किन परिस्थितियों से होकर आज हमारे सामने आये हैं?' यदि भाषा का स्वरूप हमारे सामने नहीं होता तो न साहित्य होता और न आनन्द ही। अतः भाषा वह शक्ति है जो व्यक्ति को जीवन प्रदान करती है।

भाषा और साहित्य का सम्बन्ध किसी ऐसे तत्त्व से जुड़ा है जिसे अलग करके नहीं पहचाना जाता। अभिव्यक्ति स्वयं यह निर्णय कर देती है कि—किस भाषा साहित्य मे कितनी शक्ति है—कितना प्राण है ? भाषा की प्रेरणीय शक्ति यदि वैज्ञानिक, सरस, स्पष्ट अथवा जीवन के निकट नहीं तो साहित्य की भी कोई सार्थकता नही, उसका कोई मूल्य नही। राजस्थानी भाषा और साहित्य इन समस्त विशिष्टताओं से युक्त है। उसका प्रत्येक तत्त्व अपने आप मे पूर्ण है। भावों की अभिव्यक्ति तो उसमे इतनी सरलता एवं कलात्मकता से होती है कि प्रत्येक वाक्य अपने आप में जैसे एक साहित्य का अंग बनता चलता है। उसका साहित्य भी इतना विशाल एवं गौरवपूर्ण है कि किसी भी समृद्ध साहित्य की टक्कर मे खड़ा किया जा सकता है। गद्य की परिस्थिति तो और भी सुदृढ़ है। उसका प्राचीन गद्य साहित्य अनेक स्रोतों में प्रवाहित होता हुआ नये उपकूल खोज चुका है।

साहित्य, रूप प्रकृति, प्रवृत्ति एवं परम्परा की दृष्टि से राजस्थानी गद्य नवीन आर्य भाषाओं मे अपना विशेष स्थान रखता है। मरुभाषा, मरुवाणी, डिंगल, मारवाड़ी और राजस्थानी नामों को समय-समय पर ग्रहण कर उसने विस्तृत भाव-भूमि पार कर एक परिनिष्ठित साहित्यिक रूप प्राप्त किया है। राजस्थानी भाषा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उसके अपने संस्कार हैं, अपनी भाव भूमि है। अनेक आरोह एवं अवरोह को पार करती हुई भी वह एक जीवित भाषा है। उसका सर्वस्व अपना है। उसके साहित्य का सम्यक संवर्द्धन ही उसकी सफलता है एवं उसके जीवित रहने का कारण है। उसका विकास नागरी अपभ्रंश से हुआ है जिसके पीछे अपभृंश, प्राकृत, संस्कृत एवं वैदिक भाषा के पैतृक संस्कार हैं।

राजस्थानी गद्य की परम्परा हिन्दी भाषा के गद्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन काल से तथा क्रम बद्ध रूप में मिलती है। गद्य के विविध विषयगत रूपों का चरम

विकास हुआ एवं उसकी अभिव्यंजना शक्ति प्रौढता की सीमा तक पहुंच गयी। राजस्थानी गद्य ने अनेक आधुनिक आर्य भाषाओं के गद्य का मार्ग प्रशस्त किया है। 14वीं शताब्दी से आज तक का गद्य साहित्य अनेक रूपों, विधाओं एवं शैलियों के रूप में उपलब्ध है। जिस समय हिन्दी में गद्य का विकास नहीं के बराबर हुआ था, उस समय राजस्थानी भाषा अपने गद्य साहित्य के क्षेत्र में विविध विधाओं के अन्तर्गत एक विशाल कोष स्थापित कर चुकी थी। ऐतिहासिक, धार्मिक एवं कलात्मक साहित्य न केवल पर्याप्त ही था अपितु भाषा की दृष्टि से भी वह प्रांजल, सुष्ठु एवं वैज्ञानिक था। 17वीं एवं 18वीं शताब्दी में इतना अधिक एवं विकसित गद्य साहित्य मिलता है कि इस काल को राजस्थानी गद्य का स्वर्णकाल कहते हैं, किन्तु खेद है कि राजस्थानी गद्य के इस गौरवपूर्ण अतीत को हम कालान्तर में सुरक्षित नहीं रख सके। 18वीं शताब्दी की समाप्ति एवं 19वीं शताब्दी के मध्य तक आते आते राजस्थानी गद्य का यह स्रोत सूख गया। प्राचीन गद्य विधाएं एवं शैलियां साहित्य सृजन के क्षेत्र में स्वतः समाप्त हो गयी। राजस्थानी गद्य के विकास में जो अवरोध उत्पन्न हुआ, उसके अनेक कारण थे। संक्षिप्त में उन पर विचार किया जा रहा है।

भाषा की उपादेयता उसकी अभिव्यक्ति की समर्थता पर निर्भर करती है। भाषा का साहित्यिक विकास क्लिष्टता से सरलता की ओर होता है। राजस्थानी गद्य का विकास एवं प्रसार इसके विपरीत हुआ। प्रारम्भ में वह संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश परम्परा से इतनी दबी हुई थी कि उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में ठेठ राजस्थानी रूप के दर्शन भी नहीं होते। धीरे धीरे उसने इस आवरण को हटाया एवं अनेक साहित्यिक विधाओं (ख्यात, बात, वचनिका, वंशावली, दवावेत, पीढ़ियावली, पत्रात्मक सहित) में राजस्थानी गद्य लिखा जाने लगा। पांडित्य प्रदर्शन के लिए पुनः राजस्थानी ने संस्कृत की तत्सम शब्दावली को ग्रहण किया जिसके परिणाम स्वरूप उसका गद्य साहित्य विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित रहा। राजस्थानी भाषा लम्बे समय तक संस्कृत के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकी। राजस्थानी गद्य के विकास में अवरोध का एक कारण हिन्दी भी रही है। दासत्व के मादकता काल में, विदेशी भाषा (अंग्रेजी) के मोह जाल में हम इतने अभ्यस्त हो गये थे कि मातृभाषा के स्वरूप एवं महत्व को पूर्णतया भूल गये, जागरण की जब अवस्था आई तो मात्र हिन्दी की उन्नति की ओर ही हमारा झुकाव रहा। हिन्दी साहित्य के वर्तमान भंडार को भरने के लिए प्रयत्नशील रहे। परिणामस्वरूप उन्नत राजस्थानी भाषा प्रगति के क्षेत्र में देश की समस्त प्रान्तीय भाषाओं से पिछड़ती ही चली गयी। विकट परिस्थितियों के इन क्षणों में राजस्थानी की अपेक्षा हिन्दी को बचाना अधिक आवश्यक था और यहां के साहित्यकारों ने यही किया किन्तु कोई भी जीवित भाषा नितान्त उपेक्षित भी नहीं रह सकती। नव जागृति काल में साहित्यकारों का ध्यान इस ओर गया और उनके अथक प्रयास से राजस्थानी का आधुनिक स्वरूप परिष्कृत होकर सामने आया। पुरानी परम्परा समाप्त हुई तथा विषय-वस्तु एवं शैलीगत

रूपों की दृष्टि से राजस्थानी गद्य ने नवीन उपलब्धियां एवं स्रोत ग्रहण किये। जो राजस्थानी केवल ऐतिहासिक रचनाओं तक ही सीमित थी जनभाषा का रूप लेकर साहित्य के क्षेत्र में आयी। उर्दू एवं फारसी का अनावश्यक प्रभाव हटा एवं ठेठ राजस्थानी शब्दों का प्रयोग बढ़ा जिससे साहित्य सृजन के क्षेत्र में गद्य का वर्तमान रूप सामने आया।

राजस्थानी गद्य की परम्परागत प्राचीन विधाओं एवं शैलियों की समाप्ति का एक कारण यह भी रहा है कि ख्यात, वचनिका, दवावैत, विगत, वंशावली, पीढ़ियावली एवं ऐतिहासिक टिप्पण आदि पूर्णतया साम्राज्यवादी व्यवस्था तक ही सीमित थे। ऐतिहासिक दृष्टि से चाहे यह साहित्य कितना ही उपयोगी क्यों न रहा हो किन्तु बात साहित्य को छोड़कर शेष का सामान्य पाठक के लिए कोई महत्व नहीं। राजा महाराजों, बादशाहों एवं सामन्तों के महत्वपूर्ण कार्यों से लेकर सामान्य कार्यों का लेखा जोखा भी इस साहित्य की विषय वस्तु है। नवीनता के नाम पर शून्य है एवं सामान्य जन जीवन को कोई स्थान नहीं दिया गया। इस साहित्य को यदि जातीय साहित्य की संज्ञा भी दी जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बात साहित्य में समाज की तत्कालीन झलक अवश्य मिलती है जिसका कारण है उसकी अ.तिनिष्ठ परम्परा। यह केवल राज-प्रासादों तक ही सीमित नहीं रहा, जन जीवन का साहित्य बन गया। बात साहित्य के अतिरिक्त इस काल के शेष ऐतिहासिक साहित्य में अभिव्यक्तिगत विविधता के दर्शन नहीं होते। समस्त ऐतिहासिक एवं धार्मिक साहित्य एक बंधे-बंधाए प्रारूप में चलता रहा और अभिव्यक्तिकरण की क्षमता, नवीनता एवं साधनों के अभाव से उसका स्रोत वहीं अवरुद्ध हो गया। सामंती व्यवस्था की समाप्ति के साथ साथ राजस्थानी गद्य का यह परम्परावादी साहित्यिक रूप स्वतः समाप्त हो गया। आज न ख्यातों के लिखने की परम्परा है और न वचनिकाओं की। साहित्य का विकास विविधता में है, संकीर्णता में नहीं। जो साहित्य अपने पाठकों को आनन्द नहीं दे सका तथा सौन्दर्य, अभिव्यक्तिमूलक नवीनता एवं विविधता नहीं दे सका वह स्थायी कैसे रह सकता था ? राजस्थानी भाषा के पास न शब्द भण्डार की कमी थी न अभिव्यक्ति मूलक सरसता की अपितु कमी मात्र व्यापक दृष्टिकोण की थी।

परम्परागत गद्य साहित्य में अवरोध उत्पन्न होने का एक कारण यह भी रहा है कि प्राचीन राजस्थानी में भाषागत एक रूपता नहीं थी। कोई रचना ब्रज भाषा के अधिक निकट थी तो कोई गुजराती भाषा के। केवल मारवाड़ी बोली में रचित रचनाएं ही अधिक सम्मान प्राप्त कर सकी। राजस्थानी गद्य में एक-रूपता तो आज भी नहीं आ पायी है, किन्तु शैलीगत भेद के अतिरिक्त भाषागत अन्तर अधिक नहीं है चाहे वह यहां के किसी भाग का निवासी क्यों न हो। आधुनिक राजस्थानी के क्षेत्र मे आज हम एक समन्वयकारी प्रवृत्ति के लक्षण पाते हैं। इसी कारण राजस्थानी भाषा की रचनाएं आज बहुत निकट आ गयी है। प्राचीन राजस्थानी में ऐसा नही था। उचित महत्व एवं सम्मान के अभाव मे मारवाड़ी के अतिरिक्त शेष समस्त बोलियों मे रचनाएं धीरे धीरे रुक गयीं। प्राचीन राजस्थानी गद्य मे विधागत विकास नही हो पाया। आधुनिक विधाओं का सूत्रपात भी नहीं हो पाया। मनोरंजनात्मक गद्य साहित्य का भी अभाव रहा है जिससे नवीनता के अभाव मे राजस्थानी गद्य की परम्परागत विधाएं एवं शैलियां स्वतः समाप्त हो गयी। आधुनिक राजस्थानी गद्य का विकास एव प्रसार नये प्रयोगों (उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कहानियां, संस्मरण एवं रेखाचित्र) के बल पर ही हुआ है। यह खेद का विषय है कि राजस्थानी आलोचक समालोचना के क्षेत्र में आज भी हिन्दी गद्य पर ही निर्भर करते हैं जबकि राजस्थानी भाषा आज एक समर्थ भाषा बन चुकी है। राजस्थानी की प्रकृति आज क्लिष्टता से सरलता की ओर है, जिससे यह जीवन के अधिक निकट आ गयी है। अतः गद्य के नये प्रयोगों को विशेष महत्व दिया जाना आवश्यक है। आज राजस्थानी गद्य की प्राचीन भाव-भूमि का युग भी नहीं है और न वे विधाएं वर्तमान के परिवेश मे उपयोगी ही हो सकती हैं; अतः उसकी अन्त-र्निहित सामर्थ्य को नवीनतम प्रयोगों मे उपयोगी बनाना चाहिए।

राजस्थानी भाषा के पास अपनी पुरानी साहित्य सम्पत्ति प्रचुर मात्रा में है किन्तु बीच में कुछ समय के लिए उसका विकास अवरुद्ध हो गया था। परम्परागत गद्य साहित्य की विधाओं का लोप हो गया। पुनर्जागरण काल आया किन्तु सब अपने आपमें जैसे नया ही था। राजस्थानी के इस अन्धकार युग में देश की प्रान्तीय भाषाएं बहुत आगे बढ गयी थी, तथा उन्हें राष्ट्रीय गौरव भी मिल चुका था किन्तु राजस्थानी का यह एक दुर्भाग्य रहा है कि प्रारम्भ में उसके अधिकांश साहित्यकार केवल राजाश्रय में रहकर ही साधना कर रहे थे, स्वतन्त्र वातावरण में बहुत ही कम थे। ज्योंही सामन्तवादी व्यवस्था समाप्त हुई, साहित्य साधना भी रुक गयी। फिर भी प्रसन्नता की बात है कि राजस्थानी के प्रबुद्ध साहित्यकारों ने युग की प्रवृत्तियों को समझा है और राजस्थानी की साहित्यिक वृद्धि करने में जुटे हुए हैं। विकास के ये शुभ लक्षण हैं। यह एक विशेष प्रसन्नता की बात है कि राजनैतिक स्तर पर उलझनें उपस्थित किये जाने पर भी राजस्थान में किसी प्रकार का भाषा कलह नहीं है। राजस्थानी साहित्यकार के लिए भी यह आवश्यक है कि वह

क्षेत्रीय संकोच छोड़कर अपना दृष्टिकोण विस्तृत करे। लिखते समय उसके सामने यह दृष्टिकोण होना चाहिए कि वह मात्र राजस्थानी के लिए ही नहीं लिख रहा है। प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि 19वीं शताब्दी के अन्त तक राजस्थानी गद्य की परम्परागत विधाओं का ह्रास हो चुका था। पुनर्जागरण काल में राजस्थानी गद्य नये साहित्यिक रूप लेकर प्रकट हुआ।

किसी भी भाषा के साहित्यिक विकास में देश की भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियां सर्वदा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। साहित्यकार अपनी उपलब्धियां सम्बद्ध समाज से ही प्राप्त करता है। साहित्यकार समाज की देन होता है और उसके रचित साहित्य पर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की छाप होती है। देश की तत्कालीन परिस्थितियां साहित्यकार को भी सदैव प्रभावित करती हैं। जीवन के दूसरे क्षेत्रों में जो परिवर्तन होते हैं उनका व्यक्तित्व के माध्यम से साहित्य पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं, अपितु दूसरी भाषा के साहित्य के परिवर्तनों का भी प्रत्येक साहित्य पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि साहित्यकार वैचारिक मान्यताओं से सम्पूर्ण जगत् से जुड़ा हुआ रहता है। समाज में विभिन्न दृष्टिकोणों और प्रवृत्तियों का समावेश पाया जाता है, जिनका सीधा प्रभाव साहित्यकार की बौद्धिक एवं भावात्मक प्रक्रिया पर पड़ता है। साहित्यकार के व्यक्तित्व मे अन्तर्निहित यही प्रक्रिया साहित्य को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है कि भाषा के माध्यम से हुई साहित्यकार की अभिव्यक्ति अथवा उसके विचारों एवं भावों की 'समष्टि ही साहित्य है। सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक क्षेत्रों मे जैसे जैसे परिवर्तन होते हैं साहित्य उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। आधुनिक राजस्थानी साहित्य भी इन परिस्थितियों से प्रभावित हुआ। भावों के साथ साथ अभिव्यक्ति के रूप भी बदले। विदेशी एवं देश के अन्य प्रांतीय साहित्य ने राजस्थानी साहित्य की भाव-भूमि को एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को प्रभावित किया। राजस्थान की प्रचलित गद्य विधाएं एवं शैलियां वातावरण के अनुसार परिवर्तित होती गयी।

राजस्थानी गद्य अनेक प्रान्तीय एवं विदेशी भाषाओं के सम्पर्क से प्रभावित होता रहा है। गुजराती का उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव रहा है। बंगला, हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा की साहित्यिक परम्पराओं ने अनुवाद के माध्यम से उस पर प्रभाव डाला है। आधुनिक राजस्थानी के जो प्रवासी लेखक बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात अथवा देश के अन्य किसी भाग मे रहते हैं, उनकी साहित्यिक रचनाओं पर वहां की आंचलिकता का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य पूर्णतः हिन्दी गद्य के अनुरूप ढल रहा है। उर्दू-फारसी एवं अंग्रेजी शब्दावली को प्रशासनिक प्रभाव से स्वीकार किया है। अंग्रेजी एवं हिन्दी भाषा के प्रभाव का एक कारण यह भी रहा है कि दोनों ही भाषाएं यहां शिक्षा की माध्यम रही

हैं; फलस्वरूप प्रकृतिगत परम्पराओं को यहां के साहित्यकारों ने ग्रहण किया है। भाषागत रूढिबद्धता, सामासिकता एवं संस्कृत भाषा से प्राप्त शब्दगत क्लिष्टता के दोष हिन्दी भाषा के सम्पर्क के कारण स्वतः नष्ट होते गये एवं राजस्थानी गद्य ने प्रचलित विधाओं के अन्तर्गत नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, रेखाचित्र आदि को नये वातावरण में ग्रहण किया है तथा अब मौलिक सृजन के रूप मे तीव्रगामी विकास की ओर बढ रहा है। अभिव्यक्तिमूलक भिन्नताओं, प्रेस की सुविधा एवं जीवन की विविधता के सन्दर्भ मे राजस्थानी गद्य की नवीन अनुभूति एवं संवेदना मिली है जिससे उसमें शैलीगत नवीनता का विकास हो रहा है। भाषा में सारल्य, लालित्य, स्पष्टता एवं रोचकता का गुण आ रहा है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहां के साहित्यकारों ने अब सच्चे अर्थों मे समाज के माध्यम से साहित्य की आत्मा को पहचाना है।

1. प्राचीन एवं आधुनिक शैलियों में अन्तर :

भारत के पराधीनता काल में राष्ट्रीयता की जो लहर उठी उसके कारण स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए देश की एकता पर लोगों का ध्यान गया तथा 'एक भाषा एक राष्ट्र' के नारे ने राजस्थानी साहित्यकारो को भी हिन्दी की ओर आकर्षित किया। राजस्थानी के लेखक भी हिन्दी मे ही रचना करने लगे तथा अच्छे लेखक भी बन गये किन्तु राजस्थानी का अपना साहित्य इस दिशा से पिछड़ा हुआ रह गया। परिस्थितियां बदली तथा साहित्यकारों का ध्यान अब सामाजिक सुधारों की ओर गया। इन्ही भावनाओं से प्रेरित होकर राजस्थानी समाज (मुख्यतया मारवाड़ी) को सामाजिक बुराइयों से बचाने के लिए सुधारवादी गद्य लिखे जाने की परम्परा प्रारम्भ हुई।

प्राचीन गद्य शैलियों की समाप्ति एवं आधुनिक गद्य शैलियों के आविर्भाव के कारण राजस्थानी गद्य में अनेक नवीन विधाओ एवं सहित्यिक परम्पराओं का विकास हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात् राजस्थानी भाषा को संवैधानिक अधिकार न मिलने पर विकास के क्रम में एक अवरोध अवश्य उत्पन्न हुआ था किन्तु साहित्यकारों को इससे एक नयी चुनौती मिली जिसे उन्होने सहर्ष स्वीकार किया संवैधानिक दृष्टि से राजस्थानी को हिन्दी के साथ जोड़ देने पर भी स्वतन्त्र रचना का क्रम चलता रहा किन्तु मौलिक सृजन के क्षेत्र मे अन्य उन्नत भाषाओं की तुलना में वह न्यून था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियो का विकास हुआ। सामन्तवादी विचारो के परिवेश को त्याग कर साहित्यकार युगीन वातावरण की ओर बढ़ा जहां उसे समाज का चित्रण करने का अवसर मिला। आज राजस्थानी गद्य में अनेक विधाओं का विकास हो रहा है जिनमें अभिव्यक्तिमूलक नवीनता है।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य मे आज भी कभी कभी पुरानी गद्य परम्परा के अन्तर्गत ऐतिहासिक वातों मे प्राचीन शैली के दर्शन होते हैं किन्तु गद्यकार अपने व्यापक दृष्टिकोण के द्वारा तत्कालीन जनजीवन का विस्तृत चित्र उपस्थित करता

है। यह खेद की बात है कि आज राजस्थानी में जो कहानियां, नाटक, उपन्यास अथवा रेखाचित्र आदि प्रकाशित होते हैं उनमें मध्यकाल की कथावस्तु की झलक मिलती है। साहित्य में प्रचलित वर्तमान परम्पराओं को स्थान देना ही चाहिए अन्यथा वह युगानुकूल नहीं होगा। कथन की स्पष्टता की दृष्टि से आधुनिक एवं प्राचीन गद्य शैली का अन्तर भाषा एवं विधा (शिल्प) की दृष्टि से सरलता से प्रकट किया जा सकता है।

शैली में भाषा की प्रकृति शब्द सौन्दर्य, वाक्यों की रचना एवं ध्वनि पर निर्भर करती है। अलंकार, कहावतें एवं मुहावरों का प्रयोग भी अभिव्यक्तिमूलक स्पष्टता एवं सौन्दर्य में वृद्धि करता है। भाषा शैली में परिवर्तन बहुत धीरे धीरे होता है जिसका प्रकट रूप में अनुभव नहीं किया जा सकता। राजस्थानी गद्य की भाषा में भी परिवर्तन इसी क्रम में हुआ है। उसने अनेक परम्पराओं को छोड़ा है तथा सामयिक नवीनताओं को ग्रहण किया है। वाक्यों की रचना एवं शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से अनेक ऐसी विशिष्टताएं हैं जो आज भी प्रचलित हैं। सरलता, स्पष्टता, ध्वन्यात्मकता, स्थानीय रंग, पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग एवं संयोजक शब्दों की सृष्टि आज भी शैली में विद्यमान है। उक्ति वैचित्र्य का प्रयोग न प्राचीन गद्य में ही प्रचलित था और न आज। शब्दों की रचना परम्परागत प्रत्यय एवं परसर्ग लगाकर आज भी की जाती है। राजस्थानी भाषा का पुराना गद्य प्रचुर एवं समृद्ध है किन्तु शब्दों की अनेकरूपता पायी जाती है। जैसे— क्रिया शब्द के लिए— करियो, करयो, करओ आदि।

15वीं शताब्दी तक की भाषा में 'उ' का प्रयोग प्रायः शब्द के अन्त में अपभ्रंश के प्रभाव के कारण किया जाता रहा है, जैसे— कीयउ, सिधउ आदि। किंतु यह परम्परा आज शब्दों में नहीं है। वर्तमान कालिक क्रिया 'है' के लिए 'छै' का प्रयोग एवं 'मैं, के लिए, म्हूं, मै' आदि पुरानी भाषा में प्रचलित हैं। विवाह के लिए वीवाह, बीवाह, ब्याव, बीहा, ब्याव आदि का प्रयोग होता रहा है किन्तु आधुनिक राजस्थानी गद्य में शब्द गत एक रूपता आ रही है। अतः यह अनेक रूपता समाप्त होती जा रही है। प्राचीन राजस्थानी गद्य में अपेक्षाकृत तत्सम शब्दों का प्रतिपादित रूप में अधिक प्रयोग होता रहा है। प्राकृत, अपभ्रंश अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग भी प्रभाव के कारण आवश्यकता से अधिक ही होता था तथा देशज शब्दों का प्रयोग कम होता था। आधुनिक राजस्थानी गद्य में विदेशी भाषाओं का प्रभाव बहुत कम हो गया है। विदेशी भाषाओं के केवल वे शब्द ही प्रचलित हैं जिन्हें राजस्थानी ने सरलता से ग्रहण कर लिया है तथा जनसाधारण जिनका दैनिक व्यवहार में प्रयोग करता है। आज राजस्थानी गद्य शैली इस प्रभाव से मुक्त होकर अपना निजी रूप ग्रहण कर रही है। प्राचीन राजस्थानी भाषा-शैली के सम्बन्ध में एक मत यह भी प्रकट किया जा रहा है कि वह स्टेन्डर्ड भाषा के रूप में प्रचलित नहीं थी; इसी कारण गद्य में एक रूपता के स्थान पर अनेक रूपता है। आधुनिक राजस्थानी

भाषा-शैली इस आरोप से मुक्त है। साहित्यिक क्षेत्र में भाषा का एक ही रूप प्रच- है किन्तु स्थानीय शब्दावली का प्रभाव अवश्य प्रतीत होता है।

पुरानी राजस्थानी गद्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों एवं समासों का वर्तमान की अपेक्षा अधिक प्रयोग होता था। वर्णनात्मक स्थलों में आनुप्रासिक शब्दावली एवं उपमाओं का राजस्थानी बातों में अधिक प्रयोग होता था किन्तु आधुनिक गद्य में इनका प्रयोग उचित अनुपात में ही होता है। प्राचीन राजस्थानी गद्य में आलंकारिक शैली के अतिरिक्त पद्यात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया जाता था, कहीं कहीं गद्य में भी वयण सगाई अलंकार का प्रयोग मिलता है। कलात्मक गद्य (वचनिक दवावैत, सिलोका, वर्णक ग्रन्थ, बात आदि) में इनका अधिक प्रयोग होता था, यथा—

वर्णनात्मक शैली

"महा पिशुनउ, आलउ आव्यो उन्हालउ। लूय वाजइ, कान पापड़ि दाझइ। झाझुआं वलइ, हिमाचलना शिखर गलई, निवांणे खुटइ नीर, पाहिरइ आछो चीर।'[1]
तथा—

'बड़ा एक पातिस्याह। जिसका नाम सबल स्याह। गढ मांडव थांणा। जिसकै साहिजादा दाना। मौजै दरियाव तीर। जिसकै सहर मे वसै दान समंद फकीर। जिसकी औरत का नाम मौजूम खातू। सदा वरत का नेम चलातू। जो ही फकीर आवै। तिसकु खांणा खुलावै। एक रोज एक दीवान फकीर आया। दाबल दांन घरां न पाया।'[2] इसी प्रकार पद्यानुकारी गद्य शैली में रचित प्राचीन राजस्थानी गद्य में अनेक रचनाएं हैं जिनमें वचनिकाएं, वार्ताएं एवं बातें प्रमुख हैं। तुकान्त गद्य के अन्य उद्धरणों के लिए विशिष्ट ग्रंथ के रूप में 'पृथ्वीचन्द चरित्र' अपर नाम 'वाग्विलास' (माणक्य सुन्दर सूरि कृत) लिया जा सकता है जिसकी पद्य शैली ललित, संजीव एवं कथात्मक है। गद्य को पढ़ते समय काव्य का सा आनन्द आता है। प्राचीन गद्य में कहीं कहीं पद्य का प्रयोग भी मिलता है। उस समय की साहित्यिक भाषा एवं बोलचाल की भाषा में पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है किन्तु आज ऐसी स्थिति नहीं है। जो कुछ बोला जाता है उसी रीति से ही लिखा जाता है। आधुनिक राजस्थानी गद्य में प्राचीन परम्परागत शैलियों के दर्शन होते हैं। आज राजस्थानी गद्य शैली का झुकाव अतुकान्तता की ओर है। विधागत शैलियों के अन्तर्गत समस्त कलात्मक शैलियों का प्रचलन आज नहीं होता। प्राचीन राजस्थानी गद्य में विद्वानों ने जातीय शैलियां भी स्वीकार की हैं, जैसे-जैन शैली और जैनेतर शैली आदि। जैन शैली की परम्परा जैन धर्म तक सीमित रही जबकि जैनेतर लेखकों

1. हस्तलिखित वर्णन प्रधान रचना—अपूर्ण 'मुरकलानुप्रास' 16वीं शताब्दी पूर्व।
2. ह. लि. जैन भण्डार, जैसलमेर कुतबदीन साहिजादैरी वारता।

ने विविध विषयक साहित्य लिखा। वैसे यह वर्गीकरण स्थूल दृष्टि से किया गया है क्योंकि इसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है। इतना अवश्य है कि जैन शैली के अन्तर्गत रचित साहित्य में संस्कृत की विभक्तियों का प्रयोग अधिक होता था तथा अपभ्रंश का प्रभाव भी था जबकि जैनेतर शैली की भाषा में देशज शब्दों का ही अधिकतर प्रयोग होता था। धार्मिक साहित्य इस परम्परा में बहुत बाद में लिखा गया था। आधुनिक राजस्थानी में जातीय आधार पर कोई शैली प्रचलित नहीं है। जातीय प्रभाव से भाषा साहित्य का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। अभिव्यक्ति-मूलक विशिष्टता के आधार पर आज कोई भी साहित्यिक जातीय परम्परा नहीं है।

प्राचीन एवं आधुनिक गद्य शैली मे एक स्थूल अन्तर यह भी है कि प्राचीन राजस्थानी की तरह आज गद्य शैली में पुनरावृत्तियों, घटनाबाहुल्य, अलौकिक तत्वों एवं कल्पना की ऊंची उड़ान को कोई महत्त्व नही दिया जाता। इन विशेषताओ के कारण प्राचीन गद्य बोझिल सा प्रतीत होता था। परिणामस्वरूप प्राचीन गद्य शैली मे जीवन के अन्तस्तल को स्पर्श करने की क्षमता नही होती थी। पाठक सदैव नवीनता का इच्छुक रहता है, अतः साहित्य की शैली मे अभिव्यक्ति मूलक नवीनता एवं मौलिकता होनी ही चाहिए। परम्परागत रूढ़ि व्यवस्थाएं जीवन को नवीनता नही दे सकती, इस दृष्टि से उनका आज साहित्य में प्रचलन हट रहा है। प्राचीन राजस्थानी गद्य-शैली मे मनोरंजन की शक्ति एवं रस की अधिकता अवश्य रहती थी किन्तु संवेदनशीलता का उसमे पूर्ण अभाव था। बाह्य दृश्यों के चित्रण मे ये शैलियां उपयुक्त सिद्ध हो सकती हैं किन्तु आन्तरिकता के लिए वे शून्य है क्योंकि उनमें सामाजिक पक्ष नदारद है, व्यक्ति है किन्तु वह सामान्य न होकर विशिष्ट वर्ग के प्रतिनिधि के रूप मे है।

प्राचीन गद्य शैलियों मे शताब्दियों का इतिवृत ठूंसकर भर दिया जाता था। वैचित्र्यता एव अलौकिकता का इस तरह चित्रण किया जाता था कि यथार्थ दब जाता था। उदाहरण के लिए 'खींची गंगेव नीबावत रो-दो पहरो, राजान राउत-रो वात वणाव एवं चौबोली' की बातों को लिया जा सकता है जिनमें कल्पना एवं चमत्कारिक दृश्यों की सृष्टि की गई है। अधिकांश राजस्थानी बातों मे यह तत्व मिलता है। चूंकि विषय-वस्तु प्रत्यक्ष रूप से शैली को प्रभावित करती है, अतः प्राचीन गद्य शैली में कल्पना की ऊंची उड़ान का होना भी स्वाभाविक है। आज की गद्य शैली इन अलौकिक तत्वों से पूर्णतया मुक्त है। प्राचीन राजस्थानी गद्य में वर्ण-नात्मक शैलीमात्र निश्चित परम्पराओं पर ही आधारित थी। व्यक्ति चित्रण एवं वातावरण के सूक्ष्म विवेचन का पूर्ण अभाव रहता था किन्तु आधुनिक शैली इन परम्पराओं से मुक्त होकर मनोवैज्ञानिक यथार्थ की भावभूमि की ओर बढ रही है। उसमें कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान नहीं अपितु जीवन का स्पष्ट चित्र है। आधुनिक शैलियों के द्वारा गद्य को अब नये नये रूपो एवं नवीन शिल्पगत विशिष्टताओं में आवटित किया जा रहा है। शिल्प की दृष्टि से भी परिवर्तन आ रहा है तथा विक-

सित भाषाओं के साहित्य में प्रचलित नवीनतम विधाओं का भी राजस्थानी गद्य में प्रयोग होने लगा है। भाषा के अन्तर्गत अधिकांश पदों, विभक्तियों एवं क्रिया रूपों में एक रूपता आ रही है। इतना अवश्य है कि आधुनिक राजस्थानी में मारवाड़ी का अधिक प्रभाव बढ़ रहा है जो मात्र समर्थकता एव परिनिष्ठित रूप का द्योतक है।

राजस्थान की प्राचीन और आधुनिक शैलियों का उल्लेख करने के पश्चात् हिन्दी के अनुरूप जो शैलियां राजस्थानी गद्य में प्रचलित हैं, उनका विवेचन करना भी इस विषय का एक आवश्यक अंग है। विश्व का सम्पूर्ण साहित्य आज एक दूसरे के इतना निकट आ गया है कि संसार के किसी भी कोने के साहित्य में यदि कोई परिवर्तन होता है तो वह तुरन्त सम्पूर्ण साहित्य को प्रभावित करता है। इस निकटता का परिणाम यह हुआ कि साहित्यकारों को एक दूसरे के निकट आने का अवसर मिला जिसके परिणामस्वरूप विषय एवं शिल्प की दृष्टि से साहित्य में एक रूपता उत्पन्न होने लगी। अतः यहां उन विशिष्ट शैलियों पर प्रकाश डाला जा रहा है जो आधुनिक गद्य साहित्य में प्रचलित हैं।

हिन्दी गद्य शैलियों के अनुरूप राजस्थानी गद्य शैलियां :

राजस्थानी गद्य साहित्य में शैलियों के विभिन्न रूप तो प्रारम्भ से ही मिलते हैं किन्तु उनकी स्थिति मात्र परम्परागत ही रही है। राजस्थानी के साहित्यकारों का सम्पर्क अन्य भाषाओं के नवीन साहित्य से हुआ जिसका स्पष्ट प्रभाव राजस्थानी गद्य के शिल्प विधान पर भी पड़ा। परिणामस्वरूप उसने परम्परा को त्याग कर नवीनता को ग्रहण किया। भाषा-शैली की दृष्टि से आज राजस्थानी गद्य पूर्णतया आधुनिक विशिष्टताओं से युक्त होता जा रहा है। हिन्दी गद्य के अनुसार नयी नयी विधाओं को स्वीकार कर रहा है। सामन्ती स्वार्थ की परिधि से निकलकर आज का राजस्थानी साहित्यकार साहित्य के मूल एवं जनसामान्य मे मिल रहा है। प्रतिभा के समस्त स्रोत खुलते जा रहे हैं एवं आदान प्रदान की सम्भावनाएं उभरती जा रही हैं। गद्य लेखन की दिशा में राजस्थानी का गद्यकार उन सब शैलियों के प्रति आकृष्ट हो रहा है जो आधुनिक गद्य साहित्य में प्रचलित हैं। आधुनिक राजस्थानी भाषा की साहित्यिक शैली के सम्बन्ध मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि साहित्यिकता का गुण सम्पूर्णता के साथ प्रकट नहीं हो रहा है। राजस्थानी का अपना विशाल शब्द भंडार है। अत: राजस्थान के वातावरण को ध्यान में रखते हुए जहां तक सम्भव हो सके ऐसे शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए जिससे रचना मे भाषा की स्वतन्त्र सत्ता प्रकट हो सके। भाषा-साहित्य में सहजता, चित्रात्मकता एव अभिव्यंजकता भरने के लिए उसके अपने ही शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिससे शैली हृदय की सच्ची अनुकृति बन सके। पाश्चात्य साहित्य के अनुवाद के प्रभाव एव हिन्दी के निकटतम सम्पर्क के कारण आज राजस्थानी गद्य में जिन शैलियों का प्रचलन है उनका पृथक् विवरण किया जा रहा है।

1. विवेचनात्मक गद्य शैली :

किसी विषय के सम्बन्ध में गहन चिन्तन प्रस्तुत करना इस शैली का मूल धर्म है। मूलतः निबन्ध साहित्य में इस शैली का विशेष उपयोग किया जाता है। लेखक अपने विचारों की विवेचना चिन्तन एवं मनन के पश्चात् करता है। यह आवश्यक नहीं कि यह शैली पांडित्यपूर्ण निबन्धों में ही प्रादुर्भूत होती है, अपितु सामान्य विषय की सूक्ष्मताओं को भी लेखक प्रयुक्त शब्दों के बल पर प्रकट कर सकता है। वाक्य रचना की दृष्टि से छोटे-छोटे, सार्थक वाक्य इस शैली में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अलंकार योजना, लोकोक्तियाँ, कहावतें एवं मुहावरे इस शैली के अनिवार्य तत्त्व न होकर मात्र सौन्दर्य वृद्धि के साधन हैं। डा. रामकुमार वर्मा का विचार है कि "विवेचनात्मक शैली मे वस्तु स्थिति के सभी पार्श्वों पर प्रकाश डालते हुए गुण दोषों की परीक्षा होती है और उलझी हुई समस्याओं का हल प्रस्तुत किया जाता है। दार्शनिक विषयों की मीमांसा अथवा साहित्य की परंपरा एवं उसके प्रयोगों की उपादेयता इसी के द्वारा निश्चित की जाती है। साहित्य, दर्शन शास्त्र, राजनीति आदि अनेकानेक विषय अपनी ऐतिहासिक, तुलनात्मक अथवा स्वच्छंद विकासोन्मुखता मे रूप निर्धारण करते हैं। किसी भी विषय की सापेक्ष या निरपेक्ष स्थिति के सम्बन्ध मे निष्कर्ष इसी शैली द्वारा प्रस्तुत किये जा सकते हैं।"[1] विवेचनात्मक शैली की एक विशेषता यह कही जा सकती है कि यह गद्य की अभिव्यक्ति का विकसित रूप है। हिन्दी गद्य साहित्य मे इस शैली का विकास चिंतन के क्षेत्र अर्थात् निबन्ध साहित्य के माध्यम से हुआ। राजा शिवप्रसाद के गद्य में इस शैली का प्रारम्भिक विकसित रूप मिलता है। पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी, डा. श्याम सुन्दर दास एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के गवेषणात्मक लेखो में इस शैली का प्रयोग अधिक मिलता है। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की विवेचनात्मक शैली में गहनता, गांभीर्य और कलात्मक सौन्दर्य का विकास नही हो पाया था, किन्तु शैली गत विकास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। डा. श्याम सुन्दर दास ने गम्भीर विषयों को सहज रूप से स्पष्ट करने के लिए इस शैली का उपयोग किया है जिसका परिणाम यह हुआ कि क्लिष्ट विषय भी इस शैली के बल पर सहज अभिव्यक्ति पा सके हैं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल भाषा को मात्र अभिव्यक्ति का माध्यम ही मानते थे। उन्होंने अपने गद्य साहित्य मे अनेक प्रकार की शैलियो का प्रयोग किया है किन्तु विवेचनात्मक शैली सर्वत्र विद्यमान है।

"प्रिय का चिन्तन हम आंख मूंदे हुए, संसार को भुलाकर करते हैं, पर श्रद्धेय का चिन्तन हम आंख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम मे केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा मे

1. डा. रामकुमार वर्मा, साहित्य शास्त्र, पृ. 133।

तीन । प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है । प्रेमी और प्रिय के बीच कोई वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए ।"[1]

शुक्ल जी की विवेचनात्मक शैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता थी–अभिव्यक्ति में मूर्ति विधायिनि शक्ति । सहज अभिव्यक्ति के बल पर वे पाठकों के सामने बिंब विधान एवं लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग से एक चित्र सा उपस्थित करने में सफल होते थे । समासांत पदावली का उपयोग वे मात्र विषयानुसार ही करते थे ।

राजस्थानी गद्य में इस शैली का प्रयोग बहुत विलम्ब से प्रारम्भ हुआ क्योंकि राजस्थानी गद्य मे परम्परागत विधाएं (ख्यात, वात, वचनिका) ही प्रचलित रहीं; निबन्ध साहित्य का विकास बहुत विलम्ब से हुआ । हां, परम्परागत विधाओं म कहीं कहीं वस्तुस्थिति के चित्रण में इस आधुनिक शैली का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु स्पष्ट नहीं कहा जा सकता । आधुनिक राजस्थानी गद्यकारों में रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, श्री लाल नथमल जोशी, रावत सारस्वत, डा. मनोहर शर्मा, मूलचन्द 'प्राणेश' आदि ने अपने राजस्थानी निबन्धों के अन्तर्गत विवेचनात्मक शैली का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ—

'मोत ! दो आखर, पण कित्ती डरावणी अरथ । सुण्यां अर बोल्यां रू कांपै । जे कोई जोतसी जलम-पत्री अथवा हस्त-रेखा देखर मोत री तिथ अथवा बरस ई बताय देवै, तो अन्न-पाणी छूट जावै, काम-काज तो छूटै जिका छूटै ई । धन्य हो राजा परीक्षित जिकै मोत री ठा पड़िया शुकदेवजी कनै दत्तचित्त हुयनै भगवान रो पावन चरित सुण्यो अर आप रो परलोक सुधारियो । नातर मोत री ठा पड़ियां पछै चित्त री एकाग्रता खतम हुय जावै, काल जो गिरै जोड़ दे, माथो अथवा मगज काम करणो बंद कर देवै, अर अकथारथ सांसां री धूंकणी चालै ।'[2] (निबन्ध-मोत)

जोशी जी की भाषा-शैली मे मूर्ति विधायिनी शक्ति है । प्रस्तुत निबन्ध मे सर्वत्र विवेचनात्मक शैली के अन्तर्गत छोटे छोटे छोटे वाक्यों के बल पर विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । संस्कृत के प्रचलित शब्दों का कहीं कहीं प्रयोग शैली को गरिमा प्रदान करने मे उपयोगी सिद्ध हुआ है किन्तु आधुनिकता के नाम पर 'अथवा' जैसे शब्दों के प्रयोग से शैली मे स्वाभाविकता में कमी अवश्य उत्पन्न हुई है ।

रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत के विविध विषयक निबन्धो मे इस शैली का सर्वत्र प्रयोग हुआ है । यथा—

'आपणी मायड़ भासा आपां ने हेला मार केयरी है, 'बेटा, थां आगे बध रिया हो जिण री म्हनें घणी खुसी है । पण एक बात सुणता जावो । थां राजस्थान

1. पं. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि, पृ. 18–19 ।
2. श्री लाल नथमल जोशी, मरुवाणी, वर्ष, 7, अंक 2, पृ 22 ।

रो निर्माण करवा जाय रिया हो, यां घर घर जोत जगावण ने उठिया हो, यां गांव गांव मे घानणो करवा ने जायरिया हो, यांने सूत्योड़ा ने जगावणा है, जागियोड़ा ने ऊठा करणा है, उठियोड़ा ने कमर कस ऊमा करणा है, कमर कस्योड़ा ने काम मार्थ लगाय देणा है। यां ने जनता जनार्दन रै बीचै वास करणो है, जन जन रा मन मे ऊंडो धंस नै बैठणो है। यांने वां रा विचारा में नवी तरंगा उठावणी है, मन मे नवी उमंगा लावणी है, भूलियोड़ा म्राच्छा दिन याद देवाणां है, बीत्योणी म्राजस भरी बातां याद करांणी रै, खोस्योड़ी मान मरजाद पाछी जमावणी है, थाक्योड़ा हाथ में नवी ताकत देवणी रै, झुक्योडी कमरां ने सूधी कर कसावणी है। यां री मुजा माथै मोटी भार है।'[1]

उचित शब्द-चयन म्रोर वाक्य विन्यास के द्वारा प्रस्तुत निबन्ध में रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत ने विवेचनात्मक शैली के द्वारा विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जिनमे उनके चिन्तन की गम्भीरता सर्वत्र झलकती है। मेवाड़ी फागण'[2] 'राजस्थानी भाषा' म्रापणो कर्त्तव्य[3] म्रादि निबन्धों में भी इस शैली का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। 'जलम भोम' पत्रिका के विभिन्न म्रंकों के सम्पादकीय में श्री मूलचन्द 'प्राणेश' ने सर्वत्र इस शैली का प्रयोग किया है।

राजस्थानी गद्य के विकास में निबन्ध साहित्य की रचना को नवीनतम प्रयास म्रवश्य कहा जा सकता है किन्तु शैलीगत विविधता उसके प्रत्येक चरण मे मिलती है। शिक्षा विषयक समस्याम्रो की विवेचना करने मे श्री शक्तिदान कवियों ने भी विवेचनात्मक शैली का व्यापक रूप में प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

'सिक्षा रै साथ मातभासा रो मूंघो मेल रै, इण बात न संसार रा म्रनेक विद्वानां मानी है। सिक्षा म्रापणे म्रापमे एक म्राभूषण है नै मातभासा रो संयोग उण मे म्रणमोल नगां रो जड़ाव है, जिण सूं धारण करण वालै री घणी सोभा बधै। किणी री प्रांत या देसरी भासा जे भणी फली फूली, बोहलै परवार री, मीठी, म्रोस्वी नै लज्जतदार है तो उणरी जड़ा मे मातभासा रै सिक्षण रा संस्कार है। टाबर जिण तरै आपरी मा रो दूध चूंगतो उण रै म्रन्तस रा भाव घणें कोड सूं ग्रहण करै नै उण री म्राज्ञा सब सूं पैली मानै है, उणी तरै विद्यार्थी बालक छोटी-मोटी बातां री जाण कारी सुरू मैं म्रापरी मातभासा मैं चावे।'[4]

मातृ भाषा की उपयोगिता को लेखक ने विवेचनात्मक तथा व्याख्यात्मक शैली मे लौकिक सत्य से सम्बन्धित उद्धरणों का प्रसंग देते हुए स्पष्ट किया है। 'सिक्षा

1. राणी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, 'राजस्थानी रो महत्त्व', वरदा, वर्ष 3, म्रंक 4, पृ. 64।
2. राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ. 56–62।
3. म्राचार्य राधेश्याम मिश्र म्रभिनन्दन ग्रंथ।
4. 'मात भासा मैं सिक्षा भर राजस्थानी'—राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ. 19।

आपणै आपमे एक आभूषण है नैं मातभासा रो संजोग उण मे अणमोल नगां रो जड़ाव है, जिण सूं धारण करण वाळे री घणी सोभा वधै।" वाक्य मे कितना काव्यात्मक एवं भावनात्मक सौन्दर्य है। अलंकृत ढंग से लेखक ने सत्य का उद्घाटन किया है। शैली इतनी सहज, स्पष्ट एवं बोधगम्य है कि लेखक के प्रत्येक विचार को पाठक की भावना के साथ जोड़ती हुई चलती है। इसके अतिरिक्त इसमे एक धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है। भाषा बोलचाल की किन्तु प्रांजल और बोधगम्य, वाक्य साधारण विचार से कुछ बड़े किन्तु गठन मे सीधे सादे; भाव व्यंजना विशद् किन्तु सरल एवं बलशाली है।

निबन्ध साहित्य के अन्तर्गत ही श्रीलाल नथमल जोसी (सच बोल्यां किया पार पड़ै), श्री सुमेर सिंह सेखावत (राजस्थान अर उण रो जीवण दरसण) एवं डा. गोवर्द्धन शर्मा ने 'साहित अर उण रा भेद' विषय के प्रतिपादन में विवेचनात्मक गद्य शैली का प्रयोग किया है। गंभीर बातों पर लिखते समय बड़े अभ्यस्त लेखक को भी शाब्दिक सारल्य से हाथ धोना पड़ता है और उसे भावों की अभिव्यक्ति के नये प्रयोग करने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ—

"लोग साहित नैं कवै—"ओ 'सत्य', 'शिवं', 'सुन्दरं' है।" इणरो कांई अरथ ? इणरी कांई विगत ? आ घणी जरूरी बात है। कांई मे सैंग बातां साची हुवै ? कांई उणमे लिखियोड़ो हुवै के रामूड़ै रै खेत में कित्ती नेपा हुई ? साहित कांई सदैई जैड़ी देखै, बैड़ी ईज कवै ? पछै उण मे कल्पना क्यां ? यै सैंग सवाल जचै तो है। साहित सदैई सांची बात कवै। इण मे कोई मीन न मेख। पण ओ सांच नये ढंग रो है। साहित नी बतावै के समूड़ै रै अबरकै कित्ती नेपा हुई, पण वो ओ बतावै के रामूड़ै नैं घणी नेपा देखने घणो हरख हुयो। साहित मिनख स्वभाव री सचाई बतावै। मिनखां रो रग ढंग बदळै पण सुभाव नही बदळै। जदै ईज तो विलायत रा नाटककार शेक्सपियर रा नाटक जुगां सूं रसिकां नैं सुहावै। कालीदास री कविता चोखी लागै अर चेखव री कां णियां मन मे मोद जगावै।"

लेखक ने विषय को स्पष्ट करने के लिए खंडन, मंडन, प्रश्नोत्तर शैली एवं सैद्धान्तिक विवेचन का प्रयोग किया है। साहित्यिक स्तर के विषय का प्रणयन बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से किया है। वाक्य विन्यास आकर्षक है एवं शब्दावली अनुप्रासयुक्त, सरल और विशिष्टतापूर्ण है। निबन्धों के अतिरिक्त कथा साहित्य में भी श्री नानूराम संस्कर्ता, सौभाग्य सिंह शेखावत एवं किशोर कल्पना कान्त की आधुनिक शैली मे रचित कहानियों में स्थल-स्थल पर दार्शनिक तत्त्वों की विवेचना में इस शैली का प्रयोग हुआ है।

2. विवरणात्मक गद्य-शैली :

अधिकतर कथात्मक गद्य साहित्य में इस शैली का प्रयोग किया जाता है। कथा साहित्य मे जब कथावस्तु घटनाओं के सहारे आगे बढ़ती है तो स्वतः इस शैली.

का विकास हो जाता है। प्रायः घटनाओं या विभिन्न तथ्यों के विवरण मे इस शैली का प्रयोग होता है। हिन्दी गद्य में इस शैली का प्रयोग तो कथात्मक गद्य के अन्तर्गत गद्य के विकास के साथ ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु परिनिष्ठित स्वरूप किशोरी लाल गोस्वामी, देवकी नन्दन खत्री एवं प्रेमचन्द के कथा साहित्य से ही प्रकट हुआ। प्रेमचन्द जी की प्रारम्भिक कहानियो में भी इस शैली का प्रयोग हुआ है। प्रेमचन्द जी के पश्चात् इस शैली को आगे बढाने का कार्य मुख्य रूप से जैनेन्द्र कुमार एवं यशपाल ने किया। प्रसाद जी के कथा साहित्य में भी इस शैली के कही-कही दर्शन होते हैं किन्तु उस पर संस्कृतनिष्ठ अलंकृत एवं भावप्रवण भाषा का विशेष प्रभाव है। प्रसाद की शैली को विकसित करने में 'अज्ञेय' और 'रेणु' ने विशेष योग दिया।

3. कथात्मक गद्य की विवरणात्मक शैली :

"समुद्र का कोलाहल कुछ सुनने नही देता था। संध्या धीरे-धीरे विस्तृत नील जल राशि पर उतर रही थी। तरंगों पर तरंगें बिखर कर चूर हो रही थीं। सुजाता बालुका की शीतल वेदी पर बैठी हुई अपलक आंखों से उस क्षणिकता का अनुभव कर रही थी; किन्तु नीलाम्बुधि का महान् संभार किसी वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा था। सत्ता की सम्पूर्णता धुंधली संध्या मे मूर्तिमान हो रही थी।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर प्रकट होता है कि प्रसाद जी ने संस्कृतनिष्ठ अलंकृत शब्दावली का प्रयोग करके अपने कथा साहित्य में भाव प्रवण विवरणात्मक शैली को विशेष स्थान दिया था। प्रकृति के मोहक वातावरण से अनुप्राणित इनकी कहानिया वस्तुतः भाषा-शैली के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं।

राजस्थानी साहित्य मे कथात्मक गद्य साहित्य का प्रणयन हिन्दी से बहुत पहले ही हुआ था। परिणामतः इस शैली का स्वरूप राजस्थानी गद्य के प्रारम्भिक विकास को लेकर आधुनिक साहित्य तक मे मिलता है। ख्यातों एवं वातों मे वर्णित घटनाओं के यथा तथ्य चित्रण मे इस शैली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। "भाषा-शैली की उपादेयता उसकी अभिव्यक्ति की सार्थकता एवं सार्यकता पर निर्भर करती है- इस तथ्य के व्यावहारिक रूप का पालन राजस्थानी कथा साहित्य मे बराबर हुआ है। विवरणात्मक शैली के कारण गद्य मे धारा-प्रवाह का गुण उत्पन्न होता है जो राजस्थानी कथा साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है, यथा—

"खैंखाड बाजै। बिरखा—रो जावक डोल नही। लोग आख्यां फाडियां आभैं सामो जोवै। च्यार मिनख भेला हुवै जठै आई बात कै फलाणी जागां सौ डांगर मरग्या तो फलाणी जागां दोय सौ। मै-सो छायोड़ो। सगला-रा मूंडा लुक्खा लागै। घास इत्तो मूंघो के लोग घापेर सीदावै। डागरा सारू जागां-जागां घास रो बंदोबस्त हुवै। दिन मे धणी-ई बालूं पण सिज्या पड़ी पाछो सागी खैंखाड़।"[2]

---

1. कहानी-'देवरथ'-जयशंकर प्रसाद।
2. मुरलीधर व्यास, बरस गांठ, पृ 6।

थोड़े से शब्दो तथा सरल वाक्यो से अर्थ की गहराई को बढ़ाने का प्रयास किया गया है। शैली मे चित्रात्मकता का गुण है। थोडे मे बहुत कहने की कला का भाषा की व्यजना-शक्ति का यह सुन्दर उदाहरण है। राजस्थानी के आधुनिक कथा-कारों के कथा साहित्य मे इस शैली का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। राजस्थानी वातो मे एक शैलीगत विशेषता यह भी है कि इनका प्रारम्भ सामान्यतया विवरणात्मक शैली से ही होता है, यथा—

"रेत रा टीबा बल रह्या। ऊनी-ऊनी लू असी चाल री जो कानां रा केसां ने बालती निसर जावै। नीचै धरती तप री, ऊंचो आकास बल रीयो। खेजड़ा री छाया में बैठीयो सोढा जवान भीतर सूं दोनूं कानी दाझ रीयो। बाहरा रा ताप सूं विसेस हिया मे सलगती होली री झाला झल रही। दुपेरी रा सूरज री सूधी मूडा साम्ही। किरणां आस्या में गवोडा पाड री पण वीनें ई री सुध लाग री। आज वी रै हुवण वाला सासरा सूं सुसरा रो सनेसो ले आदमी आयो के परणणो हुवै तो पनरा सौ रिपिया तीन दिना में आय गिणाय जावो, नी तो आखा तीज ने थारी मांगरी दूजा रै सागै वियाव कर दांला।"[1]

पुनरुक्त शब्दों के उचित प्रयोग से उद्भूत श्रुतिमाधुर्य और मुहावरो का प्रयोग निश्चय ही श्लाघनीय है। राजस्थानी की विवरणात्मक गद्य शैली का एक अन्य रूप संस्कृत के तत्सम शब्दो से युक्त, अलकृत तथा भावात्मक शैली में भी देखा जा सकता है। रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, श्री नानू राम संस्कर्ता एवं डा. मनोहर शर्मा की वातो मे इस रूप के दर्शन स्थल स्थल पर होते हैं। 'दूध गिलोड़ो'[2] श्री नानूराम संस्कर्ता, 'हिये तणो उपाव'[3] श्री मूर्य शकर पारीक तथा 'भाड़ेती'–[4] श्री लाल नथमल जोशी की वातों में विवरणात्मक शैली का सफल निर्वाह हुआ है। विवरणात्मक शैली की योजना मात्र विवरण प्रस्तुत करने के लिए ही नही होती, अपितु निवन्ध साहित्य मे यथार्थ को साकार करने के लिए भी उसका प्रयोग किया जा सकता है, जैसे—

"गीगो जलम्यो है, या खबर सुणतां ही सारै घर मे आनंद की लहर फैल ज्यावै अर लोगां का मूंडा चिमकण लागै। घर में ही नहू, थाल की टणकार सुणतां ही वास गली मे भी लोग राजी होवै,..........घर में भांति भांति की त्यारियां होवण लागै। कमीण कारू नेग लेवे, चार मायला गोठ करावै अर मैण भूया गहणां पावै।"[5]
(लोक यात्रा-निवन्ध)

1. रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, कहानी–'रजपूताणी'।
2. संकलित–'राजस्थान के कहानीकार'।
3. वही।
4. वही।
5. डा. मनोहर शर्मा, राजस्थानी निवन्ध संग्रह, पृ. 9।

तथा—

कथा साहित्य के सन्दर्भ से—

"जवाई जीमें है, लुगायां गीत गावें है घर टावर टीकर उछलता कूदता किलोल करें है। सेठां री हेली म्राज रंग लाग रियो है। नूंतां पातला मूखा है जिका जिमणं चावे रे घर जोम्योड़ा नें पान सुपारी भावें है। नाई सेवग भूखा तिसा भाज्या फिरें है, हालो बालदी न्हाया धोया काम करें है। सेठजी आफसरां रें पांतिये रो परबंध करना थका म्रापरें बड़ोड़ें बेटे नें पूछे है।"[1]

विवरण में कथात्मक तत्त्व होने के कारण चित्रात्मक शैली स्वतः प्रादुर्भूत हुई है। शब्दों में लयात्मक सौन्दर्य एवं अनुप्रासिकता का गुण है। भाषा ठेठ मारवाड़ी है जिसमें देशज शब्दों का ही प्रयोग मिलता है। बोलचाल के शब्दों में मुहावरों की सी शक्ति भरी हुई है। विवरणात्मक शैली ही साहित्य का सर्वस्व नहीं है, अपितु वह भावों की सबसे सरल अभिव्यक्ति है एवं इसी दृष्टि से इसका उपयोग होता है। राजस्थानी गद्य साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर आधुनिकतम विधाओं तक में इस शैली का रूप मिलता है।

4. वर्णनात्मक गद्य शैली :

गभीर चिन्तन से हटकर लेखक कथात्मक गद्य में सरल और सहज शैली के बल पर अपनी भावुकता को प्रकट करना चाहता है तथा विषय-विशेष स्थिति विशेष या घटना-विशेष का जब परिचय प्रस्तुत करता है तो वर्णनात्मक शैली स्वतः प्रादुर्भूत होती है। सृजना के क्षणों में लेखक पूर्णतः भावुक ही रहता है अतः कभी कभी जीवन के शाश्वत सौन्दर्य का चित्रण वह कल्पना के बल पर कलात्मक ढंग से भी करता है। कथा साहित्य के अतिरिक्त सामान्य वर्णनात्मक निबन्धों में भी इस शैली का प्रयोग होता है। बोलचाल की शब्दावली, मुहावरे, कहावतें, लोकोक्तियों का उचित प्रयोग तथा पात्रानुकूल भाषा आदि इस शैली के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं। सहज रूप में साधारण लेखकों द्वारा कथा साहित्य में इस शैली का प्रयोग प्रारम्भ से आधुनिक गद्य तक में होता आ रहा है। कथा साहित्य में इसके प्रयोग के कारण इसे कथात्मक शैली की संज्ञा भी दी जा सकती है। डा. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का मत है कि "विभिन्न पदार्थों एवं स्थूल दृश्यों के वर्णन में प्रायः इस शैली का प्रयोग होता है। इसमें विभिन्न पदार्थों का उल्लेख एवं परिचय मात्र प्रस्तुत होता है।"[2]

वर्णनात्मक शैली सहज अभिव्यक्ति का साधन है। गद्य काव्य की कतिपय रचनाएं भी इस शैली में चित्रित की जाती हैं। प्रत्येक शैलीकार इसका प्रयोग करता है। अतः इसका क्षेत्र व्यापक है। राजस्थानी गद्य मे जहां विवेचनात्मक शैली का विकास हिन्दी गद्य के पश्चात् हुआ वहां वर्णनात्मक शैली का प्रारम्भ हिन्दी गद्य से

1. (जल पान) 'रहोयो' कहानी श्री नानू राम संस्कर्ता. पृ 27।
2. डा. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', हिन्दी गद्य काव्य, प्रथम संस्करण।

पूर्व हुआ था इस शैली का रूप राजस्थानी भाषा की प्रत्येक प्राचीन विधा में मिलता है जबकि हिन्दी गद्य में इस शैली का परिनिष्ठित रूप हरिश्चन्द्र युग के उपरान्त ही मिलता है। इस युग के लेखकों में श्री निवासदास, ठा. जगमोहन सिंह, देवकी नन्दन खत्री एवं किशोरीलाल गोस्वामी के गद्य में इस शैली का प्रयोग हुआ। हिन्दी के कथात्मक गद्य में वर्णनात्मक शैली को विकसित करने में प्रेमचन्द जी ने विशेष योग दिया है। उर्दू की विशेषताओं से युक्त इनकी भाषा-शैली में सजीवता, प्रवाह एवं रोचकता का गुण था। इनके कथात्मक गद्य में शब्द-चित्र उपस्थित करने की क्षमता थी। यथा—

"होरी ने अपने लिए और अंगोछे के कोर बांधे। प्रसन्न मुख आकर दरोगा की ओर चला। सहसा धनिया झपटकर आगे आई और अंगोछी एक झटके के साथ उसके हाथ से छीन ली। गांठ पक्की न थी। झटका पाते ही खुल गई और सारे रु. जमीन पर बिखर गए। नागिन की तरह फुफकार कर बोली""""""होरी खून का घूंट पीकर रह गया। सारा समूह जैसे थर्रा उठा।"[1]

प्रेमचन्द जी की वर्णनात्मक शैली में कहीं-कहीं नाटकीयता का गुण है तथा लक्षणा एवं व्यंजना का भी उसमें प्रयोग किया गया है। भावानुकूल शब्द-चयन उनकी अपनी मौलिकता है। जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, उपेन्द्र नाथ 'अश्क', अमृत लाल नागर एवं मोहन राकेश के कथा-साहित्य में मौलिक विशिष्टताओं से युक्त वर्णनात्मक शैली का चित्रण वातावरण के अनुकूल किया गया है। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में श्री वृन्दावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव आदि की कृतियों में वर्णनात्मक शैली साहित्यिक सजीवता एवं सौन्दर्य को लेकर उपस्थित हुई है। रेखाचित्र विधा की परम्परा में आचार्य चतुरसेन शास्त्री की वर्णनात्मक शैली का रूप 'सोमनाथ' उपन्यास में देखा जा सकता है—

"महालय का अन्तर्कोट कोई बीस हाथ ऊंचा और छै हाथ चौड़ा था। सैनिक आसानी से उस पर खड़े हो सकते थे। अन्तर्कोट के सिंह द्वार के ठीक सामने गणपति का भव्य मन्दिर था। उसी पर नक्कारखाना था। जिसमें पहर-पहर पर चौघड़ियां बजती थी। इस द्वार के दोनों पार्श्वों में दो विशाल दीप स्तम्भ थे, जिन पर संगत राशि का अत्यन्त शोभनीय काम हो रहा था। प्रत्येक स्तम्भ पर प्रतिदिन सहस्त्र दीप जलते थे, जिनका प्रकाश दूर से समुद्र के पथगामी जहाजों को सोमनाथ महालय के ज्योतिर्लिंग की दिशा का भान कराता था। इस विशाल और ऊंचे दीप स्तम्भों के शिखर पर दो विशाल-काय मणि स्थापित थे, जो श्वेत मर्मर के थे। दक्षिण दीप स्तम्भ के सम्मुख चन्द्र कुण्ड था, जिसके विषय में प्रसिद्ध था कि उसमें स्नान करने में सर्वरोग मुक्ति होती है, तथा मनोकामना सिद्ध होती है।"[2]

---

1. प्रेमचन्द- गोदान, पृ. 113।
2. आचार्य चतुरसेन शास्त्री, सोमनाथ, पृ. 17।

सोमनाथ महालय का रेखाचित्र वर्णनात्मक शैली में इतना स्पष्ट प्रंकित किया गया है कि किंचित प्रयत्न मात्र से महालय को काल्पनिक मूर्ति पाठकों के सम्मुख सजग हो उठती है। चित्रात्मकता का गुण विद्यमान है।

वर्णनात्मक शैली राजस्थानी ऐतिहासिक गद्य की सर्वाधिक प्राचीन शैली है। शुद्ध ऐतिहासिक चित्रण से लेकर कलात्मक गद्य साहित्य तक मे इसका महत्व-पूर्ण स्थान है। स्यात, पीढियावली, विगत, वंशावली, वचनिका एवं दफ्तर-वही में भी किसी न किसी रूप मे इसका स्थान है। वैज्ञानिक गद्य, योगशास्त्र, वेदान्त एवं वैद्यक ग्रन्थो के विषय निरूपण मे इस शैली का योगदान रहा है। राजस्थानी बात साहित्य का प्रसाद तो इसके प्रभाव में टिक ही नही सकता।

आधुनिक राजस्थानी गद्य मे इस शैली का प्रयोग पृथक् परम्परागत स्वतन्त्र रूप मे तथा हिन्दी गद्य की शैलियो के अनुरूप किया गया है, यथा—

"अेक थली रो वासी अेकर नैड़ा रा गांव मे श्रायो। उठै ढीमड़ा बेरा री पाट देखनैं वो तो हाक्यो-बाक्यो व्हैगो। थली मे घांन बिचै ई पांणी री कदर वत्ती। धांन उघाड़ो पड़ियो रेवै श्रर पाणी रै ताला लागै। वो अेक ढुढांणा बेरा मार्थ श्रायो तो उणरी श्रकल ई कह्यी को करियो नी। घणण घणण गोल चकारा देतो श्ररट फिरै, पनड़ी रा खड़िद खड़िद नगारा, घड़लियां री श्रछेटी माल खलल् खलल् पाणी खलकावै, घीया लाग्योड़ो चीकणो-चट्ट धोरो, पाणी रलकतो सरणाटै दौड़ै, पोस री महीनो श्रर निवाया पाणी सूं निकल् तो बांफा री श्रजीब ई निजारो।"[1]

प्रस्तुत उद्धरण विजयदान देथा द्वारा संकलित लोककथा (बात) से उद्धृत किया गया है, जो परम्परागत बात-शैली का ही रूप है। अर्थ की गहराई को बढाने के लिए पुनरुक्त समासों का, जैसे हाक्यो-बाक्यो, गोल-चकारा, चीकणो-चट्ट आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। ध्वन्यात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों (पुनरुक्त शब्द) जैसे, घणण-घणण-घणण, खलल्-खलल् आदि का शैली में सर्वत्र प्रयोग हुआ है। शैली मे कारक चिन्हो का लोप करके सामासिकता उत्पन्न की गयी है। जैसे 'घड़लियां री श्रछेड़ी माल् खलल्-खलल् पांणी खलकावै शब्दों में अनुकरणात्मकता के साथ चित्रात्मकता का भी गुण है।

राजस्थानी गद्य-शैली में आलंकारिता भी दृष्टव्य है। कही इसका स्वतन्त्र रूप मिलता है तो कहीं वर्णनात्मक चित्रण में। प्राचीन ख्यातों से लेकर आधुनिक बातों तक मे इसके उदाहरण मिलते हैं। रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत के कथा साहित्य मे तो इसके सर्वत्र दर्शन होते हैं। चित्रात्मकता के गुण के कारण वर्णन सजीव बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ—

"तद काला मेह सुहावणा नै मिनखलोक श्राय श्राटण रो रूप करि श्राई।

1. श्री विजयदान देथा— 'बातां री फुलवाड़ी—
"च्यड़लियां श्ररै थारो बाप", पृष्ठ 67।

तिका काली, डोगी, मोटा दांत, दूबली घणी डरावणी, माथा रा लटा विखरिया, घणां तेल माहे चवती, धवला केस माथै निलाड सिंदूर येथड़ियो थको, लोवड़ी काली कालो धाबलो कांचली तेल माहे ग इकाव थकी, उंधाड़ै माथै कीधां, हाथ माहे त्रिसूल झालियां भाई।"[1]

प्रकृति चित्रण, विशिष्ट स्थल के चित्रण, एवं युद्ध के सजीव चित्रण में इस शैली का विशेष महत्त्व है, उदाहरणार्थ—

"तठै वडो सरोवर भरयो छै, हिलोड़ा लेवै छै। तठै घणा सारस मोर चौकोर चतकां भाड बुगला झिल रह्‌या छै। पंखी सारा ही कीलोल् कर रह्या छै। सैर रा लोक सगल्ई सीनानं-संपाटा करै छै। पिणहारिया झूलरं-झूलरं आवै छै। पिणहारियां किण हेक भांत री छै ? जिकै महा रूपवन्त मृगानयनी, सिंहलंकी, हयणिया ज्युं हालती, मेगल ज्युं माल्हती घणा भोगी-भमरा रा मन मोहती थकी, घणी पामलां जांझारां री बोछियां री रमझोल पड़ रही छै। घणा गागरा माहै घूमती थकी झीण साल् ओढीया छै। सो सारो ही डील झलक रह्यो छै।"[2]

नायिका-भेद का चित्रण, आलंकारिता, लयात्मक सौन्दर्य एवं काव्यात्मक सौन्दर्य द्रष्टव्य है। अभिव्यक्तिमूलक प्रवाह (राजस्थानी गद्य का विशिष्ट गुण है। जहां तक वर्णनात्मक शैली के स्वरूप एवं विस्तार का प्रश्न है, वहा मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि युद्ध वर्णन से लेकर कथा साहित्य के मार्मिक स्थलों तक मे प्रत्येक गद्यकार ने सामान्य एवं विशिष्ट स्थलों पर इस शैली को स्वीकार किया है।

शैली की दृष्टि से यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रूप चमत्कारिक वर्णनो की प्रधानता जितनी राजस्थानी गद्य साहित्य मे है, अन्यत्र दुर्लभ है। 14वी शताब्दी से लेकर आज तक राजस्थानी में वर्णन प्रधान शैली मे अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। शुद्ध प्राकृतिक वर्णन से लेकर नायक नायिकाओं का चित्रण, वस्तु चित्रण एवं मानव सुलभ चेष्टाओं का शुद्ध मनोवैज्ञानिक चित्रण करने की यहां परम्परा रही है। वर्णन की दृष्टि से राजस्थानी प्रारम्भिक गद्य में माणिक्य सुन्दर सूरि कृत 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' अपर नाम 'वाग्विलास' एक अत्यन्त सरस एवं कलात्मक कृति है जो प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य की समृद्धि का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, यथा—

"जिण देसि ग्राम अत्यन्त अभिराम। भलां नगर जिहां न मागीयइ कर। दुर्ग जिस्या हुई स्वर्ग। धान्य न निपगइ सामान्य। आगर, सोना, रूपा तणा सागर। जेइ देस माहि नदी बहीइ, लोक सुपइ निर्वहइ। इसिउ देस पुण्य तणउ निवेश गरुअउ प्रदेश। तिणि देश पइठाणपुर पाटण वर्त्तइं, जिहां अन्याय न वर्त्तइं। जीणइ नगरि कउसीसे करी सदाकार पाणलि पोढउ प्राकार, उदार प्रवोली द्वार।"

—मरहट्ठ देस वरणण-'वाग्विलास' ह०लि० प्रति।

---

1. सं० सूर्यकरण पारीक, राजस्थानी वार्ता, पृ. 40।
2. सं० मोहन लाल पुरोहित, राजस्थानी प्रेम कथाएं, पृ. 191।

इस काल की अनेक रचनाओं मे वर्णनात्मक शैली का प्राधान्य रहा है। 'सभा शृंगार' कृति में इसी प्रकार के अनेक विविध विषयक वर्णन मिलते हैं जिनसे राजस्थानी गद्य मे इस शैली की प्राचीनता का बोध होता है। राजस्थानी की यह परम्परागत वर्णन परम्परा ज्यों की त्यों आज भी प्रचलित है। कथा साहित्य का प्रथम लक्ष्य मनोरंजन है। इस दृष्टि से नव साहित्य का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि वर्णनात्मक शैली से सुन्दर साहित्य की कोई भी अभिव्यक्तिमूलक पद्धति नही है जो सामान्य पाठक का भी मनोरंजन करा सके। जनसाधारण की शब्दावली, मुहावरे, कहावतों एवं विषयानुकूल भाषा का जितना सफल निर्वाह इस शैली में हो सकता है, उतना अन्यत्र नहीं। साहित्य चाहे कथात्मक हो अथवा भावात्मक—वर्णनात्मक शैली स्वतः विचारों को अधिक साकार एवं स्पष्ट करने के लिए प्रादुर्भूत होती है। यह आवश्यक नही कि लेखक रुक कर उस स्थल का वर्णन प्रस्तुत करे, किन्तु परिस्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिए उसे इस शैली का सहारा तो लेना ही होगा। उदाहरणार्थ—

"असाढ रो मईनो लाग्यो। धोरां री धरती मूलक नें हरी करस हुयगी ही। जाणं बैं भांत-भांत री चूनड़ियां ओढ ली हो। असाढ रा आडंग भी आमैं में इणगी सूं उणगी अर उणगी सूं इणगी नाठण लाग्या। फेर भी कदेई कदेई सागीड़ी ऊमस हुय जावती नैं तावड़ो तपण लागतो। गलयां में सोवता बूढा-बडेरा आमैं कानी निरख-निरख कैंवता बरखा हुवैली……………का तपत बिरखा लायँ बिना नी रैं वैली।"[1]

कथाकार की सफलता इसी में ही है कि वह किसी स्थल पर रुक कर नही, अपितु कथा के मूल प्रवाह में ही वर्णनात्मक स्थलों की योजना प्रस्तुत करे जिससे कथा के प्रवाह की शुष्कता अथवा नीरसता भी समाप्त हो सके। इस सन्दर्भ मे यह किया जा सकता है कि राजस्थानी गद्य की वह प्राचीन वर्णनात्मक परम्परा जो पहले स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्ति पाती थी अब मात्र विषय एवं प्रसंग के मूल मे ही समाहित हो गयी है। चमत्कार प्रदर्शन की वह वर्णनात्मक परम्परा अब समाप्त हो गयी है। कथा साहित्य मे रानी चूंडावत एवं श्री देथा के अतिरिक्त श्री व्यास, श्री जोशी एवं संस्कर्ता जी की कथात्मक रचनाओ मे इस शैली का सफल निर्वाह हुआ है तथा निबन्ध साहित्य में समस्त लेखक इस शैली को किसी न किसी रूप मे अवश्य स्वीकार कर रहे हैं।

5. भावात्मक शैली :

विषय की प्रकृति के अनुसार साहित्यकार गद्य की विभिन्न शैलियों को अपनाता है। इस शैली का प्रयोग मुख्यतया विशिष्ट निबन्धों मे ही किया जाता है जहां लेखक के लिए मौलिकता एवं नवीन दर्शन अपेक्षित है। इस शैली में हृदय की उदात्त अनुभूतियों का विशेष महत्त्व है किन्तु बौद्धिक तत्वों की पूर्णतः अवहेलना

1. श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'—डूंगोरी किण पोवरी-पृ० 45

नहीं की जा सकती, क्योंकि विषय के तात्त्विक विवेचन मे गहन चिंतन भी आवश्यक है। विभिन्न भावों की व्यंजना के अनुसार इस शैली का क्षेत्र विस्तृत है। भावात्मक शैली का महत्त्व विषय की गरिमा के अन्तर्गत तो है ही, साथ ही विशिष्ट शैलियों के अन्तर्गत भी इसकी उपयोगिता है। इस शैली की प्रकृति के सन्दर्भ मे डा० गणपति चन्द्र गुप्त का मत है "इसमें भावों के अनुकूल उत्तेजना, चंचलता, प्रवाहपूर्णता या विक्षेप मिलता है।"[1] कुछ विद्वान इस शैली का स्वतंत्र स्वरूप न मानकर इसे निबन्धों के एक विषयगत भेद के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं। विषय की प्रकृति के अनुसार ही अभिव्यक्ति का ढंग प्रकट होता है। विचार, भाव एवं अनुभूतियों का सीधा सम्बन्ध वैचारिक अभिव्यक्ति से है अतः इसे हम अभिव्यक्ति का एक रूप ही मानते हैं।

हिन्दी गद्य में भावात्मक शैली का विकास निबन्ध साहित्य के माध्यम से ही हुआ। हृदय की अनुभूतियों के चित्रण मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[2] ने सर्वप्रथम इस शैली का प्रयोग किया। पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने निबन्धों में विशुद्ध खड़ी बोली और संस्कृत बहुल भाषा के माध्यम से इस शैली को काव्यगत सौन्दर्य एवं अलंकारो की रमणीयता से सजाया है। उनके अधिकांश निबन्धों में भावो और विचारो के साथ कल्पना की मधुरता का सुन्दर समन्वय है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस शैली के द्वारा भय-क्रोध, उत्साह, करुणा एवं 'घृणा' जैसे मनोदशा सम्बन्धी निबन्ध लिखे हैं, जिनमें शब्द-चयन सुलझा हुआ, वाक्य-विन्यास व्यवस्थित, विचार शृंखलाबद्ध तथा भाषा व्यावहारिक है। उदाहरणार्थ—

"उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्म रक्षा, पर-रक्षा, देश रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को परपीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुंच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार मे थोड़ी बहुत होती ही है। अत्याचारियो या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएं भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।"[3]

हिन्दी के अन्य गद्यकारों मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाब राय, पं. वियोगी हरि, भगवती प्रसाद बाजपेयी, महादेवी वर्मा आदि ने भावात्मक शैली का प्रयोग किया है। राजस्थानी गद्य मे निबन्ध साहित्य का विकास तो विलम्ब से हुआ है किन्तु उसके कथा साहित्य मे कहीं-कहीं इस शैली के दर्शन होते हैं, यथा—

1. डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ० 245।
2. 'भारतेन्दु नाटकावली'।
3. पं. रामचन्द्र शुक्ल, 'उत्साह', चिन्तामणि, पृ. 9।

"एक ढाणी री चोधरी हो। वैंरे कोठां री धान लूट ग्यो जरां वो धान मोल लेवण कनले सहर गयो। "श्रेक हाट सुं गंधा री बीस छाट्यां मोल ली। सेठजी दाम लेवण लाग्या जरा चोधरी री निगा ईसाण कूंट मे पल पलाट मारती बीजली कानी गयी। तुरन्त बोल्यो-सेठजो, रुपिया री नोलो तो ढाणी ही भूलियायो।"[1]

प्रस्तुत लघु कहानी मे लेखक भाव मूलक अभिव्यक्ति के बल पर गहन विचारों एवं भावो की अभिव्यंजना बड़े सरल ढंग से की है। कहानी की मूल संवेदना व्यंजना शक्ति से प्रकट की गई है। शैली मे ठेठ राजस्थानी शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनमे ध्वन्यात्मकता का गुण है। आधुनिक निबन्धकारों ने विषय की प्रकृति के अनुसार स्थल-स्थल पर इस शैली का प्रयोग किया है। 'थोथी बातां' शीर्षक निबंध मे रावत सारस्वत ने इस शैली का प्रयोग बड़ी ही स्वाभाविक गति से किया है।

"मैं सांचूं जठै म्हारी निजी दुर्बलता अर ग्यान की कमी म्हारी मोजूदा अवस्था री दोसी है वठै थोड़ो-घणो दोसतो उण तत्व रो भी होणों चायै जिकै नै 'भाग' या 'चांस' कैवै। या बात नी कै मैं भाग री बात कहं र म्हारी हालत पर संतोस करणो चावूं, पण अकल मुजब सोचणै अर सामरथ मुजब करणै रै बाद भी जद खुद मैं अभावा मैं डूबतो-तिरतो अर अजोगा लोगां नै रंगरेलियां करता देखूं तो इसी थोथी बाता करणी चावूं जिकी सूं म्हारै सायै सुणणियै अर पढणिये रो बसत भी खराब करणो पड़ै।"[2]

शब्द भावों के सच्चे प्रतीक बनकर उपस्थित हुए हैं। वाक्य विन्यास कुछ लम्बा है किन्तु विचारों का तारतम्य टूटने कहीं पाया है। अर्थ की गहराई को बढाने के लिए अर्थ-विरोधी शब्दों—जैसे थोड़ो-घणो, डूबतो-तिरतो आदि का प्रयोग किया गया है। उर्दू एवं अंग्रेजी शब्दो का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है। शैली में प्रवाह एवं सजीवता है। राजस्थानी गद्य में चूंकि भावात्मक निबन्धो का अभी अभाव है अतः इस शैली का पूर्ण विकास नही हो पाया है।

कथा साहित्य में घटनाओं को गति देते समय कहानीकार पूर्णतया भावुक रहता है। उपयुक्त प्रसग पर अपनी दार्शनिक भाव व्यंजना को वह उचित क्रम से सन्दर्भ मे ही जोड़ता चलता है। भाव-प्रवण संवेदना का प्रत्येक वाक्य पाठक के लिए अनुभूति का विषय बनता चलता है। इसी क्रम मे कथा साहित्य से भी भावात्मक शैली का विकास होता है। यह आवश्यक नहीं कि कथाकार इन विचारों को विस्तार के साथ अभिव्यक्ति दे, अपितु कभी-कभी एक-एक वाक्य भी अनुभूति की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि वह भावात्मक शैली का स्वरूप निर्धारित करने मे सफल सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ—

प्रसंग—कथा का नायक 'माधो' अपनी विधवा भाभी के प्रति समाज की

1. राजस्थानी : भाग 3, अंक 2, अक्टूबर 1935, पृ 12।
2. रावत सारस्वत, राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ. 96।

उपेक्षा के तिरस्कार मे दुःखी होता है किन्तु सामाजिक मर्यादाओं के सामने वह टिक नही सकता–टक्कर नही ले सकता।

"च्यारूं कानी सांती ही। वो भोल्योड़ी परमू री लीला नैं देखतो रैयो। धीमैं-धीमैं वैं लखाव कियो कै वो कायर हुयग्यो है। उण रो साहस मरग्यो है। भोजाई री ग्रांख्या मे घर ग्रावण री बात बखत जिकी भावनावां नाची ही, उण रै भरम ताई पूगण री कोसीस करण लाग्यो।..........विखै री मार्‌योड़ी भोजाई, हाबर-नैणी, पीड़ां रे अगम समन्दर नैं बसायोड़ी घर सरण री याचना करती उण री दो ग्रांख्या।"[1]

यह है वह स्थल जहां कथा के नायक के साथ-साथ पाठक को भी संवेदनशील होना पड़ता है। जैसे—

"जीवन ग्रेक विचित्तर नाटक है। ग्रेक-ग्रेक घडी रो भी किण नैं ई नहचो नी? सगला सुख ग्रसल मे दुःख ईज है। सुख घडी-पोर रा है। ग्रजर-ग्रमर रै तो ग्रा मिरत्यू।..........मोत। ग्रा मिरत्यू ई ग्रेक ग्रमर सत्य है।..............इण पीड़ा रो ग्रनुभव ई साचो ग्रनुभव है। ग्रापां सगला जण रमतिया हां। रमतिया बणावै जिको ठा नी कद तोड़ देवै........ ....किया तोड़ देवै, ग्रापां नीं जाणां।"[2]

प्रस्तुत उद्धरण मे लेखक के हृदय या भाव पक्ष का पूरा प्रतिबिंब पड़ा है और उसी प्रकार चिंतन परक शुद्ध सिद्धान्त विवेचन या विचार-वितर्क के अवसर पर लेखक की शैली में इसके मस्तिष्क या बुद्धि की पूर्ण छाया दिखाई पड़ती है। कथा साहित्य में भावात्मक अभिव्यक्ति जितनी स्पष्ट उपन्यास में संभव है उतनी कहानी में नही। कहानी का क्षेत्र सीमित है, अतः उसमें दार्शनिक विचारों के प्रकाशन की सुविधा नही मिल सकती।

राजस्थानी कथा साहित्य में इस शैली के अन्य सफल साहित्यकार हैं–श्री मुरलीधर व्यास, नृसिंह राज पुरोहित, श्री लाल नथमल जोशी, जगदीश माथुर 'कमल' एवं किशोर कल्पना कान्त।

निबन्ध के क्षेत्र में डा. गोवर्द्धन शर्मा, रानी चूंडावत, सुमेर सिंह शेखावत एवं शक्ति दान कविया आदि ने इस शैली का प्रयोग किया है। निबन्ध साहित्य का भंडार अभी सीमित है, अतः उसे समृद्ध करने में भावात्मक निबन्ध महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते है।

6. साहित्यिक शैली :

शैली मूलभूत विषय-वस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। अतः साहित्यिक विषयों ने

1. श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'–'हूं गोरी किण पीवरी'।
2. वही, पृ. 83,

अभिव्यक्ति मूलक क्षमता उत्पन्न करने के लिए साहित्यकार भाषा को साहित्यिक संस्कारों से अनुप्राणित करता है। साहित्यकार का धर्म मानसिक जगत् की सूक्ष्म भावनाओं को प्रस्तुत करना भी है। जब उसके मानसिक विचार किसी साहित्यिक विषय पर साहित्यिक शब्दावली में प्रकट होते हैं तो साहित्यिक शैली का निर्माण होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने समीक्षात्मक ग्रन्थों में अत्यन्त गम्भीर, परिष्कृत, साहित्यिक एवं प्रभावोत्पादक भाषा शैली का प्रयोग विषयगत गरिमा के कारण ही किया है। साहित्यिक शैली में कहीं-कहीं प्रसंगानुसार यदि हास्य और व्यंग्य का पुट भी मिला दिया जाय तो वह शुष्कता के दोष से बच सकती है। 'जायसी' पर समीक्षा प्रस्तुत करते हुए शुक्लजी ने स्थान-स्थान पर ऐसा ही किया है। इन गुणों के कारण साहित्यिक शैली में सरसता और रोचकता आ जाती है। हिन्दी गद्य में शुक्लजी से पूर्व साहित्यिक शैली का प्रयोग बाबू श्याम सुन्दर दास, सरदार पूर्णसिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं प्रतापनारायण मिश्र ने किया किन्तु शुक्ल जी की शैली चिन्तनशील मस्तिष्क की देन होते हुए भी हृदय को सरसता लिए हुए है। वैज्ञानिक की तरह उन्होंने प्रत्येक विषय को गहराई के साथ टटोला है और उसका धार्मिक विश्लेषण किया है। साहित्यिक शैली में कहावतों और मुहावरों का प्रयोग करने में वे पूर्णतया सफल सिद्ध हुए हैं। भाषा संस्कृत गर्भित, वाक्य छोटे किन्तु गम्भीर एवं सर्वत्र व्यक्तित्व की अनुकृति है। प्रेमचन्द के कथा साहित्य की भाषा में साहित्यिकता का अभाव नहीं है किन्तु चमत्कार के लिए उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया।

प्रसाद जी की साहित्यिक शैली में सरस कविता की मादक लहरी झलकती सी प्रतीत होती है। सजावट का प्रयत्न नहीं अपितु माधुर्य एवं सौन्दर्य से ओत-प्रोत है। यथा—

समुद्र का कोलाहल कुछ सुनने नहीं देता था। संध्या धीरे धीरे विस्तृत नील जलराशि पर उतर रही थी। तरंगों पर तरंगें बिखरकर चूर हो रही थीं सुजाता बालुका की शीतल वेदी पर बैठी हुई अपलक आंखों से उस क्षणिकता का अनुभव कर रही थी, किन्तु नीलाम्बुधि का महान संसार किसी वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा था। सत्ता की सम्पूर्णता धुंधली सन्ध्या में मूर्तिमान हो रही थी। सुजाता बोल उठी-जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है। आत्मा के आलोक में अन्धकार कुछ नहीं है।[1]

राजस्थानी की अधिकांश प्राचीन शब्दावली पर संस्कृत के शब्द रूपों का बड़ा प्रभाव है। प्रकृति के अनुकूल शब्दों को ग्रहण करने की क्षमता के कारण उसमें साहित्यिकता का गुण विद्यमान रहा है। वर्तमान राजस्थानी लेखकों की कृतियों में यह तत्व कम दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत में एक ही शब्द के अनेक नये शब्द बनाये जा सकते हैं, जिनके बल पर सूक्ष्म मनोभावों एवं गम्भीर विचारों को सहज एवं

1. जयशंकर प्रसाद : देवरथ से उद्धृत।

स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जा सकता है। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि राजस्थानी को इतना संस्कृतनिष्ठ बना दिया जाय कि उसका अपना स्वरूप ही नष्ट हो जाय, अपितु साहित्यिकता के गुण के लिए निश्चित सीमा तक ऐसा किया जाना चाहिए। अभिव्यक्ति की दृष्टि से राजस्थानी साहित्य को नये-नये रूपों एवं शिल्पगत परिधानों से आवंटित नहीं किया गया तो वैज्ञानिक दृष्टि से राजस्थानी पिछड़ी हुई रह जायेगी। आज मूलतः साहित्यिक शैली का प्रयोग कथा साहित्य में आंशिक किंतु आलोचना एवं निबन्ध साहित्य के क्षेत्र मे व्यापकता से होने लगा है। अतः राजस्थानी साहित्यकारों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। प्राचीन राजस्थानी कलात्मक साहित्य मे साहित्यिकता का गुण सर्वत्र मिलता है। यथा—

"दक्षिण दिसा मल-याचल पहाड री पवन वाजियो छै। सीत मंद सुगंध गति पवन मेत वाल्हा मैंगला ज्यां परिमल झोला खावतो वहै छै। अढार भार वनसपति मकरंद फूलादि रा रस मांणतो थको वहै छै। अब मोरी जे छै। कूपलां फूटीजें छै। वणराइ मंजरी छै। वासावली फूटि रही छै। केसू फूलि रहिया छै। रितिराज अगरीओ छै। वसंत आयो छै।"[1]

बसंत का मनोरम चित्रण साहित्यिक शब्दावली में किया गया है जिसमें चित्रात्मकता का गुण भी है। आधुनिक राजस्थानी गद्य में निबन्ध लेखन की परम्परा विकसित हो रही है जिसमे साहित्यिकता का गुण प्रकट होने लगा है। उदाहरणार्थ—

"राजस्थानी रमणी–ऊनमासे रै तावड़ै मैं तपै अर लूवां लागै तो उणरी कंवली काया छुई मुई री ज्यूं कुमलावै, पण चिता री अगनी रै धप्पड़बोज मैं गंगा-सिनान रो आणंद लूटे तो रूं-रूं हुलसै अर निखरै। घूंघटिये रो पल्लो उघाड़ै तो सोला सूरज अगै अर अंधारो घर संवनण हुवै, पण विकराल् वणेंर कोप करै तो रणचण्डी सी लगै। रीझै तो चन्दरकान्तमणि सी द्रवै अर खीजै तो सामी झांकेर नी देखै। तूठै तो सरबस वारै अर रूठै तो ब्याज समेत बदलो ले। पत रै पाणी सत री काती न्हावै। जिण रै सूं-वै लिलाड़ सुहाग री बिन्दी जाणै मोर रै आकाश मे सुकर तारो धप-धप दीपै। गोडा ताणी झूलती बेणी जाणै बासक नाग उण री सील-सम्पदा री रुखाली कर रयो हुवै। कटीला नेण, जाणै, सपेती रै मिस सत ने उजालै, ललाई रै ब्याज नेहरी लाली रचावे अर कालिमा रै बहाने धीरता अर गभीरता री गहराई जतावै।"[2]

राजस्थानी निबन्ध लेखन की परम्परा में ही राणी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत

---

1. राजस्थानी साहित्य-संग्रह (श्री नरोत्तमदास स्वामी) प्र. भाग, पृ. 34।
2. श्री सुमेरसिंह शेखावत, राजस्थान अर उणरो जीवण-दरसण, राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ. 37-38।

ने 'मेवाड़ी फागण', 'राजस्थानी भाषा' र आपणो कर्त्तव्य' एवं 'मेवाड़ी दीवाली' आदि निबन्धों में इस शैली का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

'लोटां में फूल पाती कलात्मक ढंग सूं सजा गाती-गाती तलाव री पाल पं आवें। आप री जनम भोम मेवाड़ रै पाणी सूं लप-लब भर्या तलाव, वारं मायं झुक्या लगा छाजा वाला गोखड़ा रा रूपां री, तलाव रे पाणी में पड़ती छाया नें निरखती-निरखती कंवें "ऊंचा राणाजी थांरा गोखड़ा, नीचे पिछोलारी पाल।" जिस्में रूमले, डूंगरा री गोद मे रमतं, पाणीरं मायं तिरतं देस नें छोड़ सासरे जावरा री कल्पना हियो फाड़, कण्ठ सूं राग काढें—"किम कर जावूं रै परदेस म्हालाजी म्हानें आछो लागे राणा जी रो देसड़ो रे।"[1]

तथा—कथा साहित्य के सन्दर्भ में—

"धरती रो घणखरो भाग पाणी सूं भर्योड़ो है। च्यार भागां मे सूं तीनां मे तो भारी जलज-अलाकार है। फिर धोवी रै पताल में, नदी-सरोवर में, दरियावां अर बादला में, कूवां-झरणा मे, जीव जिनावरां तथा रूंख बणरायां में पाणी रो ही परताप है।"[2]

—श्री नानूराम संस्कर्ता

\+ \+ \+ \+

प्रभातरी झीणी रोसनी में अखबार हाथ मे लियां हूं। विचार गंगा रै प्रवाह में ठोडी सूघो डब्योड़ो हतो। म्हारी गरीब आंख्यां वापड़ी च्यारूं मेर निजर पसारेर देखती हुती, पण पईसरं जोगाड़रो तो भजानों ही खाली हुय चुक्यो हुतो। म्हैं झपकी सी ली, उबासी सी खाई आंख्यां मीची। सांप्रतरी सींव कद छूटगी, कुण जाणे।"[3]

—श्री दामोदर प्रसाद

राजस्थानी गद्य की कहानियों मे साहित्यिकता का गुण अभी तक नहीं आ पाया है। नये कथाकार अवश्य ही प्रयत्नशील हैं। यही स्थिति अन्य विधाओं की भी है। लक्ष्मीकुमारी चूंडावत ने 'मेवाड़ी फागण', श्री मदनगोपाल शर्मा ने 'मिनख जमारो' श्री ओंकार पारीक ने 'मुंई कविता रै गोखै सूं' एवं डा० गोवर्द्धन शर्मा ने 'साहित्य अर उण रा भेद' शीर्षक निबन्धों में कहीं-कहीं साहित्यिक शैली का प्रयोग किया है किन्तु आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य मे अभी इस शैली का पूर्ण विकास होना शेष है।

7. चित्रात्मक शैली :

सूक्ष्मता तथा कम-से-कम स्थान में अधिक से अधिक अभिव्यक्ति करने की तत्परता इस शैली का प्रधान गुण है। गद्य साहित्य में चित्रात्मक शैली का स्वरूप

---

1. मेवाड़ी फागण, राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ० 61।
2. रामै ेी गाय (कहानी) राजस्थानी रा प्रति० कथाकार, पृ० 23।
3. 'सुपनैरो जल' (कहानी) राजस्थानी रा प्रति० कथाकार, पृ० 44।

पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है। उसकी उपस्थिति कथा साहित्य की प्रचलित विशिष्ट शैलियों में पायी जाती है एवं कभी-कभी घटना के वर्णन, वस्तु या व्यक्ति के शब्द-चित्र से भी इसका प्रयोग किया जाता है। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार, "सामान्यतः विभिन्न व्यक्तियों के बाह्य रूप-विधान में इस शैली का प्रयोग होता है।"[1] शब्दों के संगठित एवं संतुलित प्रयोग से किसी चित्र को अभिव्यक्तिमूलक साकारता दी जाती है। हिन्दी गद्य साहित्य में प्रेमचन्द के कथा साहित्य से लेकर आधुनिक गद्य के रेखा-चित्रों तक में इस शैली का प्रयोग हुआ है। प्रसाद जी के नाटक साहित्य एवं कहानियों में सर्वत्र इस शैली के दर्शन होते हैं। जैनेन्द्र कुमार ने केवल संकेतों के बल पर इस शैली को सजीवता प्रदान की है। उन्होंने मनोदशाओं तक का चित्रण शब्दों की संकेतात्मक अभिव्यक्ति में किया है। रेखाचित्रों के सन्दर्भ में महादेवी जी ने इस शैली का प्रयोग कुशल लेखनी से किया है। उदाहरणार्थ—

"तब हम तीनों मूर्तियां एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे बड़े चम्मच, दूध का प्याला, फलों की तश्तरी लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा चाप पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओं को आंख मूंदकर कौर द्वारा पुजापा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आंखें मूंदते वैसे ही किसी के मुंह में अंगूर, किसी के दांतों में बिस्कुट और किसी के ओठों में दूध का चम्मच जा पहुंचता। न देखने का तो अभिनय ही था, क्योंकि हम सभी अधखुली आंखों से रामा की काली, मोटी उंगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे।"[2]

शब्द-चयन पूर्णतया भावपूर्ण है तथा वाक्य-विन्यास अपेक्षाकृत कुछ सरल है। अतीत के चल-चित्र, स्मृति की रेखाएं एवं शृंखला की कड़ियां आदि रचना कृतियां इस शैली की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। जिन स्थलों पर मार्मिक अनुभूति और सुन्दर कल्पना का समन्वय है वहां भाषा के मर्मस्पर्शी सौन्दर्य से चित्रात्मक शैली साकार हो उठी है। महादेवी जी के अतिरिक्त हिन्दी गद्य में बनारसीदास चतुर्वेदी (रेखाचित्र), रामवृक्ष बेनीपुरी (माटी की मूरतें तथा गेहूं और गुलाब), कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (भूले हुए चेहरे) आदि के रेखा-चित्रों में इस शैली के दर्शन होते हैं। अस्तु, अब तक के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में व्यापक लक्ष्य एवं जीवन की वास्तविकता का उद्घाटन करने के लिए आधुनिक कथाकार अपनी भाषा-शैली में चित्रात्मक अभिव्यक्ति पर विशेष बल दे रहे हैं।

राजस्थानी बातों में सर्वत्र चित्रात्मकता का गुण विद्यमान है किन्तु उसका

---

1. डा० गणपति चन्द्र गुप्त, साहित्य की शैली, पृ. 244।
2. महादेवी वर्मा, अतीत के चल-चित्र, पृ. 14।

स्वतन्त्र स्वरूप अब रेखा-चित्र, संस्मरण एवं स्केच आदि में उद्घाटित हो रहा है। उदाहरणार्थ—

"जागा जागा फाटोड़ों मैलो कुचेर कीसो बासो पोतो, माथे सीरा लटकतो टमासो अर पगां मे दो मेल् रा खांसड़ा पहर्या रामूड़ो मंगी खापड़ो सीयालें री 5 बजी सामो ठंडी हेल पाले जणें म्हारी गली में आंवतो। वो हाथ में एक छाजलो, बगल में बांसो री सीक्यों रो लम्बो भाड़ू अर मूंज मे टूटोड़ी बिलमड़ी राखतो। गली मांय सूं फूस-फांडो भूग' र बंने बाल' र पैसा थोड़ो सेक करतो। ईंये गुणें मूं बैं गुणे तांई सगली गली बुहारतो। इणी तरह एक रे बाद बीजी गली भाड़तो, वेरी विरत बड़ी ही।"[1]

सकेत सामर्थ्य के बल पर 'रामलो मंगी' (जो अपनी जाति का प्रतिनिधि है) का चित्रात्मक शैली द्वारा कम-से-कम शब्दों में मर्म-स्पर्शी, भावपूर्ण एवं सजीव अंकन किया गया है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से व्यक्ति के जीवन का जितना स्पष्ट एवं सहज चित्रण इस शैली के बल पर सम्भव है, उतना अन्य से सम्भव नहीं। इस शैली के लिए विषय का बन्धन नहीं। नाटक, उपन्यास, कहानी, संस्मरण एवं रेखाचित्रों मे इसका सामान्यतया प्रयोग होता है। व्यापकता की दृष्टि से राजस्थानी गद्य मे संस्मरणात्मक, वर्णनात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैलियों के परिवेश में भी इसकी उपस्थिति पायी जाती है। परम्परा एवं प्रगति की दृष्टि से राजस्थानी गद्य मे मुरलीधर व्यास, श्री लाल नथमल जोशी, रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, भगवान दत्त गोस्वामी, नानू राम संस्कर्त्ता आदि इस शैली के प्रमुख शैलीकार हैं, जिनकी भाषा का गठन द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ—

"म्हारी गली बुभारणी भमकूड़ी मंगण रै पांती आयोड़ी है। बरसां मे चालीसां सूं ऊपर काणी, पण डील तूली जिसो है। खेजड़े जिसी लांबी, जरख दांई पतली-पतली टांगां, धँसयोड़ी छाती, अर चिप्योड़ा गाल। आंल्या बड़ी-बड़ी, पण इत्ती थकी के डरावणी हुवे ज्यूं लागे। मोड़ी थकी गली मे आवे। पैलो रामरागली करे। सियालो हुवे तो लकड्यां री टाल कने सूं सिणियो, बूई अर भोषा, चिरमल्या भेला कर' र जगरो करे। हुवड़ बोच धूणी जगे।"[2] (काल लेजाये)

स्थानीय रंगत (लोकल कलर) इस शैली का विशिष्ट गुण है। शैली गत विविधताओं के साथ साथ राजस्थानी गद्य मे अलोकिकता का विकास भी हो रहा है। कथा साहित्य मे देश-काल एव वातावरण को अधिक स्पष्ट करने तथा पात्र के व्यक्तित्व को पाठकों के सामने उभारने के लिए कथाकार स्थल-स्थल पर चित्रात्मक अवतरणों की योजना करता चलता है। जैसे—

"जरा अठी नैं भी देखण री किरया करी, इण लटकतो ज्वालामुखी दवायों

1. श्री मुरलीधर व्यास, राजस्थान भारती, अप्रेल 1950, पृ. 123।
2. श्री लाल नथमल जी जोशी, मरुवाणी, बरस 6, अंक 7–8, पृ० 6।

प्रलय काल् रा उमड़ता मेघां री ज्यूं मुख पर काला केसां री लटां लुभाया, लुहार री धूकणी-सी नासा फुलायां, एक जवान मोट्यार हाथ मे सरकस रो हण्टर लियां अर-दूजो हाथ मूंछे केसरी री ज्यूं आंचल पर लगायां, एक पोयण फूल सी कंवली धण री नागी कमर क्रूरता रा भीषण चितराम बणार्यो है। खून सूं तर हुयै लपकतै हंटर री अवाज साफ-साफ सुणिजै है अर सागें पगां मे घायल पड़ी ढलकता आंसूड़ा डबाडब भरी आंतड़ल्यां नें जरा बन्द कर्यां, देही री करुणा भरी असवया भी। भी सूं कांपती भीता सूं टूट' र पड़ी तसवीरां, खून सूं लाल ही.........।'

'चितराम' (कहानी)-दामोदर प्र०

शैली मे प्रवाह और स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा स्थापित करने का एक सुन्दर साधन चित्रात्मकता का गुण है। कथा साहित्य मे चित्रात्मक शैली नाटक के रगमंच पर प्रस्तुत दृश्यों के अभाव की पूर्ति करती है एव पाठक को साहित्य के मार्ग से जोड़ती है। श्री मोती सिंह राठोर की 'राजा भोज री पदरवीं विद्या' कहानी मे उपर्युक्त कथन की व्यावहारिकता के दर्शन होते हैं। श्री व्यास, शेखावत, रानी चूंडावत, किशोर कल्पना कान्त आदि के कथा साहित्य मे इस शैली का सफल निर्वाह हुआ है।

8. व्यंग्यात्मक शैली :

साहित्य की शैली में सामान्य अथवा विशिष्ट गुण हो सकता है। जब लेखक अपने विचार स्वाभाविक ढग से व्यक्त करता है तो वह स्वभावोक्ति अथवा सामान्य रचना शैली है किन्तु कथन मे यदि वह चमत्कार आदि उत्पन्न करने के लिए वक्रोक्ति आदि का प्रयोग करता है तो वह चमत्कार युक्त विशिष्ट अभिव्यक्ति पद्धति होगी। भाषा-शैली के क्षेत्र में इस वैदग्ध्यपूर्ण अभिव्यक्ति पद्धति को सामान्यतया व्यंग्यात्मक शैली के नाम से भी पुकारते हैं।

भाषा-साहित्य मे व्यंग्यात्मक शैली का कोई पूर्ण स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है क्योंकि कोई भी लेखक किसी एक विषय पर रचना करते समय मात्र व्यंग्यात्मक शैली में ही नही लिखता। इसकी उपस्थिति तो ऐसे स्थलों पर मानी जाती है क्योंकि लेखक किसी विशेष बात को प्रभावशाली ढंग से कहने का प्रयास करता है। यह प्रक्रिया व्यंजना, ध्वनि, अलंकार अथवा वक्रोक्ति के बल पर ही सम्भव है। अतः यह स्पष्ट है कि व्यंग्यात्मक शैली किसी प्रचलित शैली में ही अन्तर्निहित रहती है तथा प्रसंग विशेष पर वह स्वतः उद्भूत होती है। [illegible] में उसकी पहचान की जा सकती है। उदाहरणार्थ-किसी [illegible] कार्य करने पर हम उसे कहें—"बहुत सुन्दर, यह [illegible]," अतः वह व्यक्ति जिसके लिए यह बात कही गई है-[illegible] प्रहार (व्यंग्य) किया गया है। यद्यपि यह [illegible] इस प्रकार के व्यंग्यों का हमारे जीवन से ऐसा सम्बन्ध है कि [illegible] में इस तरह [illegible]

व्यक्ति का प्रयोग करने में अभ्यस्त से हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो 'व्यंग्य' के अभाव मे कथन में सरसता नही आ पाती। साहित्य की शैली में पद्य से लेकर गद्य तक मे इस प्रकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति का प्रयोग होता रहा है। आधुनिक राजस्थानी गद्य मे पत्रो से लेकर कथा साहित्य तक मे इस शैली का प्रयोग होता रहा है। उदाहरणार्थ—

सं० 1914 को रतलाम के जागीरदार नामली ठिकाने के स्वामी बखतावरसिंह जी के नाम श्री सूर्यमल मिश्रण के पत्र का एक अंश:—

"घर मांही सूं कढिबो तो अब वांई हो जातो परन्तु श्री परमेश्वर में समय ओर ही कर दियो तीसों रजपूतां मे रजपूती कठे-कठे लाघे सो देख्यां सो तथा सुण्यां सों मन के आनन्द आजाबा को व्यसन छै और कठे ही रजपूती उघड़गी तथा बूडी ही दीसंगी तो जसी खुसी बेखुस हासिल हुवां कढिवो होसी। लोभ अनेक तरे का होइ छै त्यां मे ही रजपूत की रजपूती देखवा को लोभ छै सो अठी की तरफ ज्यादा असर करें छै अर साथी भी बहुत ही मिल जाता सुणा छा परन्तु हिन्दुस्तान को दिन आछयो नहीं तीसो आपरा मे एकता करें नही..........।"[1]

तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों से सामना करने के सम्बन्ध में विभिन्न नरेशों को लिखे गये पत्रों में श्री मिश्रण ने इस शैली का प्रयोग किया है। आधुनिक काल की 'समाज-सुधार' विषयक रचनाओं मे श्री भरतिया श्री दारुका, श्री नागौरी एवं श्री साकरिया ने इस शैली का स्थल-स्थल पर प्रयोग किया है जिनमे युग-परिवर्तन की पुकार है। उदाहरणार्थ—

"सरदारा! थे बीड़ा रैं सामां ही नही जावो। नीचा माथो घाल ने बैठा सो थारे माथे कोई छींया फिर गई कै बिजली पड़ गई। थोड़ो ऊंचो तो देखो नैं रजपूती रैं वट को सो की विचार करो। थारैं रगत रो तैं थांरी अरधांगी कहवी जण वाली थांरी ठकरांणिया पैं थाने इतो ही भरोसो कोनी? म्हैं आज सूं आ बात समभाला के रजपूतां रो रगत पलत गियो।"[2]

अनोखी आन कृति में श्री साकरिया ने व्यंग्यात्मक शैली का बड़ा सुन्दर और आकर्षक प्रयोग किया है। कथा साहित्य के अन्तर्गत ही श्री मुरलीधर जी व्यास ने इस शैली को विशेष महत्त्व दिया है। जीवन की सत्यता को वे अपनी वाणी के कटु प्रहारों से अभिव्यक्ति देते हैं, वहीं इसी शैली की सार्थकता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ—

'हां, वौ शिवदत्त भाई विद्या बिसनी पूरा हा। नैड़ी आधी मलांई कि ठैई कोई सभा क्यों नही होवौ। अं तो हमे सूं पैला उठै पूगई ता। सुर अर बिसैं रो मेल, सोने अर सुहागै रो मेल हुय जांवतो हो। इत्तो जरूर ठीक रोंवतो कै भितरी

1. उद्धृत : 'वीर सतसई' पृ० 79।
2. श्री बद्रीप्रसाद साकरिया, अनोखी आन।

इयां सैं समलां मूं लारै टेम देवंतो । क्यो कै ज्यो ई ग्रं थ करता समा ही इति होवण लगती ।"[1]

श्री व्यास जी ने इस शैली का प्रयोग अपने संस्मरण एव रेखाचित्रो मे भी किया है। 'इक्कै वालो' इसी प्रकार के व्यग्य चित्रो का संग्रह है। इनके अतिरिक्त कथा साहित्य में रानी चूंडावत, डा. मनोहर शर्मा, श्री 'प्राणेश' एव राजपुरोहित ने कहानियों में इस व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। निबन्ध साहित्य के अन्तर्गत भी श्री रावत सारस्वत ने 'थोथी बाता' शीर्षक निबन्ध मे जीवन के कटु सत्य को व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्त किया है।

जैसे—

'म्हारो क्रोध अर घिरणा उण लोगां खातर–होवे जिका हजार आठसो री नोकरी करतां हुयां भी आलीसान बंगला लेवैं, कारां खरीद लेवैं, आपाधापी रै इण राज मैं मनचाया कानून बणवा' र घरां पर टैलीफोन लगवा लेवैं, दफ्तरां रा नोकरां सूं रात-दिन घरां रो धन्धो करवावैं अर ऊपर सूं भ्रस्ट आचरण रै पाण समाज सूं पीसो अर राज सूं मनधायी क्रिपावां कवाड़ लेवैं। आं रै साथ ही वा व्योपारियां पर भी घणी भ्झाल आवै जिका वाजोगा होर्ण पर भी राज अर समाज नैं मूरख बणा'र पीसो खोस लेवे अर कोडी-कोडी जोड़'र इतणो पीसो भेलो कर लेवे कै पीसा सूं पीसो अपणै आप आ-आ बोरी तिजूरियां भरतो रैवै, अर इण भांत समाज मैं पीसै रै महत्व ही थापना कर' र जीवण री दूजी ऊंची बातां री बेकदरी करा देवैं। इजै कानी जद नीचै दरजै रा वां लोगां कानी ध्यान जावै जिका गरीबी में दिन काटै अर अग्यान मे कुगेलै चालै, तो राज अर समाज री व्यवस्था पर रीस आवै ।"[2]

अभिव्यक्ति की स्पष्टता का निर्वाह इस अवतरण मे बराबर हुआ है। श्री रावत सारस्वत एवं गंगाराम 'पथिक' के निबन्धो मे भी इसी शैली के दर्शन होते हैं। 'शब्द चित्रों' की परम्परा में इस शैली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ है किन्तु निबन्ध तथा शब्द-चित्रों का अभी राजस्थानी गद्य मे अभाव है।

9. गद्य शैली में काव्यात्मकता :

गद्य मे रचनात्मकता और रमणीयता का समावेश करने से काव्यात्मकता के गुण की सृष्टि होती है। साहित्य में काव्यात्मकता के गुण की उपस्थिति कुछ विद्वान गद्य काव्यों के अन्तर्गत ही मानते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। गद्यकाव्य गद्य और पद्य के बीच की वस्तु है। गद्य-काव्य का झुकाव मूलत: काव्य की ओर होता है जबकि काव्यात्मकता का गुण गद्य की किसी भी अभिव्यक्ति मे भी सम्भव हो सकता है। छंद बन्धन को छोड़कर गद्य काव्य और पद्य-काव्य मे कोई अन्तर नही है। 'छन्द'

1. श्री मुरलीधर व्यास, इक्के वाला, पृ. 248।
2. राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ. 66।

काव्य की कोमलता एवं भावकुता के लिए अनिवार्य है किन्तु गद्य-काव्य के लिए अनावश्यक है। काव्यात्मकता अभिव्यक्ति मूलक विशिष्टता है जो गद्य की किसी भी विधा-कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध अथवा रेखाचित्र में उत्पन्न की जा सकती है। दूसरी ओर गद्य की ये प्रचलित विधाएं गद्य-काव्य के अन्तर्गत नहीं आ सकती क्योंकि गद्य-काव्य एक ऐसी इतिवृत्त हीन, अनुभूति प्रधान आकार की लघुता की ओर उन्मुख गद्य रचना है, जो इन साहित्यिक विधाओं के साथ साम्य न रखने के कारण अपना पृथक् अस्तित्व सिद्ध कर चुकी है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गद्य-काव्य एक साहित्यिक रूप भी है और एक शैली-वैशिष्ट्य भी; क्योंकि गद्य की विधाओं में मुख्यतया नाटक के कथोपकथन, स्वकथन तथा उपन्यास के वर्णन, चित्रण एवं कथोपकथन मे भी गद्य-काव्यात्मक शैली का प्रयोग हो सकता है।

गद्य-काव्य की शैलियो के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य मे कादम्बरी शैली सबसे महत्त्वपूर्ण शैली है जिसका विकास हिन्दी मे संस्कृत साहित्य के माध्यम से हुआ है। हिन्दी में इसका प्रयोग श्री गोविन्द नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' एवं पं. वियोगी हरि ने किया है। इस शैली मे पांडित्य प्रदर्शन के लिए क्लिष्ट संस्कृत शब्दो का प्रयोग होता है तथा सामासिक पदावली एवं अनुप्रास की छटा का विशेष रूप से समावेश किया गया है। गद्य काव्य मे जहां भाव लहराते हुए से प्रतीत होते हैं वहां अभिव्यक्ति की दृष्टि से उसे 'तरंग शैली' के नाम से सम्बोधित किया जाता है, जैसे—

"सिर्फ हजार रुपये की ही तो बात थी ? वह भी नही दे सका। देना एक ओर रहा—पत्र का उत्तर तक नही दिया। एक दो तीन चार सब पत्र हजम किए ? सब पचा लिए ? यही मित्रता थी ? मित्रता ? मित्रता कहां ? मित्रता एक शब्द है, एक आडम्बर है, एक विडम्बना है, एक छल है–ठीक छल नहीं, छल की छाया है। वह भूत की तरह बढ़ती है, रात की तरह काली है, पाप की तरह कांपती है।"[1]

इसी प्रकार हिन्दी गद्य-काव्यों में विषय एवं अभिव्यक्तिगत प्रकृति की दृष्टि से अनेक शैलियां प्रचलित हैं। जैसे—गीत शैली, कथा शैली, वर्णन शैली, स्वगत-शैली, संवाद-शैली, प्रलाप शैली, धारा शैली एवं सम्बोधन आदि।

राजस्थानी मे प्राचीन कलात्मक गद्य साहित्य मे गद्य-काव्य जैसी परम्परा रही है। वचनिकाओ में पद्य की भांति अन्त्यानुप्रास का प्रयोग किया गया है। दवावैत, सिलोका एवं बातों के गद्य में पद्यात्मकता एवं तुकान्तता का रूप मिलता है। काव्यात्मकता का यह रूप प्राचीन राजस्थानी वार्ताओ में भी मिलता है। आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य में गद्य-काव्य लिखने का प्रयास सर्वप्रथम ब्रिजलाल बियाणी ने किया। उनके कुछ गद्य-गीत 'पंचराज' में प्रकाशित हुए थे। चन्द्र सिंह, मुरलीधर व्यास, कन्हैया लाल सेठिया, विद्याधर शास्त्री आदि राजस्थानी के कुशल गद्य काव्य रचयिता है। श्री सेठिया का 'पांखड्यां' शीर्षक गद्य-काव्य संग्रह है, जिसमे काव्या-

1. आचार्य चतुरसेन शास्त्री, अन्तस्तल, पृ. 51।

त्मकता के साथ-साथ शैली में रोचकता एवं प्रांजलता भी है। काव्यात्मकता के गुण से युक्त श्री विद्याधर शास्त्री का 'नागर पान' गद्य-काव्य का सुन्दर उदाहरण है। काव्यात्मक शैली के उद्धरणः—

"ऊनाले री तपती तावड़ी मे ताती वेलूका पर चालतां चालतां जद पगथल्यां में फाला पड़ ज्यावे, भर मुंह लुआं सूं झुलसीजे उण समै चूंधी आंख्या रे सामने बीते बसन्त री याद आयां बिन्न को रहेली—पण बसन्त री बहार लूटतां आगै आंवण वाले ऊनाले री ध्यान किण नैं ही को आवै नीं।"

—चन्द्र सिंह

"ताम्बे रै कलसै माटी रे घड़े ने कयो—घड़ा। थारे मे घाल्योड़ो पाणी ठंडो कियां रैवे म्हारे में घाल्योड़ो तातो कियां हुय ज्यावे? माटी रो घड़ो बोल्यो—मैं पाणी ने म्हारे जीव में जाग्यां द्यूं हूं—तू आंतरै राखे ओ ही कारण है।"

—श्री सेठिया

जीवन दर्शन को प्रतीक योजना के बल पर नपे तुले शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है। प्रतीक योजना के बल पर ही अर्थ की अभिव्यंजना संभव है जो 'काव्य' की सी अर्थगत सृष्टि करती है। समाज के विशिष्ट वर्ग—कोमल एवं कठोर हृदयी व्यक्तियो के भावनात्मक रूप का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। राजस्थानी साहित्य में काव्यात्मक शैली का आजकल गद्य गीतों की परम्परा में उपयोग हो रहा है। हृदय की गहनतम अनुभूतियो को संक्षेप में काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी जाती है। उदाहरणार्थ—

"मनैं काई चाई जै ?
हूं तो खाली थारो किरपा कोर चावूं।
कणक अर रतनां नै हूं काकरा जाण' र ठुकरा दिया।
कुटम कबीलै नै बन्धण समझ'र त्याग दिया।
साथण बेल्यां नैं भी छोड़णी पड़ी।
छेकड़ पं भी तो ममता है।
भलं कांई बताऊं ?
हूं तो आखी जगती सूं भी मूंडो मोड़ लियो।
अब आखा बंधण तोड़'र तेरी खोज में भीर पड़ी।
बस अब एकली हूं।

—गद्य-गीत, बैजनाथ पंवार।

तथा—

"लालर सी काली कट्ट रात भड़—भाखरणी ज्यूं लगा रैयी ही। अभिसारिका ज्यूं हाल रैयी ही, हलवा वहोत हलवा।"

—'हूं गोरी किण पीवरी'—श्री 'चन्द्र'

निबन्ध साहित्य में साहित्यिक एवं कलात्मक निबन्धों के अन्तर्गत इस शैली का प्रयोग हुआ है—

"काव्य ग्रामं सूं नीं टपकै, उण रै सातर ग्रभ्यास घणो जरूरी। बांदरां री उछल कूद ग्रर गंवार री धमा-चौकड़ी मे ग्रर सुघड़ घरणी रै नाच में यो ही फरक हुवै। जद नियम कसोजै पदमणियां पांतरां बण जावै। काव्य गूंगै रो गुड हुवै। गुणवन्त ग्राह भरै, 'वाह' कहाणियां तो लबार हुवै। उणांरी वाह वाह में हियो नीं हुवै, भेजै रो भड़कस हुवै।"[1]

तुकान्तता एवं काव्य के समान छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग से शैली मे काव्यात्मक सौन्दर्य की सृष्टि की गई है। 'रै मानखा' निबन्ध[2] में श्री रामचन्द्र बोहा ने काव्यात्मक शैली मे मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों का ग्रच्छा ग्राकलन किया है। राजस्थानी के प्रारम्भिक गद्य मे पद्यात्मक लय के कारण जो काव्यात्मकता थी, उसके दर्शन ग्राधुनिक साहित्य में नहीं होते।

ग्रनुवाद ग्रौर ग्रनूदित शैली

प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य का उद्भव ग्रनुवाद के माध्यम से न होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुग्रा है किन्तु विषय एवं भाषागत रूप-विधान उसने संस्कृत एव ग्रपभ्रंश साहित्य से लिया है। इसी कारण उस पर इन भाषाग्रों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। ग्राधुनिक राजस्थानी गद्य ग्रवश्य ही विषय-विविधता की दृष्टि से ग्रनुवादों से प्रभावित हुग्रा है। प्राचीन राजस्थानी गद्य की समाप्ति एवं ग्राधुनिक राजस्थानी गद्य के विकास से पूर्व एक ऐसा समय रहा है जिसमें गद्य के विकास का क्रम ग्रवरुद्ध रहा है किन्तु पुनः ग्राधुनिक राजस्थानी गद्य का विकास वस्तुतः ग्रनुवादों के माध्यम से ही हुग्रा है। राजस्थानी गद्य साहित्य ही नहीं, प्रत्युत हिन्दी गद्य साहित्य का प्रारम्भ भी वस्तुतः ग्रनुवादों के माध्यम से ही हुग्रा है। ग्रनुवाद किसी भी साहित्य के लिए ग्रनिवार्य ही नहीं किन्तु ग्रनेक ग्रंशों मे उपयोगी एवं सार्थक भी सिद्ध हुए हैं। किसी भी साहित्य को ग्रपने पैरों पर खड़ा होने के लिए दूसरी भाषाग्रों के साहित्य का सहारा लेना ही पड़ता है। यही स्थिति ग्राधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य की है। ग्रनुवादों की सहायता से लेखक की जिज्ञासा बढ़ती है ग्रौर वह मौलिकता की ग्रोर बढ़ता है। ग्रनूदित साहित्य किसी भी भाषा की शैशवावस्था होती है जहां लेखक एवं पाठक की रुचि परिष्कृत होती है ग्रौर दोनों के प्रयासो से उच्च कोटि के मौलिक साहित्य की सृजना होती है। ग्रनुवाद की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। भाषा के पूर्ण रूप से पुष्ट एवं उन्नत हो जाने पर भी ग्रनुवाद की ग्रावश्यकता एवं उपयोगिता बनी रहती है। ग्रंग्रेजी भाषा का साहित्य ग्रपनी मौलिकता के कारण इतना समृद्ध है कि ग्रनुवादों के माध्यम से उनका विभिन्न

1. राजस्थानी निबन्ध संग्रह, श्री कृष्ण कल्ला, पृ. 77।
2. वही।

साहित्यों में स्थानान्तरण हो रहा है। यदि यह कहा जाय कि विश्व के समस्त साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य की छाप है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

'अनुवाद' के महत्त्व को अस्वीकारा नहीं जा सकता। अनुवाद के माध्यम से विश्व में भावात्मक रंगमंच तैयार होता है। अनुवादों के माध्यम से भाषाएं परस्पर एक दूसरी के निकट आ जाती हैं एवं उनकी प्रकृति को जानने का अवसर मिलता है। प्रत्येक भाषा की एक स्वतन्त्र प्रकृति एवं रचना पद्धति (शैली) होती है। प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य में जो प्रमुख प्रवृत्तियां एवं शैलियां रही हैं वे अन्य किसी विश्व साहित्य में नहीं देखी जा सकती। अनुवाद का कार्य एक साधारण प्रयास नहीं। खलील जिब्रान के अनुसार—"अनुवाद एक कला है"। इटली की कहावत के अनुसार 'अनुवादक एक भाषा-द्रोही' (traitor) है।" मौलिक विचारों का प्रस्तुतीकरण अनुवादक को बड़ी सतर्कता एवं संयत ढंग से करना पड़ता है। विशिष्ट-सन्दर्भों में रचना में स्वाभाविकता लाने हेतु भाव व्यंजना के कुछ नये प्रकार एवं शब्द गढने पड़ते हैं। 'मोरियो-पाई' के अनुसार, "अनुवाद में ठीक शब्दों को जोड़ना अपने आप में एक कला है।" यह एक अनिवार्य तथ्य नहीं है कि अनुवाद का अभ्यास लेखक बनने की पहली अवस्था है। सफल अनुवाद वही है जिसमें मूल की समस्त बातें ज्यों की त्यों कुछ नवीनता के साथ प्रकट की जाय तथा अनुवादित रचना किसी भी दृष्टि से मात्र अनुवाद सी न जान पड़े। सफल अनुवादक के लिए यह आवश्यक है कि उसे दोनों ही भाषाओं की प्रकृति एवं स्वरूप का उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हो। मूल कृति को ज्यों का त्यों रूपान्तरित कर देना ही अनुवाद नहीं है किन्तु उसे विशिष्ट भाषा की भाव-भूमि में ढालना, जिससे वह मौलिक सी लगे सफल अनुवाद है। प्रत्येक भाषा की वाक्य रचना, क्रिया प्रयोग, मुहावरे, अलंकार. विशिष्ट शब्द प्रयोग एवं भाव व्यंजना की पद्धतियां पृथक् पृथक् होती हैं। यदि अनुवादक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया तो उसकी रचना उत्तमता का गुण ग्रहण नहीं कर सकती।

अनूदित साहित्य के संदर्भ में वर्तमान में हमें एक बाधा का सामना करना पड़ रहा है—वह है अनुवादों के प्रति हमारा उपेक्षा अथवा निरादर का भाव। हम अनूदित पुस्तकों को मौलिक पुस्तकों से घटिया या कम महत्त्व की समझते हैं। दोनों प्रकार के साहित्य का अपना महत्त्व है, स्थान है। संसार की हर उन्नत भाषा में अनूदित साहित्य मिलता है। संसार की श्रेष्ठतम रचना कृतियां अनुवाद के माध्यम से ही जन सामान्य तक पहुंच सकती हैं। हिन्दी की तरह राजस्थानी में भी सर्वाधिक अनुवाद अंग्रेजी तथा बंगला साहित्य से ही हुआ है। शेक्सपियर की कहानियों तथा उनके विविध नाटकों का अनुवाद राजस्थानी में बहुत हुआ है। टैगोर की रचनाएं भी बंगला साहित्य तक सीमित नहीं रह सकी। राजस्थानी गद्य में उनका अनुवाद बराबर होता रहा है। रवीन्द्र द्वारा रचित कृतियों में 'बंसरी' नामक नाटक पर श्री रावत सारस्वत का अनुवाद सामने आया, जिसे वातावरण एवं भाषा वैशा-

निक दृष्टि से सफल अनुवाद नहीं कहा जा सकता। बंगाल प्रदेश के वातावरण को राजस्थानी के अनुरूप अभिव्यक्त करने में अनुवादक पूर्णतया असफल रहा है। अनुवाद में मौलिकता के स्थान पर अस्वाभाविकता अधिक है। अनेक स्थलों पर शब्दों का ठेठ राजस्थानी रूप परिवर्तित नहीं किया जा सका। स्थल स्थल पर अंग्रेजी के शब्दों की भरमार खटकती है। अनुवादक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह मूल रचना के प्रत्येक स्थल को स्वीकार करे, यदि कोई स्थल नये वातावरण में अभिव्यक्ति नहीं पाता तो उसे छोड़ा जा सकता है। मूल रचना में नाटककार ने आवश्यकता से अधिक गीतों का स्थान दिया है किन्तु अनुवादक ने उनसे बचने का प्रयत्न नहीं किया।

लक्ष्मी कुमारी चूंडावत के प्रयास इस दशा में सराहनीय हैं। उनकी 'रवि ठाकर री वातां' मूल सी आनन्द देती है। केवल पात्रों के विचित्र नामो आदि के द्वारा ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि कहानियां अनूदित हैं। भाषा की दृष्टि से भी कहानियों में मौलिकता प्रतीत होती है। ध्वन्यात्मक शब्दावली, मुहावरे एवं ठेठ राजस्थानी शब्दों का प्रयोग कृति को सफल घोषित करते हैं। उनकी अनूदित शैली में सरलता एवं सहजता का गुण स्वतः प्रकट होता है।

1. सहज एवं सरल शैली :

"सावण रो महीनो बरखा विलूवरी। तलाव, नाल, खाडा नाडा, वाला-खाला पाणी सूं थबोला खाय रिया। रात दिन मीडका री डर डर, बरखा री रमझम सुणीजती रैवती। गांव रो मेला में आवणों जावणो रुक गियो। नावड़िया पै चढ हाटां पै सौदो लाणने जावणो पडतो।"[1]

स्थल स्थल पर कहानियों में गद्य के साथ साथ पद्य का भी प्रयोग मिलता है, यथा—

"टाबर पर्णा में सात समंदर पार जाय, काल् ने जीत ने जठै के' णी खतम व्हेती वठै मीठा सुर मे सुणता हा,
इती कांणी, बोदी राणी।
वूभ बभक्कड़, चूल्हा मे लक्कड़।
चूल्हा चूल्हा माथै चकटी।
नान्हा रो सासू नकटी।"[2]

अनुवाद में मुहावरों, ध्वन्यात्मक शब्दावली, संगीतात्मकता का बराबर निर्वाह किया गया है। स्थल स्थल पर साहित्यिक भाषा का प्रयोग भी मिलता है।

"मेह सूं धुपियोड़ा रूंखड़ा, टालता कंवाला पावड़ा म्हेल मालिया जैड़ा धोला धोला तावड़ में चमकता घणा फूटरा लागरिया।"[3]

1. रवि ठाकर री वातां—अनुवाद राणी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, पृ. 15।
2. वही, पृ. 35।
3. वही, पृ. 15।

'डावनी' रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत की अनूदित कहानियों का संग्रह है। चूंडावत की भाषा-शैली इतनी सहज एवं यथातथ्य है कि कृत्रिमता के दोष से पूर्णतः मुक्त है। कहानियों को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रचना मूलतः राजस्थान प्रदेश की पृष्ठभूमि में की गई है, यथा—

'दिन ढगां ज्यूं म्हैं म्हारा उपन्यास गे सतरवों परिच्छेद लिखवा ने हाथ पढ़ायो न मिनी आयगी—'काका, आपणो रामदयाल है नीं आपणी डोडी थलो है नी ओ कागला ने 'कोओ' कैवे। वो कांई नी समझे।

म्हं म्यारी म्यारी भाषा माळ कांई कैणू जठा पैलातती वा दूजा परसंग पै आयगी, 'देखो काका, भोलो कैवे हाथी सूंड सूं पाणी बादला में फैंके ज्यूं बरखा व्हे है? भोलो झूठो है नी? वो तो बक बक करो नी?'[1]

कहानी का प्रारम्भ छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा वातावरण प्रधान शैली में किया गया है। बाल सुलभ चेष्टाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

"ढीलो ढबलक जामो पजामो पैरियां, लांब तड़ाक भोला भोला [illegible] कावली देख साचाणी संका आय जावती।"

—पृ० 65

'कावली' का परिचय गिने चुने शब्दों से कराया गया है जिनमें [illegible] पर पुनरूक्त शब्द एवं पुनरुक्त शब्द एवं पुररुक्त समास के दर्शन होते हैं।

प्रो० गोविन्दलाल माथुर ने अंग्रेजी भाषा से [illegible] की कहानियों का राजस्थानी मे अनुवाद किया है। कहानियों में [illegible] पाठकों को खटकता है तथा कथानकों को भी [illegible] जा सका है। शैली की दृष्टि से कहानियों के [illegible] शैलियों के दर्शन होते हैं। नाटकीय शैली ([illegible])—

पैंडरी पलोडियो रो की मूढो [illegible]—

"पलोडियो, आज [illegible]

[illegible]?

पर ठेठ शहरी बोली का प्रभाव परिलक्षित होता है। ग्रामीण शब्दावली का पूर्ण प्रभाव है।

अमेरिका के बेजोड़ सिनेमा निदेशक वाल्ट डिज्के द्वारा लिखित 'बांबी' उपन्यास का सफल अनुवाद श्री सत्यप्रकाश जोशी ने प्रस्तुत किया है। जंगल के जीव अपने आपमें कितने सुखी हैं—उपन्यास में बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है, किन्तु मनुष्य (मिनख) के जंगल में प्रवेश करते ही उनका जीवन खतरे में पड़ जाता है। 'बांबी' हिरणी का नवजात बच्चा है जिसके जन्म पर सभी पशु पक्षी बधाई देने के लिए उपस्थित होते हैं—

"कनेड़ी उणनै देख्यो तो देखती ई री। डरफ सू चैचाट करनै पांखां फड़फड़ाती बोली—कैड़ो रूपालो टाबर है. कैड़ो फूठरो डावड़ो है। वा घड़ी घड़ी अणाव, चूचको न्हांकै। घड़ी घड़ी उणरो रूप बखाणै। उठा सूं उड़नै जंगल में ठौड री बधाई देवती फिरी। उणरी मीठी टमरकदूं सूं आखो जंगल गुंज उठ्यो। अर देखतां देखतां थोटी ई आस में समंचार सुणता पांण केई पंखी अर केई जिनावर उण दिस कानी उड़ता न्हाटता गिया।

—पृष्ठ 13

उपन्यास की भाषा में क्लिष्टता का दोष कहीं भी नहीं आ पाया है। कथानक, पात्रों, वातावरण एवं भाषा शैली की दृष्टि से रचना अनुवादित सी प्रतीत नहीं होती। प्रसंगानुसार स्थल-स्थल पर अलंकृत एवं साहित्यिक तथा नाटकीय (कथोपकथात्मक) शैली का प्रयोग किया गया है।

2. अलंकृत शैली :

राज कंवर का कुंजा रै असवाड़ै-पसवाड़ै चारू कानी माजूफल, बैंत अर बांसा री जाणै जाली गूंथियोड़ी ही। ऊंचा रूंखा माथै. पसरियोड़ी भांत भांत री बेलां री जाणै छतर तणियोड़ो ; ही। पाका उलिगोड़ा बोरा सूं लदियोड़ी बोरड़ियां जाणै लड़ावंती बींदणी री गलाई देलेवड़ी झिरयोड़ी ऊभी ही। पावंडा-पावंडा माथै बोरा रो घट लागो हो। धरती माथै घास री गलीचो पाथरियोड़ो हो। कुंज मे चारू कानी भांत भांत रै पुहुपां री महक छूटती ही। राजकंवर रा इण हरियल मैल में परभात री वेला सूरज री किरणां. री सोवन उजास. छण छणनै आवतो हो।

—पृष्ठ 18

3. ध्वन्यात्मक गद्य शैली :

अणगिणत पांखियां रो मीठां सुर जंगल में अखूट रस बरसावता। कबूतरां री गुटकरगूं, तूयांलियां री तूंगा, तूंगा, पपैया री पीयो, कोयलां री कुहू कहू, कमेड़ियां री टमरकटूं, मोहरां रा टहूका, कुरजां री कुरलाहट, तीतरां री किलकारियां, अर मैनां सूवटा, गुरगत्त रूपारेल, सुगन चिड़ी, चकवा, बया, बगुला, इत्यादं सरब पंछियां री मधर वांणी, जिण मायै इंदर री मजलिस इ पाणी भरै।

—पृष्ठ 18-19।

उपन्यास की भाषा-शैली मे स्थल-स्थल पर पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा—घड़ी-घड़ी, धपाधप, टुग टुग, होलं-होलं, धड़ धड़ आदि। रचना क्रम सीधा एवं उतरा-चढाव मे विशिष्ट से काव्यात्मक आनन्द की अनुभूति होती है एवं स्थल-स्थल पर चित्रात्मकता प्रस्तुत की गई है, यथा—

"मीठी सौरभ री भमरोलां उणरै मन की कली कली खिलगी।"

—पृष्ठ 28।

\+ \+ \+

"सावला झील मायं उणरी धोली टिपकियां सूरज रा पलकां सूं पलापल चिमकणं लागी।"

—पृष्ठ 45।

'बाबी' लघु उपन्यास के साथ साथ श्री सत्यप्रकाश जोशी ने चीनी भाषा के 'काला मिनख री डायरी' कथा का भी सफल अनुवाद किया है जिसकी भाषा मे राजस्थानी गद्य का प्रौढ एवं परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। शब्दों के संयन रूप के साथ साथ शैली मे मुहावरों, भावाव्यंजना तथा वाक्य रचना का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। अनुवाद सर्वदा किसी भाषा निर्माण पद्धति पर ही आश्रित हो सकता है। अतः इसी परम्परा की सीमा में राजस्थानी गद्य में अनूदित साहित्य की रचना होती है तो उसका स्वागत ही किया जायेगा।

4. वैज्ञानिक गद्य शैली :

वैज्ञानिक भौतिक जगत के स्थूल पदार्थों की व्याख्या करता है। साहित्य में ही नहीं अपितु हर समस्या एवं प्रवृत्ति के हल के लिए आज का मानव वैज्ञानिक धरातल की शरण लेता है। साहित्य के क्षेत्र मे प्रत्येक प्रवृत्ति का विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया जाने लगा है, यह एक मात्र अनुकरण की ही प्रक्रिया है। साहित्य मे वैज्ञानिकता, का अर्थ आधुनिकता से ही लिया जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति अपने आप मे आधुनिक है, वैज्ञानिक है। जहां तक भावो की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, युगानुकूल परिवर्तन इसे अपने अनुरूप अवश्य ही प्रभावित करता है। साहित्य और कला के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग सर्वप्रथम प्लेटो ने किया था। फ्रांसीसी आलोचक ब्रनेतियर ने साहित्य के क्षेत्र में विज्ञान की कार्य–कारण और वर्गीकरण आदि प्रणाली ग्रहण की। स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति की दृष्टि से इस शैली का प्रयोग समीक्षात्मक लेखों के माध्यम से प्रारम्भ हुआ था। आलोचना पद्धति में चाहे वैज्ञानिक प्रणाली को ग्रहण किया जा सकता है किन्तु साहित्य में वैज्ञानिक शैली नाम की कोई विशिष्ट प्रणाली नही है।

अभिव्यक्ति के किसी भी नये प्रयोग को जिसमें व्यक्तिगत भिन्नता हो; आज के साहित्यकार उसे वैज्ञानिक शैली का नाम दे रहे हैं। साहित्य के किसी भी वर्ग विशेष की अध्ययन प्रणाली में वैज्ञानिकता आना तो अच्छा है किन्तु प्रत्येक विषय को विज्ञान की कसौटी पर कसना एक मात्र दोष है। विज्ञान में परिवर्तन तीव्र गति से होता है जबकि साहित्य में मूल्य इतनी जल्दी नहीं बदलते। परिणामत: साहित्य निरन्तर विज्ञान से पिछड़ता (Out of date) चला जाता है। वैसे हर युग का सचेतक साहित्यकार वैज्ञानिकता को आधुनिकता के सन्दर्भ में महत्व देता ही चलता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि साहित्य में वैज्ञानिक शैली का स्वरूप क्या है ? इस सन्दर्भ में अभिव्यक्ति की दृष्टि से निश्चित सीमाएं एवं मानदंड तो निश्चित नहीं किये जा सकते किन्तु इतना कहा जा सकता है कि जिस अभिव्यक्ति में सत्य एवं सुन्दरता का गुण है वह वैज्ञानिक शैली कहलाने की अधिकारिन् है। साहित्य में वैज्ञानिक सत्यता का गुण आवश्यक है। अनर्गल एवं आवेगपूर्ण बातों से बचकर साहित्यकार यदि युग-बोध का स्पष्ट चित्रण करता है तो वह वैज्ञानिक शैली ही है। इस दृष्टि से प्रत्येक सशक्त अभिव्यक्ति अपने आप में वैज्ञानिक ही है।

वैज्ञानिक शैली की तरह साहित्य में विश्लेषणात्मक एवं इतिवृत्तात्मक गद्य शैलियाँ भी प्रचलित हैं किन्तु इनकी प्रकृति मूलतः समीक्षात्मक पद्धति की ओर अधिक है। विश्लेषणात्मक शैली समस्या विशेष के सन्दर्भ में 'सत्य क्या है और असत्य क्या ?' का रूप निर्धारित करती है जबकि इतिवृत्तात्मक शैली केवल वस्तु स्थिति के निरूपण में प्रयुक्त होती है, जिसमें भावना और कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुस्थिति का यथातथ्य चित्रण इस शैली की विशेषता है। उदाहरणार्थ—

"बापा रावल री वीर परम्परा, जिकी मेवाड़ में पीढी दर-पीढी चली आई, राजा राजसिंघ तक आकर पूर्ण प्रकाश-करता थकां अन्तर्ध्यान हुई। राजा राजसिंघ रै दरबार अर जिणै नै देख कर राजा भोज, राणा कुंभा रो स्वाभिमान, राणा सग्रामसिंघ को सूरापण, प्रताप री प्रतिज्ञा-पूर्ति-औ सगला' ही गुण राणा राजसिंघ में एकठा हा। राजस्थान अर मेवाड़ में राणा राजसिंघ यशस्वी भूपत हुया। पण उणां रै पोतां-पड़पोतां सूं उणां रै जस री जोत भी करवालां नीं जा सकी। फेरूं तो गया सांपा री लीकां ही फूटी। बां रजपूतां री दुनिया ही डुबी ही।"

—'मारवाड़ी समाज', श्री दामोदर प्रसाद—राजस्थान निबन्ध संग्रह, पृ. 1

साहित्य के माध्यम से कला एवं संगीत की अनुभूतियों को प्रकट करने की परम्परा राजस्थानी गद्य में प्रचलित रही है। अलंकारों की शक्ति के बल पर विचारों की ललित सृष्टि करने के कारण इसे ललित गद्य शैली के नाम से भी जाना जा सकता है। भावना एवं कल्पना के माध्यम से सौन्दर्य के अनेक पार्श्व प्रकट किये जा सकते हैं।

"कला रै सागै मापां रै जीवण रो घणो रूडो रूपालो सम्बन्ध है। तीज त्यूंहार, सुख-दुख स्वागत सत्कार, ब्याव-बधावणं कला रै मनमोवणं रूपरा पग-पग माथै दरसण हुवै। मिनख समाज रो कला रै प्रति भो प्रेम सहज भावसूं है। मिनखेर लुगायां आपरै हिवड़ै रा भाव जठै लोक गीतां, लोक कथावां, नाच र घूमर रै माध्यम सूं प्रगट करै, उठै कला रै माध्यम सूं पण इण प्रकार री भावनावां प्रगट करै जिण रो सोवणो रूप गीतां, कथावा रे नाच आदि मे देखण नै नही मिलै। कविवर रवीन्द्र नाथ जद चित्र-कला माथै आपरा विचार प्रगट करिया हुता उण वेला उवां कैयो कै हूं जिको वातां कविता, कहाणियां, रे उपन्यासा मे नहीं कैय सक्यो, हुवां भावां नै चित्रां रै माध्यम सूं प्रगट कर रैयो हूं। सायद भा ही भावना लोक मानस से भा लेखक कला रै प्रति पण हुवै।"

—गणगोर-पर्व र आलेखन कला

(श्री दीन दयाल ओझा)

साहित्यकार जीवन में बहुत कुछ ज्ञान एवं आनन्द प्राप्त करता है किन्तु वह उसे अपने तक ही सीमित नही रखना चाहता। वह साहित्य के बल पर उसे पाठकों तक पहुंचाना चाहता है। वह अपने पाठकों को कर्मरत भी बनाना चाहता है इसलिए वह बुद्धि की अपेक्षा अपने पाठको के हृदय को, उनके भाव तथा आवेग को जागृत करना चाहता है। अतः साहित्य की जिस अभिव्यक्तिगत विधि से वह इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता प्राप्त करता है, वही विधि शैली की दृष्टि से वैज्ञानिक कहला सकती है। राजस्थानी गद्य की प्रारम्भिक विधाएं एवं शैलियां प्रत्येक [illegible]ति में वैज्ञानिक कही जा सकती हैं किन्तु आधुनिक साहित्य मे अभी यह गुण नही आ पाया है।

राजस्थानी गद्य शैली में व्यंग्य और विनोद का सफल निर्वाह हुआ है। अनेक लोक कथाओं मे व्यंग्य और विनोद के दर्शन होते हैं जिससे शैली मे नवीनता एवं हास्य का पुट सम्मिलित हो जाता है। व्यंग्य और विनोद की सृष्टि कहावतो आदि के माध्यम से उत्पन्न की जाती है। विशेषता यह है कि ये मुहावरे, कहावतें एवं सूक्तियां यहां के वातावरण तथा जन जीवन से अनुप्राणित हैं, जैसे—

'ठगावै जिको ठाकर अर ठगै बो गठे—री कैवत मिनख पणै री पिछाण करण रो मान दण्ड। ठगाण रो अरथ दातारी अर ठाकर रो मतलब दातार। दातारी सरबस री अर दातार-उदार मन रो। गठी रो धंधो करणियो पग, जिकै री छल अर कपट रूपी दो पाटांरी मट्टी में मोठ तो कांई, घुण भी पिसीजै। जगती में ठाकर बिरलो, पण ठग घणा।"[1]

1. श्री सुमेरसिंह शेखावत, 'राजस्थान अर उणरो जीवण-दरसण'।

इसी प्रकार प्रचलित कहावतों एवं मुहावरों का शैली में प्रसंगानुसार प्रयोग किया जाता है। उदा,—नव पेगारे तेरह लागदो, पेठो एक तेरह लेवाल, अन्धेर नगरी अणबूझ राजा, टकै सेर भाजी टकै सेर खाजा, आदि। शैली में हास्य एवं विनोद का पुट भी सर्वत्र मिलता है। जैसे—

"पोपां बाई, राम राम।
नांव कियां जाण्यो ?
बणियारो देख रे।"[1]

(जिसकी शक्ल सूरत से बेवकूफी टपकती है उसे पोपा बाई कहा जाता है)।

× × × ×

'जाटड़ा किती' क रोटी खाज्याय रे—
कयां की—
बाजरा की। अ'ई कोई पाच-सात।
और गंवा री ?
जणा थारे कुण थारो बाप ?'[2]

बातों एवं लोक कथाओं में स्थल-स्थल पर हास्य विनोद के लिए 'मसखरी' का प्रयोग मिलता है। राजस्थानी गद्य में कहानियों के अन्तर्गत 'आत्म-चरित्र शैली', तथा नाटकों के साथ-साथ उपन्यासों एवं कहानियों में संलाप अथवा वार्तालाप शैली का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। यह शैली कहानी कला के विकास की देन है। इसे नाटकीय शैली भी कह सकते हैं। संवादों की प्रधानता इसका प्रमुख गुण है। बीच-बीच में वर्णनात्मक रूप भी मिलता है। आधुनिक कथा साहित्य में इसे सर्वाधिक वैज्ञानिक शैली के नाम से स्वीकारा जाता है। उदाहरणार्थ—

'भोजी !'
'हां, लाडी !'
'एक बात कंऊं ?'
'काई' र'
'...........................।'
'काई' बात रं ?'
'भोजी.....................।'
'की कंवो भी।'
'भोजी ! अबकै थांके गीगलो हुवेलो। हूं थांने पैली कंवू हूं।'

---

1. श्री अगरचन्द नाहटा, मरु-भारती, जनवरी 1969, पृ. 37।
2. श्री मुरलीधर व्यास।

'कांई ठा' ?' मुलकेर भौजी बोली । '[1]

तथा--

'थवै थक गया, दादी ! पाणी को चालीजै नी ।'

हूं कीयां थालू हूं, दादी !'

'देख बेटा ! भाई चालै है नी, चाल, देख चाल, चणो स्याणो है म्हारो बेटो ।'

'मेह-भाभी म्हाने कांई देसी, दादी !'

'लाडू ।'

'भलै' ?

'दूध, दही, रमतिया, गैणा ।'

साचै-ई, दादी ।'

हां, बेटा !

'नहीं, तू बिलमावै है ।'[2]

मुरलीधर जी व्यास के अतिरिक्त आधुनिक कहानीकारों मे राणी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, श्री लाल नथमल जी जोशी, विजय दान देथा, रावत सारस्वत, डा. मनोहर शर्मा, नानू राम संस्कर्त्ता, सौभाग्य सिंह शेखावत आदि की कहानियो मे इस शैली का वातावरण के अनुकूल प्रयोग किया गया है । विषयगत विभिन्नता की दृष्टि से आज का राजस्थानी गद्य समृद्ध तो नही कहा जा सकता किन्तु उसका विकास प्रत्येक स्रोत पर जारी है । बालोपयोगी साहित्य भी आधुनिक साहित्यिक प्रगति का परिचायक है । सरल-बोल चाल की भाषा, कथावस्तु मे संवाद योजना एवं छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग से अभिव्यक्ति मे आधुनिकता को स्थान दिया जा रहा है ।

साहित्य की उपयोगिता मात्र मनोरंजन के लिए ही नहीं है, अपितु उसे जीवन के लौकिक सत्य को भी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहिये । इस कार्य का संचालन एक मात्र समर्थ-शैली ही कर सकती है । अतः इस तथ्य को स्वीकार किया जाना चाहिए कि शैली लौकिक सत्य से अनुप्राणित होनी चाहिए । आधुनिक राजस्थानी गद्य मे इस प्रकार की वैज्ञानिक शैली का विकास प्रारम्भ हो गया है ।

5. लौकिक सत्य से अनुप्राणित शैली :

'बखत का बाया मोती नीपजै । उणरी ओजस्वी वाणी गवाड़ आला नै उत्तेजित कर दिया । गवाड़ रा सैंग लोग तुरत भड़क उठ्या । मेला हुयग्या । वाणै

1. श्री बैजनाथ पंवार, 'जापो'--मरुवाणी, वर्ष 6, अंक 9, पृ. 6 ।
2. श्री मुरली धर व्यास, बरस गांठ, पृ. 11 ।

ओजूं कयो—'इण रो मतलब तो ओ हुयो के जिके री लाठी उण री भैंस ! जिको लूंठो हुवैलो वो हरेक री बहू-बेटिया रा बुकिया भाल नैं घींस ले जावैलो ?'

—श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'—हूंगोरी किए पीव री, पृ, 61

आधुनिक राजस्थानी गद्य मे उपन्यास, कहानी, नाटक निबन्ध एवं कुछ अन्य विशिष्ट रचनाओं का रूप सामने आने लगा है। किसी भी समृद्ध साहित्य के लिए इतना गद्य पर्याप्त नही होता। ब्रिटिश काल में राजस्थानी साहित्य का प्रकाशन सम्बन्धी कार्य प्रगति नहीं कर सका किन्तु इसके पश्चात् की प्रगति को भी सन्तोषजनक नही कहा जा सकता। प्रस्तुत विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी भाषा शैली की विविधता की दृष्टि से पूर्णतया समृद्ध है, सशक्त है, आवश्यकता मात्र प्रयास एवं आस्था की है। जीवित भाषा मे विषय और शिल्प का अभाव नही रहता। पत्रिकारिता के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है वह तो सराहनीय है किन्तु मौलिक रचनाओं का अभाव तो खटकता ही है। राजस्थानी की आधुनिक शैलियों पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब इसके विशिष्ट शैलीकारों का साहित्यिक परिचय भी दिया जाना आवश्यक है।

आधुनिक गद्य शैलियां राजस्थानी भाषा के लिए उपयुक्त हैं या नहीं ?

राजस्थानी गद्य की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत जिन प्रचलित शैलियों का उल्लेख किया गया है उनमे अधिकांश परम्परागत साहित्य से सम्बद्ध हैं। अपेक्षाकृत राजस्थानी गद्य का विकास अन्य सजातीय भाषाओ से पहले हुआ था अतः अभिव्यक्ति की शैलियां स्वभावतः पुरानी हैं, भरपुर हैं, समृद्ध हैं एवं सहज भी। थोड़े से शब्दों एवं सरल वाक्यो मे वहां गहरी बात कहने की परम्परा रही है। यह कहना मिथ्या होगा कि राजस्थानी गद्य की शैलियो का विकास हिन्दी अथवा अंग्रेजी साहित्य की प्रेरणा अथवा उसके अनुरूप हुआ है। हां, नये प्रयोगों एवं परिवर्तनों का उस पर प्रभाव अवश्य पड़ा है। राजस्थानी अपने स्रोत के अधिक निकट है। इसकी अपनी साहित्यिक, सांस्कृतिक एव ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। विविध विधाओं के अन्तर्गत इसका प्राचीन गद्य साहित्य भरपूर है। एक ओर थोड़े से शब्दों में तथा सरल वाक्यों में जहां मार्मिक अभिव्यक्ति की जाती है वहां दूसरी ओर अभिव्यंजना शक्ति का भी प्रयोग दृष्टव्य है। निबन्ध—रेखाचित्र एवं संस्मरण साहित्य के अन्तर्गत राजस्थानी ने हिन्दी, अंग्रेजी एवं अन्य सजातीय भाषाओ से विषय एवं अभिव्यक्तिगत विशिष्टताएं ग्रहण की हैं किन्तु उनमें भी उसकी प्रकृति जनित मौलिकता स्पष्ट प्रकट होती है।

आधुनिक गद्य शैलिया राजस्थानी गद्य के लिए पूर्णतया उपयुक्त हैं। विवरणात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक एवं व्याख्यात्मक शैलियो ने मात्र परम्परागत विधाओं का ही स्थान लिया है, वैसे आज भी नये विषयगत उपकरण धारण करके

प्रवाहित हो रही है। नया गद्य साहित्य विस्तार की दृष्टि से प्राचीन गद्य से कम ही है किन्तु इसमे सामाजिक पक्ष अधिक उभर रहा है। प्राचीन गद्य मे जन सामान्य का चित्रण बहुत कम हुआ है, उसका क्षेत्र सामन्ती परम्परा का चित्रण करने तक ही सीमित रहा। आज के साहित्यकार की दृष्टि ऐतिहासिक पक्ष पर उतनी नही है जितनी कि सामाजिक पक्ष पर है। आज का साहित्यकार स्वस्थ्य चिन्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत युग बोध को पहचानने का प्रयत्न कर रहा है तथा सूक्ष्म एवं नये विचारो को वहन करने की क्षमता धारण करता जा रहा है। उचित वातावरण की सृष्टि एवं स्थानीय रंगत (Local Colour) आज के साहित्यकार के लिए आवश्यक तत्व बन गये हैं। प्राचीन राजस्थानी गद्य मे विषयानुसार अभिव्यक्ति (शैली) का अभाव था किन्तु आज यह समस्या पूर्णतः समाप्त हो चुकी है। हां, निबन्ध एवं नव विकसित विधाओ के पूर्ण विकास के अभाव में साहित्यिक, विवेचनात्मक एवं व्यंग्यात्मक गद्य शैली का अभी पूर्ण प्रसार नही हो सका है।

पंचम–प्रकरण

प्रमुख नये शैलीकार और उनके उद्धरण

राष्ट्रीय जागरण की प्रेरणाओं ने न केवल राजनैतिक जागृति प्रदान की अपितु सामाजिक चेतना का विकास भी प्रारम्भ हुआ। सामाजिक चेतना के माध्यम से साहित्यकार भी इन परिस्थितियों से प्रभावित हुए एवं सामाजिक सुधार की प्रेरणा पाकर साहित्य-सृजन के क्षेत्र में जुट गये। अभी तक जो साहित्य प्रचलित था वह सामन्ती एवं धार्मिक पर्यावरण में घिरा हुआ था। विषय को छोड़कर शिल्प की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि एक समय था जबकि राजस्थानी गद्य की प्रगति सफलता के उच्च शिखरपर पहुंच चुकी थी, किन्तु हिन्दी के स्वरूप और सम्मान की समस्या ने उसे क्रमागत ह्रास की ओर ढकेला। राजस्थानी को इसी अवस्था मे चाहे कितना ही उलट-फेर देखना पड़ा हो किन्तु यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि 13वी से 19वी शताब्दी तक का राजस्थानी गद्य हिन्दी की जड़ को किसी न किसी रूप मे पल्लिवत एवं पुष्पित अवश्य करता रहा है।

राष्ट्रीय जागरण की प्रेरणाओं के अतिरिक्त राजस्थानी लोक जीवन मे प्रचलित 'ख्याल' एवं कठपुतली (लोक नाट्य परम्परा) से आधुनिक राजस्थानी गद्य को सम्बल अवश्य मिला है। ख्याल परम्परा से प्रभावित होकर अनेक नाटककार प्रकाश में आये तथा उन्होंने धार्मिक एव ऐतिहासिक महत्व के महा पुरुषो पर लोक नाटकों (ख्याल) की रचना की। खुले रंगमंच पर पद्य मिश्रित गद्य मे इन लोक नाटको का प्रदर्शन होता था। भक्त पूर्णमल, सत्यवादी हरिश्चंद्र, भक्त प्रहलाद, भक्त ध्रुव, गोपीचन्द भरथरी, रूप बसन्त एवं राठौड़ अमर सिंह आदि के ख्याल आज भी लोकजीवन मे बहुत प्रसिद्ध हैं। लोक नाटकों की यह परम्परा राजस्थान मे बोली के आंशिक भेद के साथ जन जीवन मे प्रचलित रही। परिस्थितियों ने मोड़ लिया एवं नाटककारों ने भी युग-बोध को पहचाना तथा इसी परम्परा के अनुसार सामाजिक नाटकों की रचना का भी श्रीगणेश किया। अतः इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य का विकास भी हिन्दी गद्य की तरह कथा साहित्य के साथ-साथ नाटकों से ही प्रारम्भ हुआ। इस काल के प्रथम नाटककार श्री शिवचन्द जी भरतिया हैं जिनके साहित्य पर पृथक् से प्रकाश डाला जा रहा है। अन्य प्रमुख शैलीकार हैं–श्री गुलाबचन्द नागोरी, भगवती प्रसाद दारुका, बद्रीप्रसाद-साकरिया एवं सूर्यकरण पारीक आदि।

1. श्री शिवचन्द भरतिया :

राजस्थानी साहित्य की संस्कृति को पुनर्जिवित करने मे इन्होंने एक प्रेरक तत्व के रूप मे कार्य किया। केवल भाव की दृष्टि से ही नही, अपितु शिल्प की दृष्टि से भी राजस्थानी गद्य की शैली पुष्ट होती गई तथा प्रेरणा पाकर नए-नए लेखक प्रकाश मे आने लगे। देश की आजादी की इच्छा, प्राचीन संस्कृति की आधुनिक एव वैज्ञानिक आधारों पर पुनर्स्थापना करना एवं समाज-सुधार की भावना आदि अनेक सम्बल थे जिन्होंने श्री भरतिया जी को प्रभावित किया एव यही दृढ विचार-धारा उनके साहित्य का आधार भी बनी। श्री भरतिया जी ने राजस्थानी नाटक रचना का सूत्रपात किया अतः उन्हे आधुनिक राजस्थानी गद्य का प्रथम नाटककार स्वीकार किया जा सकता है।

श्री भरतिया द्वारा रचित राजस्थानी साहित्य

1. नाटक :

केसर विलास (अनुपलब्ध)
फाटका जंजाल
बुढापा की सगाई (लघु नाटक)
मोतियो की कठी
सगीत मान कुंवर
उपन्यास–कनक सुन्दर (अपूर्ण)
अन्य वैश्य प्रबोध, विश्रान्त प्रवासी और बोध दर्पण।

'बुढापा की सगाई' नाटक में कन्याओं पर समाज द्वारा किये गये अत्याचारों एव अनमेल विवाह से उत्पन्न सामाजिक बुराइयों का चित्रण किया गया है। 'मोत्यां की कंठी' मे धार्मिक एवं सार्वजनिक उत्सवों पर की जाने वाली फिजूल खर्ची, स्त्रियों की वेश-भूषा एवं वृद्ध विवाह आदि का वर्णन है। 'कनक सुन्दर' उपन्यास की रचना सन् 1915 मे की गई थी जिसे राजस्थानी का प्रथम औपन्यासिक प्रयोग स्वीकार किया जा सकता है। इसका मात्र एक भाग ही प्रकाशित हुआ,- दूसरा सम्भवतः लिखा ही नही गया। प्रथम भाग भी आज अप्राप्य है। डा. शिवस्वरूप शर्मा अचल के अनुसार–"इसमे मारवाड़ी जीवन का सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। आदर्शवादी दृष्टिकोण से यह उपन्यास लिखा गया है। सामाजिक सुधार-भाव इसका प्रधान प्रेरक रहा है। नाटकों की भांति श्री भारतिया के इस उपन्यास की भाषा मे प्रवाह एव शक्ति है।"[1] प्रस्तुत उपन्यास घटना व वर्णन-प्रधान कृति है। विविध उद्धरणों के आधार पर प्रकट होता है कि इसकी भाषा शेखावाटी बोली के निकट है जिस पर खड़ी बोली व गुजराती का प्रभाव स्पष्ट है।

श्री भरतिया के 'केसर विलास' नाटक से राजस्थानी की साहित्यिक पुनर्जा-

---

1. डा. शिवस्वरूप शर्मा 'अचल' राजस्थानी गद्य साहित्य पृ. 183।

गृति की भूमिका प्रारम्भ होती है। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि कृतियों की रचना होने के पश्चात् यहां आलोचना की साहित्यिक विधा प्रारम्भ हुई। यों तो राजस्थानी गद्य साहित्य मे नाटकों की परम्परा का विकास 13 वी शताब्दी से रास ग्रन्थों के अन्तर्गत माना जाता है तथा सन् 1903 मे श्री भगवती प्रसाद दारूका का "वृद्ध विवाह" प्रकाशन मे आया किन्तु साहित्यिक एव रंगमंच की दृष्टि से श्री भरतिया की मारवाड़ी बोली में 'केसर विलास' प्रथम नाट्यकृति है। अपने व्यक्तित्व के बल पर अपनी कृतियों मे उन्होंने हिन्दू समाज (मूलत: मारवाड़ी समाज) की दुर्बलताओं का यथार्थ चित्रण किया है।

"फाटका जंजाल" नाटक का मूल स्वर है—जूआ पाप है—जंजाल है।" धन्यवाद ज्ञापन करते समय श्री भरतिया जी ने प्रारम्भ मे ही यह संकेत दिया है कि ये समस्त नाटक मारवाड़ी बोली में ही लिखे गये हैं। इनके नाटकों का सामान्य दोष आज की परिस्थितियों मे यह है कि पात्रों की संख्या अधिक होने के कारण रंगमंच की दृष्टि से उत्तम प्रतीत नही होते। स्त्री पात्रो की भरमार भी दर्शको अथवा पाठकों को अखरती है। व्यवसायी वर्ग मे व्याप्त कुरीतियों की ओर संकेत करने के कारण इस कृति का नामकरण भी "फाटका जंजाल" किया गया है। कथानक की महत्त्व-पूर्ण भूमिका मे सेठ किसन जी (अग्रवाल महाजन), उसका छोटा भाई बृजलाल जी एवं परिवार के अन्य सदस्य हैं। कथानक मे प्रवाहगत शिथिलता है जो इनके अन्य नाटकों में भी मिलेगी। वाक्य छोटे-छोटे किन्तु संवाद बड़े-बड़े हैं तथा अन्य नाटको की तरह उनमें दार्शनिक उपदेश प्रकट किये गये हैं। स्थल-स्थल पर कहावतो एवं मुहावरों का भाषा शैली मे प्रयोग किया गया है। जैसे—

"नाक सल घाल्यो नही, पूत का पग पालणे, कढी बिगाड, हारयो जुवारी दूणो रमे, आदि"। लौकिक सत्य को भी उक्तियो मे स्पष्ट किया है—भाई साब, दुनिया माहें दो ही बाता छै—"भीतड़ा के—भीतड़ा।"

स्थल-स्थल पर पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग सौन्दर्य वृद्धि के लिए किया गया है। जैसे—लाड लाड माई, सौदा-सूत, जंवाई—भाई, सगा सोई, गीत गाल, हंसी ठठ्ठा, गहणों गांठो, कपड़ो लत्तो आदि। उर्दू-फारसी एवं अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी आवश्यकता से अधिक हुआ है। उदाहरण—सलाह मसलत, तशरीफ, *गुजरा, गुजारिश, परमेसरी नोट, एजेन्ट, मैनेजर, कारडिग मास्टर, इजेनर,* शेयर-होल्डर आदि।

भाषा-शैली में एक दोष यह भी है कि मराठी भाषा का प्रयोग पात्रो के मुख से धारावाहिक रूप से कराया है एवं स्थल-स्थल पर संस्कृत के श्लोकों की भरमार भी शैली के प्रवाह को शिथिल कर देती है। भाषा-शैली मे खड़ी बोली (हिन्दी) का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

उदाहरणार्थ—

राधा—फेर म्हे काय ने रही हूं? पैसा के लारे ही सारी बातां छै। मां-बाप,

भाई-बहण, बेटा-बेटी, सासु-सुसरा, लुगाई-कबीलों, दोस्त-मितर, भाई-बन्द, सगा-सोई सारा पैसा के लारै छै।"[1]

स्थल-स्थल पर दोहों एवं गजलों का प्रयोग भी आवश्यक से अधिक ही हुआ है शैलीगत विविधता का अभाव है। भाषा के प्रवाह में शेखावटी का रूप दृष्टिगोचर होता है। जैसे–

2 विवेचनात्मक शैली :

भाई साब, घड़वा सूं ज्यूं ज्यूं भाटा का देव बण जाया करे छ। ह्यूं आदमी भी घरबा सूं अवतारी हो जाया करे छै। करवा सूं ही कुछ हुवा करे छै। आप ब्याव मांई कुछ करणों विचार्‌यो जरां तो सारी बात बण गई के नहीं ? नहीं तो हार मानकर बैठ जाता तो आपने आपको लेख तोड़बा को अपजस मिलतो और लेख टूट जाणे सूं मारवाड़ी जाति को बडो नुकसान हो जातो।"[1]

अर्थ तन्त्र की दृष्टि से विचारों में आधुनिकता का रूप तो दृष्टि-गोचर होता ही है किन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी श्री श्री भरतिया जी की भाषा-शैली जीवन के अधिक निकट जान पड़ती है। अभिव्यक्तिकरण की स्पष्टता, सरलता एवं व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता आदि गुण इनकी भाषा-शैली में सर्वत्र हैं। इनकी भाषा इनकी आन्तरिक भावनाओं का इतना मार्मिक चित्र उपस्थित करती है कि शब्दावली से ही स्पष्ट हो जाता है कि लेखक के हृदय मे वर्तमान को साकार करने मे भावावेश की कैसी प्रबलता है।

3. श्री गुलाबचन्द नागोरी :

श्री शिवचन्द्र भरतिया के नाटकों से प्रभावित होकर उसी परम्परा मे श्री नागोरी ने "मारवाड़ी मौसर" एवं "सगाई जंजाल" नाटको की रचना की जो संवत 1973 में एक ही संकलन में प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त लुगायां की सभा, ओढणी, बेटी की बिक्री, बहू की खरीद भोल्यां की माला, मारवाड़ी पगड़ी और लुगायां की लाज शीर्षक के अन्तर्गत सामाजिक विषयों पर छोटे छोटे नाटक (जिन्हें एकांकी के अन्तर्गत रख सकते हैं) लिखे किन्तु प्रकाशित नहीं हो सके तथा यह सामग्री आज उपलब्ध भी नही है। आपने अन्य भाषाओं से राजस्थानी मे अनुवाद कार्य भी किया। दोनो नाटकों मे क्रमशः मृत्युभोज एवं सगाई को सामाजिक रूढियो से ग्रस्त मानकर उनकी कटुआलोचना की है। नाटको की भाषा शेखावटी है जिस पर गुजराती एवं खड़ी बोली का प्रभाव प्रतीत होता है। भाषा मे रोचकता है एवं ओज गुण युक्त है। भाषा शैली में मुहावरों एवं लोकोक्तियो का सफल प्रयोग हुआ है। कथोप-कथन में व्यंग्यात्मक का गुण है किन्तु कहीं-कहीं संवाद इतने लम्बे बन पड़े हैं कि कथानक के प्रवाह को शिथिल कर देते हैं। जैसे–

1. शिवचन्द भरतिया : फाटका जंजाल

"आप मूलो छो। एक बात में खूब उत्साह बंधावे छै। मोसर संबंधी खर्च करवाने तो आपकी सब शक्ति खर्च कर उत्साह की बातें बोलकर मुंजी ने दिलदार बुजदिल, डरपोक ने हिम्मती और नामरद ने मरद बणा देवे। इण बात में मदद देवाने मे कमी करे नही। घर जमीन खेत गैणा वगैरे गिरवी लिखाकर मोसर रो खर्च करवा ताई रुपया देकर आगला की इज्जत रखण करवाने लारे आगे थोड़ा ही देखे छ। आपसरी को प्रेम बतावा की किसीक उमदा रीत छै।"[1]

रंगमंच की दृष्टि से इतने बड़े संवाद सफल सिद्ध नहीं होते, फिर भी भाषा की सरलता के कारण शैली में सहजता का गुण है। भाषा पूर्णतया शेखावटी से प्रभावित है।

4. भगवती प्रसाद दारुका :

सामाजिक बुराइयों के सुधार की प्रेरणा से प्रभावित होकर श्री दारुका जी ने साहित्य क्षेत्र मे प्रवेश किया। श्री दारुकाजी ने राजस्थानी भाषा में पांच नाटक लिखे जो "मारवाडी पंच नाटक" के नाम से एक ही संकलन में सं० 1988 मे प्रकाशित हुए थे। नाटकों के नाम है–वृद्ध विवाह, बाल विवाह, ढलती फिरती छाया कलकतिया बाबू और सीठणा सुधार। "वृद्ध विवाह" मे अनमेल विवाह स्त्री जाति की दुर्दशा एवं वेश्या वृत्ति का चित्रण किया गया है। नाटक का कथानक यथार्थ पर निर्भर है। वृद्ध पुरुष बिस्तूर मल पत्नी की मृत्यु के पश्चात् 50 वर्ष की आयु मे घर वालों के विरोध करने पर भी पोलीराम की इकलौती पुत्री मनभावती से 10 हजार रुपये देकर विवाह कर लेता है किन्तु मनभावती के जीवन मे संतोष एवं आनन्द की अवस्था नहीं आ पाती। वह पं० प्रेमसुख नामक युवक से पढाई के बहाने से प्रेम-व्यवहार प्रारम्भ करती है तथा अवसर पाकर सेठ पोलीराम का सारा धनमाल लेकर पं० प्रेमसुख के साथ कलकत्ता चली जाती है। इधर पोलीराम को जीवन से इतनी विरक्ति हो जाती है कि वह अपने अन्तिम समय को पवित्र बनाने के लिए सन्यास लेकर बनारस चला जाता है।

'बाल विवाह' नाटक मे लेखक ने बाल विवाह के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है। ढलती फिरती छाया में राजस्थान के विपन्न समाज का चित्रण एवं कलकतिया बाबू मे वेश्यावृत्ति से उत्पन्न सामाजिक बुराइयों का उल्लेख किया है। सीठणा सुधार में उन गीतों की ओर संकेत किया है जो हमारे विवाह आदि पर्व पर सगे सम्बन्धियों को चिढ़ाने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं। श्री दारुकाजी ने नाटकों मे तत्कालीन समाज मे व्याप्त कलुषित वातावरण का मर्म स्पर्शी चित्रण किया है। पूंजीपतियों की स्वार्थ परक प्रवृत्ति का व्यंग्यात्मक शैली में चित्रण किया है। उदाहरण—

'अ' देश मे तो कोई रकम को रूजगार-बिवार है नई। अठे रूजगार चोखो

1. श्री गुलाबचन्द नागौरी : मारवाडी मोसर और सगाई जंजाल, पृ० 21।

हो तो परदेश जांणे की कैं जरूरत थी। म्रैं ठई रूजगार कर लेता। इतणा इतणा लखपति करोड़पति अै देश का परदेश मे रहे हैं। पण इणा को ध्यान मे आपकी जलम भोम में रूजगार फैलाणे को बिल्कुल नई है। सुख से परदेश में रवैं हैं। मूंछा पर ताव लगावैं है। गद्दी पर तकिया के सहारे बैठ्या भोज उड़ावे है। वैं के जाणें देश मे रूजगार कई होणे से सावण का म्रान्दा हुयोड़ा नें तो सदा हर्यो-हर्यो दिखशा करै हैं। वे आप सुख से रवैं है जणा दुःख का हाल कैं जाणैं।'[1]

श्री दारुका जी की भाषा पर खड़ी बोली का प्रभाव तो सर्वत्र ही प्रकट होता है, साथ ही उन्होंने अपने नाटकों में पात्रों के मुख से खड़ी बोली का वार्त्तालाप शैली मे धारा प्रवाहिक उच्चारण कराया है। कहावतों एवं मुहावरों का प्रयोग तो सर्वत्र किया ही है।

5. भाषा-शैली में खड़ी बोली का प्रयोग :

रंगलाल--'मुरली की मां क्या यही तुम्हारा धर्म है? मेरी म्रर्द्धांगिनी होकर मेरी ही मान-मर्यादा में बट्टा लगाती हो। मैं तो सीठणे हटाने की चेष्टा करूं उसे तुम प्रसन्नता पूर्वक गावो म्रौर सुनो, तो क्या जगत् में तुम कलंकिनी न कहावोगी?

मुरली की मां--ये गीत म्रौर सीठणा से इतना क्यों चिड़ी हो। वृथा दुःख मने क्यूं करो हो'?[2]

श्री दारुका जी की रचनाम्रों पर बाबू भारतेन्दु की रचनाम्रों एवं उनकी विचार धारा का गहरा प्रभाव प्रकट होता है। विषय वस्तु की दृष्टि से वे एक दूसरे के म्रत्यन्त निकट हैं। श्री दारुका जी ने गद्य-शैली के विभिन्न रूपों की नींव डाली म्रौर भाषा का एक परिमार्जित म्रौर चलता रूप स्थिर किया। उनका योगदान इसी में है कि राजस्थानी गद्य-शैली की अव्यवस्था को हटाकर उसे एक परिष्कृत एवं निश्चित मार्ग पर ला खड़ा किया। उनके इसी योगदान को देखकर डा. रिखब भण्डारी ने तो उन्हें राजस्थानी का 'भारतेन्दु' स्वीकार किया है।[3]

कहानियों के रूप मे 'एक मारवाड़ी की बात' (रहस्यमयी घटना) प्रकाशित हुई थी जिनके संवाद राजस्थानी में है तथा दोनों ही कहानियों मे स्थानीय चित्रण (Local colour) मिलता है। प्रवासी मारवाड़ियों की सामाजिक स्थिति का चित्रण करना एवं सामाजिक कुरीतियों को दूर करना ही उनकी कहानियों का उद्देश्य रहा है। कहीं-कहीं जासूसी म्रौर तिलस्मी उपन्यासों की तरह इनमें चमत्कारिता एवं म्राकस्मिक सयोग का विशेष चित्रण हुम्रा है।

---

1. श्री दारुका : ढलती फिरती छाया; पृ. 275।
2. श्री दारुका : सीठणा सुधार, पृ. 377।
3. डा. (श्रीमती) रिखब भंडारी; आधुनिक राजस्थानी गद्य, पृ. 58।

6. श्री बद्रीप्रसाद साकरिया :

आधुनिक राजस्थानी के गद्य को समृद्ध करने में प्रारम्भिक लेखकों में श्री साकरिया जी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उन्होंने मात्र एक ही उपन्यास-*'ग्रनोखी भाव'* की रचना की किन्तु आगे आने वाले लेखकों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य किया। प्रस्तुत उपन्यास के कथानक को उन्होंने किसी साधारण व्यक्ति से सुनकर लिपिबद्ध किया। कथा कहने वाला राजस्थानी के साथ-साथ अरबी, फारसी एवं खड़ी बोली का भी प्रयोग करता था अतः स्थान-स्थान पर इन भाषाओं के शब्दों एव वाक्यों का रूप देखने को मिलता है। भाषा की दृष्टि से इसे शुद्ध राजस्थानी उपन्यास नहीं स्वीकार किया जा सकता मात्र विषय और संवाद-योजना की दृष्टि से इसे राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उपन्यास अर्द्ध ऐतिहासिक है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक 17वीं शताब्दी की एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। वीर 'तोगा जी' ने देश की रक्षा के लिए अपना बलिदान दिया। तोगा जी के इस बलिदान की गाथा जन-जन में फैली हुई थी; जिसे साकरिया जी ने इस उपन्यास में प्रकाशित किया। इससे पूर्व भी यह कथा गुजराती भाषा में भी लिपिबद्ध हुई है। 'वीर तोगा का वर्णन दयाल दास की ख्यात में भी है।

उपन्यास की भाषा-शैली सुव्यवस्थित, ओज प्रधान एवं प्रवाहपूर्ण है। कहीं-कहीं कथा को संवादों के बल पर बढ़ाया गया है जिनमें सजीवता है। भाषा अपेक्षाकृत परिमार्जित एवं परिष्कृत है। कहीं-कहीं गीतों का योजना करके नये प्रयोग का सूत्रपात किया है। कुछ गीत हिन्दू-मुस्लिम एकता के सूचक हैं जबकि कुछ में देश महिमा की भावना है। कहीं-कहीं लोरियों, दूहों एवं छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु वे सुन्दर नहीं बन पड़े हैं। पात्रों के पारस्परिक संवादों में खड़ी बोली हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। कथोपकथन में कहीं-कहीं संवाद इतने लम्बे पड़े हैं कि वे कथा प्रवाह को शिथिल कर देते हैं। व्यंग्यात्मक कथोपकथन भी हैं किन्तु उनमें स्वाभाविकता एवं तीव्रता का अभाव है।

7. व्यंग्यात्मक कथोपकथन :

'सरदारा ! ये बीड़ा रै सामां ही नहीं जोवो। नीचा मायो घाल ने बैठा सो थारे माये कोई छीया फिर गई के बिजली पड़ गई। थोड़ो ऊंचो तो देखो नें रजपूति रै वर को तो की विचार करो। थारै रगत रो लें थांरी अरधांगी कहवी जए वाली थारी ठकराणियां पै थांने इतो ही भरोसो कोनी ? म्हैं आज सूं आ बात समझांला के रजपूता रो रगत पलत गियो।' (ग्रनोखी आन)

पात्रानुकूल कथोप-कथन के अन्तर्गत शाहजहां और मीर के मुख से उर्दू का, एवं महाराज जयसिंह, वीर तोगा व उनकी माता के पारस्परिक वार्तालाप में राजस्थानी का प्रयोग कराया गया है। विवाह के पश्चात् प्रेम से कर्त्तव्य को अधिक

महत्त्व देने के लिए तोगाजी सबमें आग्रह करने पर भी शयन कक्ष में नहीं जाते और कहते हैं :

'दुनियां सूं एक दिन जरूर जाणो है । राजपूत नै मांचा में पड़िया रहनै मरण री म्होटो गहणों है । जणणी रा चूंघियोड़ा नहीं लजाय–एक रजपूत हुवण रो नै मरनै अमर हुवण रो ओ अमोलो टाणो म्हारा रणबंका राठौड नहीं ज चूकैला । मारवाड़ रा रजपूतां रो तो ओ विड़द है के इजां रो उपगार करता करतां ही ज मर मिटणों और जिण में ओसलो आपणो घर रो ही ज काम है । सो जिण सरदार नै ओ भरोसो हुवै के उण रो माथो पड़ियां पछै उण री धड़ लड़ैला नै धड़ पड़िया पछै उणरी ठकरांणी उण रैं लारैं सती हुय जावैला, वो सरदार आगै आय नै ओ बीड़ो उठाय ले ।'[1]

इस उद्धरण में व्यंग्य के साथ-साथ ओज गुण के दर्शन होते हैं तथा वीर रस की भावना का पाठकों मे परिपाक होता है । श्री दारका जी की भाषा-शैली का यह एक गुण रहा है कि जिन स्थानो पर विचार कुछ अधिक प्रबल होते हैं उन स्थानों पर स्वभावतः उनकी भाषा अधिक संयत एवं वाक्य-विन्यास अधिक प्रभावशाली होता है । उनके भाव प्रकाशन में भी एक प्रकार का ओज रहता है, प्रवाह रहता है । श्री साकरिया जी व्यंग का बड़ा सुन्दर और आकर्षक उपयोग करते हैं । उपर्युक्त अवतरणों से उनकी व्यक्तित्व–विधायिनी गद्य-शैली का स्वरूप स्पष्ट होता है ।

8. सूर्यकरण पारीक :

आधुनिक राजस्थानी के प्रारम्भिक गद्य लेखकों की शृंखला में श्री पारीक जी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । उन्होने राजस्थान के अतीत और वर्तमान के त्याग और बलिदान की भावना को चित्रित किया है । डा. मोतीलाल मेनारिया ने उनकी शैली के बारे मे लिखा है, "किसी बात को केवल लिख देना मात्र ही साहित्य नही है, जब तक कि उनमे लिखने के ढंग मे कुछ विशेषता या अनूठापन न हो । इसलिए जिस बात को वे लिखते उसे हृदयग्राही एवं रमणीय ढंग से लिखते थे, कि उनके विचारों से सहमत न होते हुए भी पाठक के दिल पर उनकी छाप बैठ जाती थी । इनकी लेखन शैली स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल की शैली से बहुत मिलती जुलती है ।"[2]

श्री पारीक जी ने वेलिकृष्ण रुकमणी री, ढोला मारू रा दूहा, राजस्थानी के लोकगीत एवं राजस्थानी वातां आदि अनेक ग्रन्थों का संपादन किया । राजपूती वीरता का जीवित चित्रण करने के लिए उन्होने 'बोलावण' नाम का एक छोटा सा नाटक जिसे हम एकांकी भी कह सकते हैं, लिखा है । इसमे एक अंक एवं दः दृश्य हैं । प्रस्तुत नाटक की भाषा बोलचाल की है । संवाद-योजना इतनी स्वाभाविक है

1. श्री बद्रीप्रसाद साकरिया : अनोखी आन, पृ. 40 ।
2. डा. मोतीलाल मेनारिया राज. भाषा और साहित्य, पृ. 250 ।

कि यह पात्रों के स्वभाव को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ है। मुहावरों का प्रयोग भी भाषा शैली मे मिलता है। महाजन का पुत्र विवाह के पश्चात् अपनी पत्नी सहित जब लौट रहा था तो रास्ते मे डाकू उसको लूट लेने का उपक्रम करते हैं किन्तु ठाकुर के पुत्र मे राजपूती वीरता उभर पड़ती है:—

"बोला रहवो सेठजी। घरनी निछंणी नहीं हुई मैं भी राजपूताणी का चूंग्या छैं, शरीर रहता चोरा रो कांई माजनो ओ हाथ घालै। पहला म्हारो डील पड़सी, पछां इणां रैं और थारैं मन में होवे सो करज्यो। (तलवार खींच कर) धाड़ेती से-पग मांहो कायरो, देखूं थारी रजपूताई किसीक छैं।"[1]

भाषा की विभिन्न शैलियो के स्वरूप-संघटन मे श्री पारीक ने जो योग दिया है वह कई अर्थों में अभूतपूर्व है। उपर्युक्त उद्धरण की ओज युक्त शैली से ज्ञात होता है कि चिंतन की इतनी स्वच्छता और भाषा-शैली का ऐसा प्रौढ़ रूप अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

आधुनिक राजस्थानी गद्य के विकास मे जिन अन्य गद्यकारों का विशेष योगदान रहा है उनके साहित्य का शैली गत विवेचना यहां आगे किया जा रहा है तथा ऐसे कृतिकार जिनका साहित्य परिमाण की दृष्टि से कम है उनका उल्लेख इसके बाद किया जाएगा।

9. श्री मुरलीधर व्यास :

श्री मुरलीधर व्यास की कारयित्री प्रतिमा उनके व्यक्तित्व की अनुकृति है। अपने प्रेरक व्यक्तित्व के प्रभाव से उन्होने आधुनिक राजस्थानी साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया एवं राजस्थानी साहित्य मे सूक्ष्म चिन्तन, व्यक्तित्व के अनुरूप विचारों की अनुभूति को महत्त्व दिया। अपनी अमर कृतियों के द्वारा वर्तमान काल का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व आप कर रहे हैं। जो काम इस प्रभविष्णुता के साथ देश के इतिहासकार नही कर सकते, उसी का कार्य संपादन आप देशकाल की विवृति के माध्यम से कर रहे हैं। समाज की अंत: प्रकृति एवं वस्तु विन्यास का जो विश्लेषण आपने अपने साहित्य मे किया है, वह पूर्ववर्ती साहित्य मे नहीं मिलता। राजस्थानी में विषय एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से नयी शैली की कहानियों की परम्परा का सूत्रपात आपने ही किया है। आर्थिक दृष्टि से सामान्य समझे जाने वाले जिस समाज को युग ने हीन माना, उसी को आपने अपनी लेखनी का आधार बनाया और उसका ऐसा सुन्दर चित्रण किया है कि पूर्ववर्ती समस्त मान्यताएं अयोग्य हो जाती है। आपने इस सामान्य समाज के हृदय में झांक कर उनकी भावनाओ को समझा है एवं परखा है। इन्ही सब विशेषताओं के कारण डा. (श्रीमती) रिखव मंडारी ने आधुनिक अर्थ में श्री व्यास जी को राजस्थानी का प्रथम कहानीकार स्वीकार किया

---

1. राजस्थानी एकाकी पृ. 12।

है।[1] राजस्थान प्रदेश के जीवन की महत्तम ग्रन्थियों का चित्रण इन्होंने परिमार्जित एवं सरस मुहावरेदार भाषा-शैली में किया है। श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या इन पर शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय का प्रभाव मानते हैं।[2]

10. कृतित्व (प्रकाशित) :

दाढ़ी पर टैक्स (हिन्दी), राजस्थानी कहावतें (दो भाग), राजस्थानी [illegible]-नृत्य-गीत, बरस गांठ (मौलिक कहानी संग्रह), [illegible] बातां (हास्य), [illegible] चितराम (रेखा चित्र), उज्ज्वल-मणियां, पलक में धनक।

11. अप्रकाशित :

सात एकांकी नाटक, नानकड़ी कहाण्यां (चौपाई-[illegible]), बड़ी कहानियां (मौलिक संग्रह), लोक कथाएं, राजस्थानी मुहावरों का [illegible] का संग्रह, लोक गीतों का विशाल संग्रह, कह-मुकरणी, [illegible] आदि।

स्वतन्त्र कृतियों के अतिरिक्त इनकी फुटकर रचनाएं (कहानियां, रेखाचित्र, संस्मरण, एकांकी एवं शब्द चित्र) विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। इनके कथा साहित्य का धरातल समाजवादी है। समाज के [illegible] व्यवस्था के आप कट्टर विरोधी हैं। "कला के लिए कला" सिद्धान्त को आप महत्व नहीं देते। आपकी रचनाओं में आदर्श एवं यथार्थ [illegible] है।

हरदास मोड, रूघो खल्ला गांठणियों, मधूघो फेरी वालो आदि राजस्थानी परम्परा में इनके मौलिक स्केच हैं।

12. भाषा शैली :

श्री व्यास जी ने अपनी कृतियों में आधुनिक राजस्थानी भाषा के संयत एवं परिष्कृत रूप का प्रयोग किया है। कहानियों की भाषा-शैली के सम्बन्ध में डा. चाटुर्ज्या का मत है, "इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे जहां तक मेरा अनुभव है, राजस्थानी भाषा का सुन्दर सुष्ठु प्रयोग हुआ है। The well of Rajasthani under field शुद्ध ठेठ कथोपकथन की राजस्थानी का उत्स, "इस पुस्तक की भाषा को हम कह सकते हैं।"[1] कहानियो की भाषा प्रवाह युक्त, रोचक एवं मुहावरेदार है। स्थानीय शब्दों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। जैसे झर-झर कंथा, राड-रा काचा, धाको धिकावै, मागलो-फामलो, छाने-छुलके आदि। शब्दों में ध्वनि साम्य, सामाजिकता एवं ध्वन्यात्मक मधुरता का गुण है। अनुकरण मूलक शब्द, जैसे–तिवार–टांकड़ा, मायर मौसेरा, मांदगी-तातथी अर स्वाड़-पिणयार कमर सीधी करण ई नहीं देवै।[2]

बाप-बेटा सगला भणिया-गुणिया हो।[3]

ढीलो-ढव्वल, इणगी-उणगी, मागलो फागलो, फूटरो-फरो आदि। इन शब्दों के संयत प्रयोग से अर्थ की गहराई भी बढ जाती है। कहीं-कहीं विषयानुसार परिवर्तन से वाक्यो के गठन मे काव्य जैसी लय भी मिलती है। जैसे—

"मैणत मजदूरी मरगी। नौकरी नटगी। अबै काई हुसी? हाय। अबै काई हुसी? कोई कांसू? कोई कुवो खाड? तो मावड़ी झुर-झुर मर जासी। लुगाई लायण माथो फोडार चाल बससी। टीगरिया, बिला र-बिला इ मां दादी नै खूणे खूणे जोसी।"[4] उक्ति-प्रधान शैली मे अभिव्यक्ति की सौन्दर्य वृद्धि के लिए लोक-व्यवहार मे प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। श्री व्यास जी की भाषा-शैली मे सौन्दर्य-वृद्धि के ये तत्व सर्वत्र मिलते हैं। जैसे–बाक फाटगी, ढील रो सूत टूटग्यो, गाडो इंया ही गड़कतो रैसी, डिगूं पिचूं करना, रोटी पाणी भेला होना। (बाक फाटगी–कहानी) कहावतें–"जिण घर बाला उण घर कांय रा देवाला।" सीयालो समगिया, दोरो दो जखियां" "धनवन्तो-रै कांटो लागै सार करै सै-कोओ, निरधनियो डूंगर-सूं गुड़ग्यो सार न लेवै कोयों।" आदि।

श्री व्यास जी ने कथा साहित्य मे कथोपकथन के बल पर कथा विस्तार किया है। राजस्थान के जन-जीवन का स्थानीय चित्रण उन्होंने कल्पना से नहीं अपितु जीवन के कटु अनुभव के बल पर किया है। भाषा सर्वत्र सरल, प्रवाहयुक्त,

---

1. डा० चाटुर्ज्या : बरस गांठ की भूमिका, पृ० 5।
2. श्री मुरलीधर व्यास "लायण सैणो" मरुवाणी" वर्ष–6 अंक 3–4, पृ. 7।
3. वही।
4. श्री मुरलीधर व्यास : "चोर अथवा मातबर" जलममोम, वर्ष 1, अंक 1, पृ. 17।

रोचक एवं कहीं कहीं दूहों, छन्दों एवं अंग्रेजी भाषा के शब्दों से युक्त भी प्रतीत होती है। कहानी का कथानक प्रारम्भ करते समय वातावरण को स्पष्ट करना वे आवश्यक समझते हैं। वातावरण में चित्रात्मकता का गुण स्वतः प्रकट होता है। यथा—

"खैरपाड़ बाजै। बिरखा-रो जायक डोल नहीं। लोग आंख्या फाड़िया आमैं सामो जावै। च्यार मिनख मेला हुवै जैठ आई बात के फलाणी जागां सो डांगर मरग्या सो फलाणी जागा दोय सो। मैं-सो छयोड़ो। सगलां-रा मूंडा सुक्खा लागै। घास इत्तो मूंघो के लोग घस र दीसावै। डागरा सारू जागां-जागां घास रो बन्दोबस्त हुवै। दिन में पणो-ई बाली पण सिज्या पड़ी पाछो सागी खैरवाड़।"[1]

कथा साहित्य में पात्रों का चारित्रिक मूल्यांकन कथोपकथन के अन्तर्गत भाषा की सशक्त अभिव्यक्ति के बल पर ही सम्भव हो सकता है। जैसे—

इतै-मे मीठा माराज आ र पोटो घुमायो-ई। गरजना करी-लारै घीसूडा। संघी-रा रुपिया ला।

घीसू-रै हाथ-रो कवो हाथ-मे-ई रैय गयो। लाचारी-सूं बोलियो—अबकली माफी दो माराज। आगलै महीनै दोनूं खंधिया सागै-ई दे देसूं।

"देसी कठै सूं ? बाप-रै सिर-सूं। ठाकर द्वारो चवड़ो पणों। आगलो-पागलो तो इं जाणूं कोयनी। दाबो ठरकाय दूंला। पछै माथै हाथ दे र रोवैला। झख मारैला र काकोजी-काकोजी कै र रुपिया परणा पड़ंला।

मोती री मां बोली-माराज। हाथ जोडूं हूं, अब कलै माफी बगसो। आज टाबर-री बरसगांठ.......

"बलगी रांड बरसगाठ। बेटा माल उड़ावै अर लेणायतां-नै अंगूठो बतावै है।"[2]

उपर्युक्त कथोपकथन से महाजन की क्रूर प्रवृत्ति का ज्ञान सरलता से हो जाता है। श्री व्यास जी ने इस शैली का प्रयोग अपनी अधिकांश कहानियों में किया है। वार्तालाप का प्रयोग कहीं-कहीं इतना स्वाभाविक हुआ है कि उसमे नाटकीय शैली के दर्शन होते हैं। जैसे 'मेहमामो", "गाय," "लार्ड-आलो," 'पेट रो पाप,' 'भाटो' एवं 'नरमेध' आदि कहानियों में वार्तालाप शैली के कारण नाटकीय दृश्य उत्पन्न हो जाता है।

इनके एकाकी नाटकों में स्वगत-कथन एवं विचारों के अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया के दर्शन भी होते हैं। जसे--

माराणा (महाराणा) जंगल मे एक झोपड़ी मे-बैठे भगवती का ध्यान कर रहे हैं—

1. श्री मुरलीधर व्यास : मेहमामो (कहानी) वरसगांठ संग्रह, पृ. 6।
2. वही, वरसगाठ, पृ. 4।

'मां मां ! (आंख्या पूंछ) हाय ! आज सगला राजा रईस मैलां में बैठा मौजां मार रया है । एकलो हूं ई भाखर भाखर भटकतो फिरूं हूं ।

पराधीनता ने भोग र पराई किरपासूं टुकड़ो तोड़ण में, वे सगले सुख मान रया है । सुतंतरता अर जलम भोम री आण-काण नै बिसरायां बैठा है ।

तो हूं एकलो कांई कर सकूंला । हाय । (वसवसीजै है) एकलो हूं कांई कर सकूंला । तो क्या मां नैं सो रैं सास पराया हाथां सोंप र हुंई, कपूत बण जाऊं ? कदेई नहीं-कदेई नहीं । जठै तांई सास है, सरीर मे एक टोपो रगत है उठै तांई मर मिटसूं-हलाकान हुय जासूं, पण म्हारैं जीवतैं मा-नैं कदेई पराधीन नहीं होवण द्यूं । (किचकिची खाय र) (तरवार-ताण र) भगवती । तूं आज साथ दीजै ।"[1]

(भाखर-भाखर भटकतो में सानुप्रासिकता है)

श्री व्यास जी के गद्य में व्यंग्य-विनोद के स्थल भी कहीं-कहीं उपलब्ध होते हैं । हास्य का प्रयोग मनोरंजन के लिए किया गया है किन्तु व्यंग्य का प्रयोग सोद्देश्य हुआ है । हास्य के लिए उन्होंने अपनी शैली में चुटकलों का प्रयोग किया है । जैसे-

'एक बर जाट जाटणी रीसणा हुयग्या । दोनूं अबोला बैठा । कोई कईं नैं बतलावैं नही । लोग समझावै पण कोई मनैं नही । अडी झाल् ली । इयां थाको धकै तो कित्ताक दिन ? छेकड़ जाटणी आड टेढ मे बोली-

लोग बाग खेत जावैं, लोग घरैं क्यूं ?

जाट जवाब दियो-

लोग बाग जीम्या जूठ्या, लोग भूखा क्यूं ?

जाटणी फेर बोली-

छीकै ऊपर रोटी पड़ी, जीमले नी क्यूं ?

जाट राजी हुय र बोल्यो-

अबै आपां बोलण लागा, धाल दे नी क्यूं ?'[2]

अपने रेखा-चित्रों में कही कही सीधी सादी भाषा में पात्रों के रंग-रूप, वेश-भूषा का चित्रण करने में उन्होने विवरणात्मक शैली का भी प्रयोग किया है । "सिणगारी सैंसण" स्केच को पढ़ कर पाठक सांसी जाति की समस्त परम्पराओं से जानकर हो जाते हैं । उदाहरण-

"लम्बी तड़ंग, कालो कोजो उणियारो, चूंसा विखरियोड़ा फाटा गाभा, फाटो ओढणो, पीला हुलक दांत, होटै दाई नाक, बड़ी बड़ी हुया दया बायरी आंख्यां, उभराणा पग, गिरियां सूं ऊंची कांसीरी कड्या पैरण ने एक हाथ मे छोघो ओर बोजै मे मैलो-गिदो कटोरो । फलाणै री मां फलाणै री दादी फलाणै री नानी म्हारो

1. श्री मुरलीधर व्यास : मेवाड री लाज-एकांकी, राजस्थानी भारती मई, 1961, पृ. 74 ।
2. वरदा, वर्ष 3, अंक 3, पृ. 71 ।

ई सुणाइ' कर ए। केई घाल ए बड़भागण, कैय र घर' मांग घोड़ी कूर' र ऊभ जांवती।"[1]

व्यास जी के गद्य मे अनावश्यक कथा विस्तार नही है। समास पद्धति का उपयोग करते हुए विचारों की सुसम्बद्ध अभिव्यक्ति उनके गद्य की प्रमुख विशेषता है। उनके सीधे सादे सरल स्वभाव का उनकी शैली पर प्रभाव पड़ा है। वर्तमान राजस्थानी गद्य में हास्य रस का जितना सुन्दर परिपाक श्री व्यास जी द्वारा रचित "इक्के वालो" व्यंग चित्र संग्रह में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन व्यंग चित्रों की रचना करते समय व्यास जी ने जिज्ञासु पाठकों के साथ सामान्य पाठकों की रुचि का भी ध्यान रखा है। इस प्रकार के मनोरंजनात्मक साहित्य से राजस्थानी गद्य साहित्य का महत्त्व बढेगा, इसमे कोई सन्देह नहीं। कृति का महत्त्व मात्र मनोरंजन की दृष्टि से ही नही है अपितु स्वतंत्र कल्पना के बल पर कृतिकार ने समाज की अनेक विषमताओं का चित्रण करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। लौकिक कथा सूत्रो के प्रयोग से तो कृति का साहित्यिक महत्त्व और भी अधिक बढ जाता है। व्यंग चित्रों में कितनी सहजता, स्पष्टता एवं रोचकता है, इसका पता इन उद्धरणो से लगाया जा सकता है।

'चोर घर मे छल-छंद जाण र नाठा जीव लेय र। हृदबड़ाय र भागा पिछोकैखानी। बठै ही ढकणै बायरो जगी कुंड। अभीड़ देणी सी दोयां डमीडो बोलाय दियो।

डमीड़ सुण र पाड़ोसण पूछियो–'अँ कुण सभागिया काती न्हाया?'

चोरां दुखी होयर कैयो–"भाग फूटा जिको इण घर आया"[2]

X X X

'हरियो अर' दड़ियो 'आपरै' नांव सू ओलखीजता हा। भोर मे जद आ जोड़ी मांग री आराधना में बंगीची रवानी छिटकती तो सेनां सू' आंगली उठाय र देखणिया होले-होले कैवता–'राम मिलायी जोड़ी एक काणो एक खोड़ो।[3]

इन शब्द चित्रो मे हास्य रस के साथ-साथ विचारशीलता भी स्थल-स्थल पर प्रगट होती है तथा कही-कही भाषा-शैली में 'वक्रोक्ति' के दर्शन भी होते हैं। जैसे––

'हा, तो शिवदत्त भाई विद्या विसनी पूरा हा। नेंडो आधी भलांई विठैई कोई सभा क्यो नही होवो, अँ तो टेम सू' पेंला उठै पुगई ता। सुर अर विसै रो मेल, सोनै अर सुहागै रो मेल हुय जांवतो रो! इत्तो जरूर ठीक होंवतो के भितरी

---

1. जीवता-जागता चितराम, पृ. 79।
2. श्री मुरलीधर व्यास : इक्केवालो–'चोर री चोरी' पृ. 45।
3. वही 'मिरतु टैक्स' पृ. 248।

इयां नैं सगलां सूं लारैं टैम देवतौ । क्यों के ज्यों ई म्हैं अब करता सभां री इति होवरण लागती ।'[1]

इस प्रकार वक्रोक्ति का प्रयोग 'कमाई री भटकल' एवं 'काली माई' व्यंग चित्रों में भी हुआ है । शैली में व्यंग्य के दर्शन सर्वत्र होते हैं । समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों पर सीधा व्यंग किया गया है । जैसे–

राजाजी–भ्रर फेर मैं कोई पाप तौ किया ई कोयनी, जिरण नैं धोवण सारू जावरणो ईज पड़ै ।

चौबैजी–सौलै ग्राना खरी बात फरमायी अनदाता ! आप जिसां धरमावतारों भ्रर पुण्यात्मावां नैं भला क्या गिंगाजी पवितर कर सकसी ?[2]

व्यंग्यात्मक शैली के साथ साथ लौकिक सत्य का उद्घाटन करने के लिए पद्यों का भी प्रयोग किया है । कथोपकथन सरस, सुन्दर व चुटीले हैं । स्केच आदि में उन्होंने जीवन के यथार्थ को बड़ी सजगता से चित्रित किया है । जैसे–

'घर-घर सूं लुगायां बार श्राय पूछनी चदलियौ क्या भाव ए ?'
'दे ऊं तो पइसो रो पाव दूं । थे भेलौ सेर लेवौ तो एक पइसौ छोड़ दिया ।'
'ना बाई तूं मोंगो देवै है । चौवटे मैं दो टकां रो सेर भर हुणैं ई गली मैं लाया है ।'
'तो हूं माथैं भार-उखणियां फिरूं तो कई साव नेंई फिरूं हूं ?
पइसो रवरण तो मनैंई जोवैजैं ।'
'हां बाई । श्रा बात तो वाजब है ।'
तो तोल दूं सेर भर ?
तोल दे ।'

जब तक लेखक जीवन का गहराई से अध्ययन नही करता वह इस प्रकार के यथार्थ धरातल का स्पर्श नही कर सकता । अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि श्री व्यास जी ने आधुनिक राजस्थानी गद्य शैली के विभिन्न रूपो की नींव डाली और भाषा का एक परिमार्जित और चल रूप स्थिर किया । उनका महत्व यही है कि उन्होंने गद्य शैली को परिष्कृत करके उसे एक निश्चित मार्ग पर ला खड़ा किया है जिसे आगे बढाना वर्तमान लेखको का कार्य है ।[3]

13. विजय दान देथा :

लोक-कथाओं के माध्यम से श्री विजय दान देथा ने राजस्थान साहित्य में प्रवेश किया । उन्होने लोक-प्रिय कथाओं की विषय-वस्तु का सम्बन्ध समाज की सामूहिक अनुभूतियों एवं क्रिया-कलापों से स्थापित किया । उनमे सामाजिक जीवन

1. वही 'सिवदत माई' पृ. 186 ।
2. वही 'इवकं वालो–मदब री सूली, पृ. 7 ।
3. श्री मुरलीधर व्यास : जीता जागता चितराम, पृ. 58 ।

के घनीभूत अनुभवों के माध्यम से जीवन के यथार्थ एवं सत्य को पहिचानने की क्षमता थी। राजस्थानी गद्य के श्रुतिनिष्ठ गद्य साहित्य को श्री देथा ने अपनी लेखनी के माध्यम से मुखरित किया है। वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण, जातक, पंचतंत्र आदि ग्रन्थों से कथानक लेकर उन्होंने राजस्थानी में कथाएं प्रकाशित की हैं। 'बातां री फुलवारी' (9 भाग) में इस प्रकार की विविध विषयक कथाएं संकलित हैं जिनमें राजस्थानी की एक बड़ी लोक कथा पर आधारित 'मां री बदली' उपन्यास भी सम्मिलित है। उपन्यास को पढ़ कर श्री कोमल कोठारी के शब्दों में यह तथ्य स्पष्ट. स्पष्ट हो जाता है– 'राजस्थानी भाषा का स्वरूप न केवल स्थिर, निश्चित और नियम पूर्ण व्यवस्था का प्रतिफल है अपितु उसमें भाषात्मक सौन्दर्य, व्यंजनापूर्ण संबल, पुष्ट विचारों को व्यक्त करने की क्षमता और विभिन्न मानवीय भावनाओं को सूक्ष्मगत रूप से प्रकट करने की अदम्य शक्ति है।'[1]

प्रत्येक भाषा का सृजनात्मक साहित्य प्रारम्भ में लोक-कथाओं के माध्यम से ही विकसित होता है। भाषा के लालित्य एवं धारा प्रवाह सौन्दर्य को प्रस्थापित करने की दृष्टि से राजस्थानी लोक-कथाएं विशेष महत्त्व रखती हैं। श्री देथा जी ने राजस्थानी जन-समाज की सांस्कृतिक एव लौकिक अनुभूति को इन कथाओं में साकार किया है। 'बातां री फुलवाड़ी' के अन्तर्गत ही श्री देथा ने लोक-कथाओं की परम्परा में एक कथा को चुना है जिसमें राजस्थान के सामंती समाज की दुर्व्यवस्था का सजीव चित्रण किया गया है एवं जिसकी भाषा-शैली में सौन्दर्य एवं प्रवाह का गुण विद्यमान है। जैसे—

'उतरतो भादर वो। सरस हरियल धरती री कूख पांवडै-पांवडै हिवड़ा री लटक दरसावती ही। ऊंचा गिगन में गुरजाला बादल झबाझब बीजलियां पलकावता हा, हरियल कूख में बघमरण सारू ढोल नगारा घुटावता हा। जच्चा-धरती गूल बेलड़िया अर पानां हुं अगणित होठां मघटी मुलक री अखूट उजास छितरावती ही। रूंख-रूंख अर बांटके-बांटके पंछिया रा भूलरा मीठा गीत गावता हा। कुदरत रों कण कण मगन व्हियोड़ी ही।'[2]

सफल कथाकार के कथा साहित्य में जिन विशिष्ट शैलियों की अपेक्षा की जाती है, वे सब श्री देथा जी के कथा साहित्य में देखने को मिलती हैं। अन्तर्द्वन्द्व के बल पर लेखक ने पात्रों की मानसिक एवं भावात्मक प्रवृत्तियों का यथा तथ्य चित्रण किया है स्त्रियों की सामाजिक पंगुता की भावना से प्रभावित होकर अपने मन के विद्रोह और क्रोध को उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है :

'हे भगवान। लुगाई रै अन्तस में रीस रा खीरा चेतन करतो बगत उणरी रीस ने पांगली क्यूं करी ? लुगाई री रीस के तो माई तां रै पग चालै, परणी ज्यूं

1. श्री विजय दान देथा : मां री बदली, भाग–2, एक विवेचन, पृ. 2।
2. मां री बदली भाग–2 : विजय दान देथा, पृ. 27।

पछै धणी रै पगां घालै अर मां बणियां बेटा रै पगां घालै। खुद रै आपै उणरी रीस पार नीं पड़े।'[1]

मनुष्य साधारण से असाधारण एवं लौकिक से अलौकिक की ओर अग्रसर होना चाहता है। प्राचीन लोक-कथाओं में श्री देथा जी ने इन तथ्यों की विशेष जानकारी प्रदान की है। उनके कथा साहित्य में वर्ग संघर्ष, तत्कालीन स्थिति का चित्रण एवं भाषा-शैली मे बोलचाल के विशिष्ट शब्दों का प्रयोग मिलता है किन्तु उसमें भाव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, कथानक की संक्षिप्तता व उसके सुगठित रूप एवं संवेदन-शीलता आदि आधुनिक तत्वों की कमी है। कथावस्तु को गति देने मे स्थल-स्थल पर नाटकीय शैली का प्रयोग प्रचलित परम्पराओं के अनुसार ही हुआ है जैसे—

"राजा जी ज्यूं त्यूं विश्वास करणो चावै पण मन में विश्वास जमैं कोनी। पूछ्यो–अर जिण दिन गिगन में चांद सूरज ऊगता बंद व्हैगा तो''''''''''

पिंडत कह्यो–बीं अंनदाता, चांद सूरज ऊगता कदै ई बंद नी व्हैला।

राजाजी खुसी में उछलता बोल्या–तद तो म्हांरो राज कदै ई नीं खूटेला।

"नीं अंनदाता, नी, इण बात रो तो आप सपना में ई वेम मत करो। आ बात कूड़ी व्है जावै तो टीपणा फाड़ न्हाकां।"[2]

कथाओं के प्रसंग निर्धारण में श्री देथा जी ने जीवन की व्यावहारिक सत्यता को स्थान दिया है। लोक प्रचलित उक्तियों के अन्तर्गत उन्होंने शीर्षक निश्चित किये हैं, जैसे—भलाई भैली नी जावै, धर्म री जड़ सदा ई हरी, "संपत मे लिछमी रो वासो" आदि। राजस्थानी लोक–कथाओं की सुन्दर अभिव्यंजना जहां एक ओर हमारे अचेतन मन की तृषा को शान्त करती है, वहां दूसरी ओर हमारे समाज का सही चित्र प्रस्तुत करती है। "भाषा की खीर"[3] शीर्षक बात में इन दोनों ही तत्वों का सुन्दर विवेचन मिलता है। श्री देथा जी द्वारा रचित बातों की भाषा-शैली मे कहीं भी अस्वाभाविकता एवं क्लिष्टता का दोष नहीं मिलता। विषय की गरिमा का उन्होंने विशेष ध्यान रखा है। विषयानुसारिणी भाषा के अन्तर्गत ही उनकी कहानियों में स्थल-स्थल पर सहज-सरल शैली के दर्शन होते हैं। जैसे—

"अेक लखारा रै दोय पालतू जिनावर हा, अेक गधो नै बीजो कुत्तो। गधो दिन रा माल-मत्तो उखणतो। इण गांव सूं उण गांव मे मिणियारी माल पुगावतो। भलाई तांवड़ा री लाय पड़ती व्है, पाणी बरसतो व्है, लू चालती व्है, अर भलाई पड़तो व्है गधा नै तो माल ढोवणो ई पड़तो। ढूवा मांथै कदेई दो च्यार डंडा पड़ जाता जका इदकाई में।"[4]

1 उद्धृत : बातां री फुलवाड़ी," भाग–6, पृ. 24।
2. "बातां री फुलवाड़ी" भाग-7: विजय दान देथा, पृ. 194।
3 वही, भाग-5, पृ. 283-284।
4. "बातां री फुलवाड़ी", भाग–2–श्री विजय दान देथा, पृ. 306।

वातों में प्रसंगानुसार ध्वन्यात्मक एवं अनुकरणात्मक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। जैसे—

"एक थली रो वासी भ्रेकर नेंड़ा रा गांव में भ्रायो उठें ढोमड़ा वेंरां रो थाट देखनें वो तो हाक्यो-बाक्यो व्हैगो। थली में धान बिचे ई पांणी री कदर-बत्तो धान उघाड़ो पड़ियो रेवें भ्रर पांणो रै ताला लागें। वो एक ढुढांण वेरा माथें भ्रायो तो उणरी भ्रकल ई कइयो को करियोनीं घरणरण-घरणरण गोल् चकारा दे तो भ्ररट फिरें, पनड़ीरा खहिद रहिद नगारा, भ्रहलियां री भ्रछेड़ी माल् खल्ल-खल्ल् पाणी छलकावें, धोयां लारगोड़ो चौकणो चट्ट घोरो, पांणी रलकतो सरणाटै दौड़, पोस रौ महीनों मे निवाया पांणी सूं निकल्तो बाफां रो अजीब ई निजारी।"[1]

श्री विजय दान देथा की दूसरी भ्रौपन्यासिक कृति है—"तीड़ो राव"। मनुष्य की भ्रांतरिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले नायक के रूप में "तीडो राव" उपस्थित होता है जो छल, प्रपंच और भ्राडम्बर युक्त इस भ्राधुनिक समाज का सर्वोपरि प्रतिनिधि है। दैहिक, मानसिक व भ्राध्यात्मिक योग्यता के बिना मात्र संयोग की सीढ़ी के सहारे समाज पर छाये रहने वाले न जाने कितने तीड़ा राव भ्राज भी भ्रपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए हुए हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से यह कृति भ्राधुनिक राजस्थानी के भ्रधिक निकट है जिसमे ठेठ मारवाड़ी बोली के शब्दों की भरमार है। भाषा में ध्वन्यात्मक एवं भ्रनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग मिलता है। काव्य जैसे भ्रानुप्रासिक शब्दावली मिलती है। जैसे—

"मूंडा में लाला सलबलणा लागी।"

"भ्रांख्यां भात भांत रा आल् जंजाल् देखण लागी।"

"पला पल् करती बीजलियां चिमकरण लागी।" भ्रादि।

कहावतों एवं मुहावरों का प्रयोग स्वाभाविक ढंग से हुभ्रा है। जैसे—

तीड़ो बोल्यो—काका भगवान चांच दी है तो चुग्गो ई देवैला। कीड़ी नें करण भ्रर हाथी ने मरण देवण रो जिणनें ध्यान रें वो साई भ्रपांरो ई ध्यान राखैला। (पृष्ठ 14)।

"बात भ्रर भाटा रो कांई- बिठावें ज्यूं ई बैठे।" (पृष्ठ 16)।

पछे कुत्तो ई खीर नहीं खावैला (पृष्ठ 110)।

भ्रौपन्यासिक कृति मे कथा वस्तु के विकास के लिए भाषा-शैली का जो गठन एवं स्वरूप भ्रपेक्षित है वह "तीडो राव" में विद्यमान है। उपन्यास के नायक "तीड़ा राव" का परिचय उन्होंने इतिवृत्तात्मक शैली मे प्रस्तुत किया है जिसमें चित्रात्मकता का गुण है। उदाहरण—

"भ्रासती-पासती रा गावा मे कठेई भजन संगत, जागण के राती-जोगा व्हैता तो लोग तीड़ा परिहार नै भ्रवस करने बुलावता। उणरे बिना संगत रो रंग

1. वही भाग-1, पृ. 67।

ई नी जमतो । महीना मे तीठ बीस दिन वो बंजो बणतो बर दस दिन भजन-भाव करतो । उणरो ई सगला भजनियां सूं सिरै हो । बुगला री पांख रै उनमान आगला दो धोला दांता में सोना री दो चिमकती चूंपा, दोनूं हाथों में चांदी रा कड़ा, रेजा री धोली अंगरखी, लांबा भूरा पट्टां लारै खुसियोड़ी कंदरा री कांघसियो अर आंख्या में तीखो सुरमो सारियां वो जकी मंडली में बैठतो उणरी सोभा दुगणी व्है जासी ।"[1]

शब्दों की ध्वन्यात्मक मधुरता, अनुकरण मूलक प्रयोग एवं अर्थ की गहराई को बढाने के लिए शब्दों मे सामाजिकता सर्वत्र विद्यमान है। शैली में वैज्ञानिकता उत्पन्न करने के लिए हिन्दी के प्रचलित शब्दो को राजस्थानी रूप में ढाला गया है। जैसे—मारग-मारग, धरम-ध्यान, अंकाअंक चरचा, परभात आदि । कलात्मकता एवं आलंकारिकता साहित्य की शैली के आवश्यक उपादान तो नही हैं किन्तु वे उसका शृंगार अवश्य हैं । श्री देथा जी के गद्य में दोनो ही शैलियों के रूप मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

14 कलात्मक गद्य शैली :

"इण विध मन रा लाडू खावतो खावतो वो आठ कोस री पैंडो पार करग्यो। अबै सासरो दोय कोस बाकी हो। मन मे उमंगा नाचण लागी। मन री उमंगा रै साथै गिगन मे मुरजाला बादल ई गरजण लागा। पलापल करती बीजलियां चिमकण लागी। थोड़ो सो तिरू डूबूं दिन बाकी हो। बिरखा ही अंधारी रात मे बरसतै पांणी मारग काटणो दूभर व्हैला। सधियै सांधियै सासरे पूग जावूं तो सावलरै वेला। इण ख तर वो खाथो-खाथो चालण ढूको। पण उमड़ता बादल नै कदास तीड़ा सूं ई वत्तो बरसण रो आंचो हो। अेकदम देखतां देखतां ई बरसतै पारोखी री हो जांणे सांकड़ माचगी ।"[2]

15. अलंकृत शैली :

'रांणी जी डावडियां सूं माथो गुंथावता हा। अेक गवर जैडी फूठरी डावडी सोना री कांघसी सूं सोना रा केस सुलझावती ही। मोरया सूं रांणी जी री टाल काढ़ती ही। सोना रा बाजोटिया माथै रांणी जी उघाडै मूंडे बैठा हा—जाणै पूनम रा सोलै चाद अेकण साथै ऊगिया। पण कामली ने रूप निरखण री वगत कठै। वा चारूं कांनी डोलो घुमावती नवलखा हार नै हेरण लागी। सांमी ई गोखड़ा में सोना री खूंटी मे नवलखो हार चमकतो हो, जाणै गिगन रा तारा पोथोड़ा व्है ज्यूं।'[3]

शैली में शब्दालकार की कलात्मक योजना के साथ-साथ लेखक ने रमणीयता

---

1. श्री देथा : तीडो राव, पृ. 13 ।
2. श्री देथा : तीड़ो राव, पृ. 23–24 ।
3. श्री देथा : अकल सरीरां ऊपजे, पृ 8–9 ।

का सृजन करने के लिए अर्थालंकारों का प्रयोग किया है जिससे लेखक के विचार प्रभावशाली रूप में अनुभूति का विषय बन गये हैं। 'मां रो बदलो' एवं तीड़ो राव दोनों ही औपन्यासिक कृतियों में स्थल-स्थल पर कलात्मक एवं अलंकृत शैलियों का सफल निर्वाह हुआ है।

बाल साहित्य के अन्तर्गत श्री देथा ने 'अकल सरीरां ऊपजै' एवं 'म्हैं ई सठवा सूंठ' शीर्षक बाल कथाओं की रचना की है। भाषा अत्यंत सरल, प्रवाहमान, सरस एवं बालोपयोगी है। उदाहरणार्थ–

'एक गांव मे दो बैनां रैती ही। छोटोडी री नाम हो हलदी, अर मोटोडी री नांव हो सूंठ। हलदी घीमा मीजाज र सालस, समभ्रणी, बोली री मीठी अर कमगर ही। किणी नैं आपरी ऊमर में मोडो को दियो नीं। नैं सूंठ आकरा मिजाज री, तेज तरराट, बोली री बाडी, फकड़ैल अर कांम चोर ही। नित कलै करती। समलो गांव उणसूं आंती आयोडो हो। गांव अर घरवालां वास्तै हलदी तो ही दूखणिया रै माथै मलम ज्यूं, बलियोडा रै वास्तै छाछ ज्यूं अर सूंठ ही दूखणिया रै माथै लूण ज्यूं नै बलियोडा रै वास्तै मिरचां ज्यूं।'[1]

इन संग्रहों में संग्रहीत बाल कथाएं बच्चों का मनोरंजन तो करती ही है, साथ ही शिक्षात्मक भी हैं, जैसे–"घमण्डी रो नीचो घूण', 'भलाई थैली नीं जावै सांठो रो ब्याव,' 'कांमा जिणरा इ-धांमा' आदि बाल कथाओं में लौकिक सत्य को उद्घाटित किया है। कहीं कही गद्य में लघु पद का प्रयोग भी अभिव्यक्ति मूलक सौन्दर्य की वृद्धि के लिए किया गया है जिसमे परम्परागत उक्तियो की जानकारी मिलती है। 'म्है जीवूं हूं म्है जागूं हूं' एवं 'आठ राजकुमार' आदि अन्य दो लोक-कथाओ के संग्रह हैं जिनमे श्री देथा ने लौकिक सत्य को साकार किया है। इन संग्रहो मे लोक साहित्य के साहित्य आख्यान-उपाख्यान ही संग्रहित हैं जिनमे राजस्थानी भाषा की संवेगपूर्ण और धारा प्रवाहिक गति प्राणवान हो उठी है। राजस्थानी भाषा शैली मे यहां का प्रादेशिक वातावरण, स्थानीय रंगत आदि एकाकार हो उठे है। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि श्री देथा जी ने लौकिक साहित्य को यहां की भाव भूमि एवं अभिव्यक्तिमूलक प्रक्रिया से जोड़ने का कार्य किया है।

16. डा. नानूराम संस्कर्त्ता :

श्री संस्कर्ता जी मूलतः कवि हैं। राजस्थानी कविता को नया मोड़ देने वाली 'कलायण' कृति साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान अर्जित कर चुकी है। कथा साहित्य मे उनका योगदान कहानीकार के रूप में माना जाता है। राजस्थानी कथा साहित्य में आंचलिकता का सूत्रपात करने मे आपका ही हाथ रहा है। मरु अंचल का वास्तविक चित्रण आपने 'ग्योही' एवं 'दस दोख' कहानी संग्रहो मे

1. श्री विजयदान देथा : म्हैं हूं सठवा सूंठ, पृ. 7।

किया है। आपकी तीसरी कृति है—'घर की रेल' जिसमें राजस्थानी लोक कथाएं संकलित हैं। 'रहोयो' एवं दस-दोख कहानी संग्रहों में लघु एवं दीर्घ—दोनों ही आकार की आंचलिक कहानियां हैं जिनके कथानक सामाजिक अंध-विश्वासों एवं रूढ़ियों पर आधारित है। आंचलिक उपन्यासों में प्रादेशिक वातावरण को विशेष महत्व दिया जाता है। 'रहोयो' में श्री संस्कर्ता की बीस कहानियां संग्रहीत हैं जिनका विषय लोक प्रचलित सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित है एवं वातावरण ठेठ गांवों का है। कहानियों में ठेठ राजस्थानी भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे राजस्थान प्रदेश का वातावरण प्राणवान हो उठा है। 'रहोयो' में संग्रहीत प्रथम कहानी 'दूध गिलोड़ो' इसी कोटि की कहानी है जिसमें समाज में व्याप्त अंध विश्वास एवं पण्डे पुजारियों के उन पाखंडों का चित्रण हुआ है जो गांव के दरिद्र एवं अशिक्षित मनुष्यों में अंध-विश्वास फैला कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया करते हैं। कहानी का मुख्य पात्र फूसा ऐसा ही व्यक्ति है जो पं. गरभदास के जाल में फंस कर उसके संकेतों पर कार्य करता है। वातावरण को साकार करने में लेखक ने स्थल-स्थल पर चित्रात्मक शैली का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

17. वातावरण में चित्रात्मकता :

'दिनूगैरी वेला, ठंडो वगत। पांख पखेरू बोलें, रैण गैणा हुवें। सारी सरें गूंजै। फूसे रै डेरै आगे ढोल बाजरिया है, भोपा नाचरिया है, अर पूंगी री लैर उठै है, झूपड़ी रै लारै बावल सीभरिया है, सक्कर पावल खावण रो लाग-रियो है। हिन्दवा री होली अर मुसलमानां री ईद, आज आखा फूसै रै डेरै ही मनावणी चावै है। उन्ने भोपा अर कालबेलिया अभमान सूं मूंछो मुजायां आपनै बड़ा भारी धुरंधर समझै हैं। फेरा दिरावतो रिडत दौरै जांवतो हाकम अर नूंतो दैवतो नेवगी फूल्यो नीं समावै बितो ही गरब गुमान आज इयां नैं आ बड़ियो। बोलैं न चालै। आप आपेरै किरतब में तन मन सूं लागरिया है।'[1]

लेखक ने वातावरण को स्पष्ट करने के लिए लौकिक सत्य का इन शब्दों में चित्रण किया है :—'फेरा दिरावतो पिंडत दौरे जांवतो हाकम अर नूं—नो दैवतो नेवगी फूल्यो नी समावं बितो ही गरब गुमान आज इयां में आवड़ियो।' 'धौलक' कहानी में कहानीकार ने बहू पर सास द्वारा किए गए अत्याचारों का उल्लेख किया है। 'रोही रो रीछ' में पंचों की पंचायत व्यवस्था का यथार्थ चित्रण मिलता है जबकि 'फद्द पंच' और 'सोने रो कलम' हास्य प्रधान कहानियां हैं।

18. स्केच रूप में पात्रों का शब्द चित्र :

'वसतो जो चोधरी बरस पचासेक रो वडो बूढो, पीला सा दांत नैं करड-कावरी लटारा रो दाढ़ी, सोनै री ढोलड़ी बीरवली जका में लाल डोरा पोया नै काना रै बारबार बांध्योड़ी। सागै दाढ़ी री लटां रा आंटा। गोडा सूणी धोती,

1. श्री संस्कर्ता—रहोयो—पृ. 7।

मुलमुल री पाग अर ऊंटिया कोरियोड़ी गठाली धोली मंगरखी । दीखन में तो देवता सो दीखै पण कोरो वन रो धायोड़ो ढींग ।'[1]

तथा—गरमदास वडो रोलियो अर कोतकी हो । लाम्बो लकड़ कालो कुराड, 'फाटोडी मांख्या रो ग्रादमी हो । जे राते रोही मे एकलै मिनख नै मिलजै तो छाती फाट जावै । दिन मां देखतां ही बालक गुघार मावां री गोदी में बड़ जाया करता हा । बाट बगतां देखर पसु पूंछ देखणलाग जांवता, लुगायां आटो रोटी लकोवण री उतावल करती अर टाबर माड़ां कूद जाया करता ।[2]

पात्रो की प्रकृति (स्वभाव) बहुत कुछ उनके शरीर की बाहरी बनावट पर निर्भर करती है । लेखक ने स्कैच रूप मे ऐसे ही पाठकों का शब्द चित्र प्रस्तुत किया है, जिससे पाठकों के सामने एक चित्रात्मक रूप उपस्थित हो जाता है और वह सरलता से पात्र तथा वातावरण का अध्ययन करने में समर्थ सिद्ध होता है । इनकी प्रायः सभी रचनाओं में शब्दों के कुछ प्रांतीय रूप मिलते हैं । आंचालिकता के संबंध मे लेखक को सतर्क रहना आवश्यक है, क्योंकि शब्दों के व्यावहारिक प्रयोग में उसे निश्चित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए । शब्दों का वही रूप साधारण भाषा में ग्राह्य होना समीचीन है जो अधिकांश भाग में प्रयुक्त हो । शब्दों के प्रयोग में अस्थिरता भी नहीं होनी चाहिए । श्री संस्कर्त्ता जी की भाषा-शैली में शब्दों के रूप पर प्रादेशिक प्रभाव अवश्य है किन्तु उनका रूप स्थिर है । कहानियों में आंचालिक वातावरण उपस्थित करने के लिए लेखक ने ऐसे पात्रों को चुना है जो समाज द्वारा उपेक्षित हैं । जैसे—नणद मुरजाई आदि ।

"दोनवां में नणद—मुरजाई री साख, कनै कनै एक जिसी ग्रोस या । बासरी मानजती स्याणी मेढण लुगायां है । केसर नणद लागै है ग्रार सोमै री मा मुरजाई सोमै री मा बड़ी गीतेरण है । देई-देवता रा, ब्याह-सावां रा-जादं सुवाड अर त्यूंहार पूजा रा घाला गीत धीरै कठा है । दीखत में तो ढोल् बारी सी चपड़-चूंघी खोटणियै सै दांतासी, ऊभो ओझर री ओघस्या है । गावण बैठै जद मूंढ सुरसती बोलण लाग ज्यावै है ।"[3]

उपर्युक्त अवतरण में राजस्थानी भाषा की आंचलिक शब्दावली का विशेष प्रयोग हुआ है, जैसे—मेढण, चपड़ चूंघी, ओझर, ओघस्या जुल बुलाडो आदि ।

19. आंचलिकता :

मदरस्यो मूल्यो । स्यालियो बण्यो । रोही गियो । वठै साथी साईना में डोरी गावतो, राकण रायासां मोगा-मोगी वपनो अर ओही सूं नाचतो । जुवायां आगै भाटणी वण तो मास मुंकारियो ओढर गीड गोरतो अर बुयावां-सावां मे हंसावतो

---

1. वही, पृ. 19 ।
2. श्री संस्कर्ता, 'रगोड़ी'—कहानी संग्रह, पृ. 7 ।
3. श्री मरवर्ता—'रगोड़ी' कहानी संग्रह, पृ. 79 ।

रिया करतो हो। सरब जाणा रै नाटक चेटक मे ही सामिल हुया करतो हो। पण। म्है म्हारी सोस सूं मजाकिया पारट ही पाल घालतो। सैसो वण तो घर ठीकरो हाथ मे लेरे कैतो-वारिस रे काणा मिचकू घालै ना, तेरा टाबर जीयै। म्हारै कंठा रै लैजं सूं देखणिया री प्रांतड्यां उथल् पुथल् हुज्याया करती ही।"[1]

यहां वातावरण तथा प्रवतरण की शब्दावली–दोनो मे ही आंचलिकता का प्रयोग हुआ है। प्रांचलिकता के प्रतिरिक्त व्यंग्य विनोद हेतु कहीं कहीं प्रतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी इनकी कृतियों में मिलता है। जैसे—

'जुवान गालै में काक-मामली बड़ी मरदानी औरत ही। सेर पको घी तो खड़ी ही पी जाया करती ही। मुक्को मारती तो ऊमै ऊंट नै उलास् देती। सगलै घर री खाद सिर पर खेई स्यार छापती, लादा ढोंवती घर मोठां री जूल ही सिर सूं नाख लिया करती। घर रो आरबो काम हाथै ही करती। पालो बाढणों, दल बावणो, बूजा काढणा घर कूवो वावणो अः सै काम काक-मामली प्रेकली बड़ै जोर रा करती। मोट्यार री गरज भी करती।'[2]

प्राप आपरै पावै पुन्ने लाग्या उलाल् देना, खेई स्यार छापती, लावा ढोवती, मोठा रा जूल बूजा काढणा आदि शब्द शेखावाटी प्रदेश की आचलिक भाषा के शब्द हैं। किसानों के दैनिक जीवन की झांकी को इस प्रवतरण मे साकार करने का प्रयास किया गया है। 'दस दोस' कृति मे श्री संस्कर्ता जी ने हमारे उन सामाजिक दोषों की प्रोर संकेत किया है जो हमारे समाज के एक प्रंग से बन गये हैं एवं जिन्होने हमारे समाज को भयभीत सा कर रखा है। इन दोषों को लेखक ने विवेचनात्मक शैली में प्रभिव्यक्त किया है :—

"प्रोसर-मैणा मोर कैणा तथा ताना-तैसा मे गावांरी जनता प्रोजूं चिन्ता. फिकर मे भूलती रैवै है। मूत-पलीत, डाकण-स्यारी घर डोरा-डाडा मे सारा समाज खांडा-खोरा हो रैया है। पण ल्होसड़-लपयेड़, पुरोहित पंडा, गुंडा-मुसटंडा, काजी मरहाजी जिसा हराम मिनख प्राखा प्रंध विसवासा सूंध णा राखी रैता थका इयानै जबर पालै-पोसै है। जकारे जुलमारा पलमा खोलण खातर म्है म्हारी सोरी भ.सा पर सरस सबदां मे दस-दोस नांवरी पोथी माडी है। मनै प्रो कोड है।"[3]

प्रस्तुत उद्धरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि श्री संस्कर्ता जी ने प्रपनी कृति में समास प्रधान मुहावरो से युक्त एवं प्रनुप्रास युक्त भाषा-शैली का प्रयोग किया है। कहानियों मे वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक शैली के अतिरिक्त विवेचनात्मक एवं कहीं कहीं वार्तालाप तथा भावात्मक शैली का भी प्रयोग हुआ है, जैसे—

20. भावात्मक शैली :

"मिनख री मौत आवै है, जकी घड़ी ऊमर भर रो आछी-माड़ी लारली सारी

---

1. वही, पृ. 170।
2. श्री संस्कर्ता, ग्योही, पृ. 172।
3. श्री नानूराम संस्कर्ता, 'रजास बारता'—दस दोस, पृ. 1।

बातां काच दाई साफ होय जाया करै है। दुःख अर विपत्ती में भी। आप रै भला-बुरा कामां रा ठा पड़े बिना नी रै वै। कदै ही फिकर करै, कदै ही धीरज धारै पण आपरी जिंदड़ी रो चितल छितराम चहडो उघड़ आवै।"[1]

भाषा-शैली पर खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'दुःख अर विपत्ती में भी'— वाक्यांश खड़ी बोली का है। कहीं-कहीं भाषा मे तुकान्तता के साथ साथ लयात्मक सौन्दर्य का गुण भी है, उदाहरणार्थ —

"मंड'णरो मूं'वो, सर लुणासर ग्राम रो सवाल, मारजारो हाल हुकम, धणियां भूपाल। दोसती-मितराई मोटी चाल, किनो ही बुलावो चावै मण्डी मूं माल।"[2]

X X X X

"स्याम जी अगर वाल, गांवरा मानीजता आदमी, खुलक-मुलकनै लोलै, काली दुकान खोली। गांवरा पंच नही, पण गांवरी चणखरी बातां स्याम जी री चाली। ऊपर सूं जिता ऊजला रेवै, दुनिया मायनै किता ही मैला माढ़ा कंवै।"[3]

X X X X

"सरपंच गोमदो गट्टाणी—गोरो निछोर—छोरो। गोल मटोल गायड़ मल, गांव में नाढूखां वण्यो फिरै। दसवीं पास, देखण जोगतो स्याणो—समझदार। चैरे पर चेचकरा वण, पण चावल सा दांत। मूंडो उघाडै जद ऊजली बतीसी खिल उठै।"[4]

वाक्यों मे तुकान्तता एवं शब्दों मे लय होने के कारण काव्य का सा आनन्द मिलता है। शब्दों मे अनुकरणमूलक ध्वन्यात्मक सौन्दर्य है। कहावतों एवं मुहावरो का प्रयोग शैली मे सौष्ठव उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ—चढी हांडी ऊघाडना, माथै पाणी फिरना, जुग देखे र जीवणो, चोगडियै खड़ै छांट नी। लातारा देवता बातां सूं मानै ही कियां आंधो अर प्रभाण एक बरोबर, आड-टेढ करना, जुग जीतना, आक्या आडो अधेरो सो छाग्यो, कालीधार डूबना, पानी भरना, भाख सी फटना आदि। इन मुहावरों के कुछ रूप हिन्दी भाषा मे भी ज्यों के त्यों प्रचलित हैं।

राजस्थानी लोक संस्कृति को चित्रित करने के लिए श्री संस्कर्त्ता जी ने 'घर भी रेल' शीर्षक कृति मे लोक कथाओं का सुन्दर संग्रह किया है। राजस्थानी श्रुति-निष्ठ साहित्य मे इन लोक कथाओं का विशेष महत्त्व है। इन कथाओं में अनेक रूपान्तर मिलते हैं किन्तु श्री संस्कर्त्ता जी के प्रस्तुतीकरण का रूप पूर्णतः अपरिवर्तित है। इन कथाओं मे स्थानीय रंग को झलक विशेष महत्त्व रखती है। ये कहानियां

1. डा. नानूराम संस्कर्त्ता, 'गुरु भक्ति'—दस दोस, पृ. 85।
2. वही, दस दोस, पृ. 88।
3. श्री संस्कर्त्ता—दस दोस. पृ. 88।
4. वही, पृ. 65।

रिया करतो हो। सरब जाणा रै नाटक चेटक मे ही सामिल हुया करतो हो। पण। म्है म्हारी सोच सूं मजाकिया पारट ही पाल घालतो। सैसी वण तो घर ठीकरो हाथ मे लेरे कैंतो-वारिस रे काणा मिचकू घाले ना, तेरा टाबर जोवै। म्हारै कंठां रै लेजै सूं देखणिया री भांतड्यां उथल् पुथल् हुज्याया करती ही।"[1]

यहां वातावरण तथा अवतरण की शब्दावली—दोनो मे ही आंचलिकता का प्रयोग हुआ है। आंचलिकता के अतिरिक्त व्यंग्य विनोद हेतु कहीं कहीं अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन भी इनकी कृतियों में मिलता है। जैसे—

'जुवान पालै में काक-भामली बड़ी मरदानी ओरत ही। सेर पको घी तो खड़ी ही पी जाया करती ही। मुक्को मारती तो कसै ऊंट नै उलाल् देती। सगलै घर री वाड सिर पर सेई ल्यार छापती, लादा ढोंवती घर मोठां री जूल ही सिर सूं नाख लिया करती। घर रो आरवो काम हाफे ही करती। पालो वाढणों, दल वावणो, बूजा काढणा अर कूवो वावणो अः सै काम काक-भामली भ्रेकली बड़े जोर रा करती। मोट्यार री गरज नी करती।'[2]

आप आपरै पावे पुन्ने लाग्या उलाल् देना, सेई ल्यार छापती, लावा ढोवती, मोठां रा जूल बूजा काढणा आदि शब्द शेखावाटी प्रदेश की आंचलिक भाषा के शब्द हैं। किसानों के दैनिक जीवन की झांकी को इस अवतरण मे साकार करने का प्रयास किया गया है। 'दस दोख' कृति में श्री संस्कर्ता जी ने हमारे उन सामाजिक दोषों की ओर संकेत किया है जो हमारे समाज के एक अंग से बन गये हैं एवं जिन्होंने हमारे समाज को भयभीत सा कर रखा है। इन दोषों को लेखक ने विवेचनात्मक शैली मे अभिव्यक्त किया है :—

"मोसर-मैणा ओर कैणा तथा ताना-तैया मे गावांरी जनता भोजूं चिन्ता. फिकर मे झूलती रैवै है। भूत-पलीत, डाकण-स्यारी अर डोरा-डांडा में सारा समाज खाडा-खोरा हो रैया है। पण ल्होसड़-लपेड़, पुरोहित पंडा, गुंडा-मुसटंडा, काजी अरहाजी जिसा हराम मिनख आखा अंध विसवासां सूंघ णा राजी रैता थका इयानै जबर पालै-पोसै है। जकांरै जुलमारा पलमा खोलण खातर म्है म्हारी सोरी भ सा अर सरस सबदां मे दस-दोख नांवरी पोथी माडी है। मनै भो कोड है।"[3]

प्रस्तुत उद्धरण से ही स्पष्ट हो आता है कि श्री संस्कर्ता जी ने अपनी कृति में समास प्रधान मुहावरों से युक्त एवं अनुप्रास युक्त भाषा-शैली का प्रयोग किया है। कहानियों मे वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक शैली के अतिरिक्त विवेचनात्मक एवं कहीं कहीं वार्तालाप तथा भावात्मक शैली का भी प्रयोग हुआ है, जैसे—

20. भावात्मक शैली :

"मिनख री मौत आवै है, जकी घडी ऊमर भर री आछी-माड़ी लारली सारी

---

1. वही, पृ. 170।
2. श्री संस्कर्त्ता, यथोही, पृ. 172।
3. श्री नानूराम संस्कर्त्ता, 'उजास वारता'—दस दोख, पृ. 1।

बातां काच दांई साफ होय जाया करै है। दुःख पर विपत्ती मे भी। भ्राप रै भला-बुरा कामां रा ठा पडै बिना नी रै वै। कदै ही फिकर करै, कदै ही धीरज धारै पण भ्रापरी जिंदड़ी रो चितल छितराम चड्डो उघड़ भ्रावै।"[1]

भाषा-शैली पर खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'दुःख पर विपत्ती मे भी'— वाक्यांश खड़ी बोली का है। कहीं-कहीं भाषा मे तुकान्तता के साथ साथ लयात्मक सौन्दर्य का गुण भी है, उदाहरणार्थ —

"मंडःलगो मूंथो, सर लुणासर ग्राम रो सवाल, मारजारो हाल हुकम, धणियां भूपाल। दोसती-मिजराई मोटी चाल, किसो ही बुलावो थावै मण्डी सूं माल।"[2]

X X X X

"स्याम जी भगर वाल, गांवरा मानीजता भ्रादमी, खुलक-मुलकनै तोलै, काली दुकान खोलै। गांवरा पंच नही, पण गांवरी चणखरी बातां स्याम जी री चालै। ऊपर सूं जिता ऊजला रैवै, दुनिया मायनै किता ही मैला माड़ा कैवै।"[3]

X X X X

"सरपंच सोमदो गट्टाणी—गोरो निछोर—छोरो। गोल मटोल गायड़ मल, गाव मैं नाढूलो बण्यो फिरै। दसवीं पास, देखण जोगतो स्याणो—समझदार। चैरे पर चेचकरा वण, पण चावल सा दांत। मूंडो उघाडै जद ऊजली बतीसी खिल उठै।"[4]

वाक्यों मे तुकान्तता एवं शब्दो मे लय होने के कारण काव्य का सा भ्रानन्द मिलता है। शब्दो मे अनुकरणमूलक ध्वन्यात्मक सौन्दर्य है। कहावतो एवं मुहावरो का प्रयोग शैली मे सौष्ठव उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ—चढी हांडी ऊघाडना, माथै पाणी फिरना, जुग देखे र जीवणो, चोरडियै छई छांट नी। लातांरा देवता बातां सूं मानै ही किया भ्राधो भर भ्रवाण एक बरोबर, आड-टेढ करना, जुग जीतना, भ्राख्या आडो भ्रधेरो सो छाग्यो, कालीधार डूबना, पानी भरना, भ्राख सी फटना भ्रादि। इन मुहावरों के कुछ रूप हिन्दी भाषा मे भी ज्यों के त्यों प्रचलित हैं।

राजस्थानी लोक संस्कृति को चित्रित करने के लिए श्री संस्कर्त्ता जी ने 'घर की रेल' शीर्षक कृति मे लोक कथाओं का सुन्दर संग्रह किया है। राजस्थानी श्रुति-निष्ठ साहित्य मे इन लोक कथाओं का विशेष महत्त्व है। इन कथाओं मे अनेक रूपान्तर मिलते हैं किन्तु श्री संस्कर्त्ता जी के प्रस्तुतीकरण का रूप पूर्णतः अपरिवर्तित है। इन कथाओं मे स्थानीय रंग की झलक विशेष महत्त्व रखती है। ये कहानियां

1. डा. नाथूराम संस्कर्ता, 'गुरु भक्ति'—दस दोख, पृ. 85।
2. वही, दस दोख, पृ. 88।
3. श्री संस्कर्त्ता—दस दोख. पृ. 88।
4. वही, पृ. 65।

लोक परम्परा में प्रचलित रही हैं किन्तु श्री संस्कर्त्ता जी ने इनके कथानक को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखकर इनकी भाषा शैली को आधुनिक सांचे में ढाला है, उदाहरणार्थ—

'म्हारै अठै मारवाड़ मांय भांत-भंतीला, रंग रंगीला, चोखा अनोखा पसु-पंछी अर जीव जन्तु हो वै। केयी जंगल रा वासी, केयी अकास रा प्रवासी अर केयी जलथल रा निवासी नाय जाणेक होय रैया है। रोझ-जरखड़ा, कुरगो-करदांतली, सेहू-सेला, बांडी-बिच्छू, मींग अर मांमोलिया आप आप की अंगां-पगां फूटरा फबै-छिबै।'[1]

राजस्थानी प्रदेश के जन जीवन को साकार करने में ये लोक कथाएं पूर्णतया सफल सिद्ध हुई हैं। इनका कथा शिल्प तथा भाषा-शैली बहुत कुछ आज के वाता-वरण के अनुकूल है। अभिव्यक्तिमूलक स्वाभाविकता दृष्टव्य है। इनमें कथानक सम्बन्धी विविधता भी मिलती है। संकलन की कथाओं में विषयगत विविधता है। बच्चों के मनोरंजन के लिए चिड़ी अर कौवे तक को कथा का नायक बनाया गया है। श्री संस्कर्ता जी का गद्य साहित्य आकार में सीमित किन्तु शिल्प की दृष्टि से काफी विशाल है। यहां की प्रादेशिक संस्कृति इनके साहित्य में साकार हो उठी है। कवि होने के साथ साथ श्री संस्कर्ता जी आधुनिक राजस्थानी गद्य के सफल आंच-लिक शैलीकार भी हैं।

21. डा. मनोहर शर्मा :

राजस्थानी संस्कृति को लोक कथाओं एवं लोक गीतों के माध्यम से पुन-र्जीवित करने में डा० शर्मा का विशेष योगदान रहा है। आप शेखावाटी जन पद के प्रसिद्ध राजस्थानी कवि एवं गद्य लेखक हैं। 'अरावली की आत्मा', 'गीत कथा', 'पंछी', 'अमर फल', 'घोरा रो संगीत' आदि आपकी मुख्य काव्य कृतियां हैं। कुंजा, गोपी गीत, मरवण, रस धारा बापू, गजमोती, बेस बधै, जै जन–नायक मैं बटाऊ आदि काव्य रचनाएं समय-समय पर प्रकाशित होती रही हैं जिन पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप है। अनुवाद के क्षेत्र में भी आपको विशेष सफलता मिली है। पद्य के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु गद्य के क्षेत्र में भी आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी रही है। राजस्थानी गद्य में कहानियां, गद्य गीत, निबन्ध, रेखा-चित्र, संस्मरण एवं एकांकी मुख्य हैं। आपने 'वरदा' नाम की त्रिमाही शोध पत्रिका के माध्यम से राज-स्थानी साहित्य की सेवा की है। राजस्थानी बातों पर अपना शोध कार्य किया है। आपका रचनात्मक साहित्य समय-समय पर राजस्थानी पत्रिकाओं में प्रकाशित होता रहा है। कहानियों में जहां विषयगत विविधता है वहां शिल्पगत परिवर्तन एवं भाषा का गठन भी दृष्टव्य है। इनकी कहानियों में एक ओर जहां प्राचीन लौकिक परम्परा का प्रभाव है वहां दूसरी ओर आधुनिकता के भी दर्शन होते हैं। मनोरंजन का तत्त्व

1. श्री संस्कर्ता–'घर की रेल', पृ. 12।

इनकी समस्त कहानियों में मिलता है। सरलता एवं स्पष्टता के गुण से युक्त इनकी भाषा-शैली में कहीं भी अस्वाभाविकता एवं दुरूहता नहीं है। उदाहरणार्थ—

'एक राजा रे सिर पर दो सींग हा। राजा आपरा सींग पगड़ी मे लुकोया राखतो। एक दिन नाई सुंवार करण नैं आयो अर राजा रा सींग देख लिया। राजा नाई नैं हुकम दियो के मेरैं सीगा री बात खोलदी तो सूली पर चढा दियो जासी। नाई रै पेट में बात पचती कोनी पण राजा रो डर लागै। बिचारै रो पेट फूलण लाग गयो। अंत में बीड़ में गयो अर च्यारूं कानी देख्यो, कोई मिनख जायो कोनी हो। एक जगां पीपल-पीपली अर एक जाट खड़्या हा। नेवगी आप रै मन की बात भोसुवां नैं सुणादी अर धरा आय गयो।'[1]

डा. मनोहर शर्मा ने कहाव-तों के आधार पर भी बातें लिखी हैं। इनके मूल में कहीं वीर रस का ओज और तेज छिपा है तो कहीं शृंगार की रस धारा। कहीं नीति है तो कहीं हास्य की छटा छिपी हुई है। डा. शर्मा की कहानियों का आधार लोक-कथाएं हैं। लेखक ने इन कहानियों को सजा कर एक नया रूप प्रदान किया है। कहावतों के पीछे प्रसंग छिपे रहते हैं। प्रसंग एवं कहावत का अर्थ स्पष्ट होने पर ही कहानी का कथानक प्रकट होता है। डा० मनोहर शर्मा ने बालोपयोगी साहित्य के अन्तर्गत छोटी-छोटी कहानियों का संग्रह किया है जिनकी भाषा-शैली सरल तथा बोलचाल की है। वाक्य छोटे-छोटे हैं जिनमें वर्णन विस्तार नहीं है। बात साहित्य में महत्वपूर्ण है—'वातां रो झूमखो, दो-भाग।'

राजस्थानी भाषा में एकांकी नाटकों की रचना विलम्ब से प्रारम्भ हुई। इस विधा का अभी शैशव काल ही चल रहा है क्योंकि परिमाण की दृष्टि से भी बहुत कम साहित्य अभी प्रकाश मे आया है। डा. शर्मा ने एकांकी नाटकों की भी रचना की है किन्तु उनका विषय मूलतः ऐतिहासिक ही है। इनकी एकांकी नाटक विषयक रचनाएं समय-समय पर 'मरुवाणी' एवं 'ओलमो' आदि पत्रिकाओं मे प्रकाशित होती रही हैं। धरम-संकट, कवि री कलंक, बेटी जमाई, राजदण्ड एवं बदलो आदि एकांकी भाषा-शैली एवं रंगमंच की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। छोटे-छोटे वाक्यों के बल पर कथोप-कथन सफल बन पड़ा है। भाषा मे ओज गुण विद्यमान है। यथा—

उमादे—रावजी री माफी सूं म्हारो मन भरै कोनी। म्हारी टेक ऊंची है। जद सिंघ गादडी रै लार फिरै तो सिंघणी रो मान कठै रैयो ? (वदन पर क्रोध अर पीड़ा झलकै है)

रूपकला—सो तो बाईसा आप सही फरमावो हो। पण तो कूंटी मारवाड़ रै धणी री माफी भी छोटी बात कोनी। वै किण सूं माफी मांगे ? चूक्या जदई तो आप सूं माफी चावै है।

उमादे—इसो कांई चूकणो ? ई सूं मिनखाचार लाजै। रावजी बात नै जरा भी कोनी विचारी !

---

1. डा. मनोहर शर्मा, 'राजा रै दो सींग'—मरुवाणी, वर्ष 5, अंक 4 पृ. 5।

लोक परम्परा मे प्रचलित रही हैं किन्तु श्री संस्कर्त्ता जी ने इनके कथानक को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखकर इनकी भाषा शैली को आधुनिक सांचे मे ढाला है, उदाहरणार्थ—

'म्हारै अठै मारवाड़ मांय भांत-भंतीला, रंग रंगीला, चोखा अनोखा पसु-पंछी ग्रर जीव जन्तु हो वै। केथी जंगल रा वासी, केयी ग्रकास रा प्रवासी ग्रर केयी जलथल रा निवासी नाम जादीक होय रैया है। रोझ-जरखड़ा, कुरगां-करदातली, सेह-सेला, बांडी-बिच्छू, भीम अर मामोलिया ग्राप ग्राप.की अगां-पगा फूटरा फबै-छिबै।'[1]

राजस्थानी प्रदेश के जन जीवन को साकार करने में ये लोक कथाएं पूर्णतया सफल सिद्ध हुई हैं। इनका कथा शिल्प तथा भाषा-शैली बहुत कुछ ग्राज के वातावरण के ग्रनुकूल है। ग्रभिव्यक्तिमूलक स्वाभाविकता द्रष्टव्य है। इनमें कथानक सम्बन्धी विविधता भी मिलती है। संकलन की कथाग्रों में विषयगत विविधता है। बच्चों के मनोरंजन के लिए चिड़ी अर कौवे तक को कथा का नायक बनाया गया है। श्री संस्कर्ता जी का गद्य साहित्य ग्राकार मे सीमित किन्तु शिल्प की दृष्टि से काफी विशाल है। यहा की प्रादेशिक संस्कृति इनके साहित्य मे साकार हो उठी है। कवि होने के साथ साथ श्री संस्कर्ता जी ग्राधुनिक राजस्थानी गद्य के सफल ग्रांचलिक शैलीकार भी हैं।

21. डा. मनोहर शर्मा :

राजस्थानी संस्कृति को लोक कथाग्रो एवं लोक गीतों के माध्यम से पुनर्जीवित करने मे डा० शर्मा का विशेष योगदान रहा है। ग्राप शेखावाटी जन पद के प्रसिद्ध राजस्थानी कवि एवं गद्य लेखक हैं। 'ग्ररावली की ग्रात्मा', 'गीत कथा', 'पंछी', 'ग्रमर फल', 'घोरा री संगीत' ग्रादि ग्रापकी मुख्य काव्य कृतियां हैं। कुंजा, गोपी गीत, मरवण, रस धारा बापू, गजमोती, वेल वधे, जै जन–नायक नै बटाऊ ग्रादि काव्य रचनाएं समय-समय पर प्रकाशित होती रही हैं जिन पर भारतीय संस्कृति की ग्रमिट छाप है। ग्रनुवाद के क्षेत्र मे भी ग्रापको विशेष सफलता मिली है। पद्य के क्षेत्र मे ही नहीं, अपितु गद्य के क्षेत्र मे भी ग्रापकी प्रतिभा सर्वतोमुखी रही है। राजस्थानी गद्य में कहानियां, गद्य गीत, निबन्ध, रेखा-चित्र, संस्मरण एवं एकांकी मुख्य है। ग्रापने 'वरदा' नाम की तिमाही शोध पत्रिका के माध्यम से राजस्थानी साहित्य की सेवा की है। राजस्थानी बातों पर ग्रपना शोध कार्य किया है। ग्रापका रचनात्मक साहित्य समय-समय पर राजस्थानी पत्रिकाग्रो में प्रकाशित होता रहा है। कहानियों में जहां विषयगत विविधता है वहां शिल्पगत परिवर्तन एवं भाषा का गठन भी द्रष्टव्य है। इनकी कहानियों मे एक ग्रोर जहां प्राचीन लौकिक परम्परा का प्रभाव है वहां दूसरी ग्रोर ग्राधुनिकता के भी दर्शन होते हैं। मनोरजन का तत्व

1. श्री संस्कर्त्ता–'घर की रेल', पृ. 12।

इनकी समस्त कहानियों में मिलता है। सरलता एवं स्पष्टता के गुण से युक्त इनकी भाषा-शैली में कहीं भी अस्वाभाविकता एवं दुरूहता नहीं है। उदाहरणार्थ—

'एक राजा रे सिर पर दो सींग हा। राजा आपरा सींग पगड़ी में लुकोया राखतो। एक दिन नाई सुधार करण नें आयो अर राजा रा सींग देख लिया। राजा नाई नें हुकम दियो के मेरे सींगा री बात खोलदी तो सूली पर चढ़ा दियो जासी। नाई रे पेट में बात पचती कोनी पण राजा रो डर लागै। विचारे रो पेट फूलण लाग गयो। अंत में ओड़ में गयो अर ज्याऊं कानी देख्यो, कोई मिनख जायो कोनी हो। एक जगां पीपल-पीपली अर एक जाट खड़्या हा। मेवगी आप रै मन की बात गीसुवा नें सुणादी अर घरा आय गयो।'[1]

डा. मनोहर शर्मा ने कहावतों के आधार पर भी बातें लिखी हैं। इनके मूल में कहीं वीर रस का ओज और तेज छिपा है तो कही शृंगार की रस धारा। कही नीति है तो कहीं हास्य की छटा छिपी हुई है। डा. शर्मा की कहानियों का आधार लोक-कथाएं हैं। लेखक ने इन कहानियों को सजा कर एक नया रूप प्रदान किया है। कहावतों के पीछे प्रसंग छिपे रहते हैं। प्रसंग एवं कहावत का अर्थ स्पष्ट होने पर ही कहानी का कथानक प्रकट होता है। डा० मनोहर शर्मा ने बालोपयोगी साहित्य के अन्तर्गत छोटी-छोटी कहानियों का संग्रह किया है जिनकी भाषा-शैली सरल तथा बोलचाल की है। वाक्य छोटे-छोटे हैं जिनमें वर्णन विस्तार नहीं है। बात साहित्य में महत्त्वपूर्ण है—'वातां रो झूमखो, दो-भाग।'

राजस्थानी भाषा में एकांकी नाटकों की रचना विलम्ब से प्रारम्भ हुई। इस विधा का अभी शैशव काल ही चल रहा है क्योंकि परिमाण की दृष्टि से भी बहुत कम साहित्य अभी प्रकाश मे आया है। डा. शर्मा ने एकांकी नाटकों की भी रचना की है किन्तु उनका विषय मूलतः ऐतिहासिक ही है। इनकी एकांकी नाटक विषयक रचनाएं समय-समय पर 'मरुवाणी' एवं 'ओलमो' आदि पत्रिकाओं मे प्रकाशित होती रही हैं। धरम-संकट, कवि रो कलंक, बेटी जमाई, राजदण्ड एवं बदलो आदि एकांकी भाषा-शैली एवं रंगमंच की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। छोटे-छोटे वाक्यों के बल पर कथोपकथन सफल बन पड़ा है। भाषा मे ओज गुण विद्यमान है। यथा—

उमादे—रावजी री माफी सूं म्हारो मन भरै कोनी। म्हारी टेक ऊंची है। जद सिंघ गादड़ी रै लार फिरै तो सिंघणी रो मान कठै रैयो? (वदन पर क्रोध अर पीड़ा झलकै है)

रूपकला—सो तो बाईसा आप सही फरमावो हो। पण तो कूंटी मारवाड़ रै धणी री माफी भी छोटी बात कोनी। वै किण सूं माफी मांगे? पूवषा जाई तो आप सूं माफी चावै है।

उमादे—इसो कांई चूकणो? ई सूं मिनखाचार लाजै। रावजी मान री आ भी कोनी विचारी!

---

1. डा. मनोहर शर्मा, 'राजा रै दो सींग'—मरुवाणी, वर्ष 5, अंक 4 पृ. 5।

रूपकला–बाईसा, चूकणो मिनख रो सुभाव है। देवता ई चूकया है, पछै मिनख री तो बात ई कांई ? पण इणी टेक कोई पकड़ी कोनी। पाप है, तो पाप रो प्रायश्चित भी है। आखर बगत भी तो देखणो चाईजे।'[1]

कथोप-कथन में प्रवाह है एवं लौकिक सत्य भी। कहीं-कहीं स्वाभाविक रूप से कथोप-कथन मे अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है। शैली मे साहित्यिकता का गुण सर्वत्र विद्यमान है। जैसे–

(उमादे भटियाणी आप रै महल मे सारो सिणगार धारण करयां मोर सी वेस मे गादी पर बैठी है अर आगै रूपकला है)

रूपकला–'आज तो बाईसा, आप इसा लागो हो जाणे सुरग री अपसरा धरती पर उतरी है। आपनै इण रूप मे देख र मेरे अंग-अंग में इमरत री धारा सी बैवे है।'[2]

22. कथोपकथन में विवेचनात्मक शैली :

उमादे–नी रूपां, या बात कोनी। यो दूहो तो म्हारै ऊपर ही लागू पड़ै है– 'माण रखै तो पीव तज, पीव रखै तज माण।' किणी गुणी म्हानै सार संदेश दियो है–'माण रखै तो पीव तज' तूं मानवती नै विनयवती बणावै ही। संसार ने मान खोये र जीणै मे कांई सार ? लोग कहसी–'नेम लेणो ई सोरो है, निमाणो सोरो कोनी। आखर मानगी आप रै गेलै।' (जोस में आयर) नी रूपां, म्हे रावजी सूं अबोलणो भांगा कोनी, म्हारो नेम तोडां कोनी। तेरी बातां रो रंग यो दूहो उतार दीनो। 'माण रखो तज पीव।' म्हे मान राखस्यां, पीवरो मिलाप बणै कोनी।'[3]

एकांकी नाटकों मे कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक-शैली के साथ-साथ प्रलाप शैली का रूप भी मिलता है। उपालम्भ के क्षणों में-वीरमति द्वारा पिता पर क्रोध.—

"यो कांई जुलम करायो ? जो इसो अकरम ई विचारयो हो तो राठौड़ां नै सावचेत कर देणो हो। सिंघ री मोत गादड़ै रै हाथां करवाई। धूल पड़ी रजपूती मे। सोनगरा रै नाव पर कलंक लगायो। विश्वास देय र दगो करयो। पण एक दिन यो पाप जालोर ने भोल देवेलो। बस में चाली..........(कह कर प्रस्थान)"[4]

डा० मनोहर शर्मा ने देश की वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था पर व्यंग्यात्मक शैली मे लघु कहानियां भी लिखी हैं, जैसे गादड़ पट्टो, मुन्सीजी रो सुपनो आदि। "गादड़ पट्टो" शीर्षक कहानी मे डा० शर्मा ने देश की वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था पर गहरा प्रहार किया है—

"भंवरो पीजरै पूंच्यो-अरे, अठै तो कागलो है। घन ई नगर रै लोगां री बुद्धि

1. डा० मनोहर शर्मा : कवि रो कलंक, मरुवाणी, वर्ष–7, अंक 3।
2. डा० मनोहर शर्मा : कवि रो कलंक, मरुवाणी, वर्ष-7 अंक-3, पृ. 8।
3. डा० मनोहर शर्मा : कवि रो कलक, मरुवाणी, वर्ष-7, अंक-3, पृ. 9।
4. डा० मनोहर शर्मा : बेटी जमाई–एकांकी।

नै ! ये तो कागला भी पालै है अर बांने सीरो खुआवै है !..........पीजरै में तो कागलो मूवो बण्यो बैठ्यो है ।[1]

आज के समाज को कौए एव कोयल (अच्छे और बुरे) की पहिचान नहीं है । अयोग्य की भी समाज पूजा करता है–इस बात को लेखक ने व्यंग्यात्मक रूप मे प्रस्तुत किया है । यही व्यग्य मुन्सीजी को सुपनो शीर्षक कहानी मे प्रतिध्वनित हुआ है ।

'या ई मुंसीजी मे होई । सुपनो बां री सारी संका मेट दी । बै जाणग्या के आज रै भारत री चोफेरी गिरावट रो असली कारण कांई है । देस मे लायक मोट्यार हार मान कर बैठग्या अर लूला-पांगला दौड में जीत कर सगलै पदां पर जमग्या । नीति रो वचन है–जठै पूजनीक लोगां रो सनमान न होकर हलकै आदमियां रो आदर होवै, बठै काल पड़ै, मौत होवे अर भय फैलै । आज देश री या ई दशा है ।"[2]

"कानून कायदा री परवा कियां बिना ई खुद नै या खुदरी मरजी मुजब औरां नै फायदो पूंचाणो रो मिनख सुभाव है । पण जद देस में इसै सुभाव आला मिनख जरूरत सूं बेसी बढ जावै तो उण देस री भगवान ई मालक है ।"[3]

(भ्रष्टाचार पर प्रहार)

राजस्थानी निबन्ध साहित्य को समृद्ध करने मे डा० शर्मा ने विशेष योगदान दिया है । उनके विविध विषयक निबन्ध समय-समय पर राजस्थानी पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहते है । "रोहीड़ै रा-फूल" (भावात्मक), गरवण (कलात्मक), धाडवी, लाख पसाव, सेठ रो पुरसारथ (व्याख्यात्मक), नोकरां रो कारखानो, अल्ला री-मा रो चालीसो (व्यंग्यात्मक), गलनो (वर्णनात्मक) एवं आज रा-सरपंच (विवेचनात्मक) आदि निबन्ध साहित्यिक दृष्टि से उपयोगी हैं । इन निबन्धो में आधुनिक राजस्थानी की प्रचलित सभी शैलियो का प्रयोग हुआ है । लोक-कथाओं की विवेचना के अन्तर्गत जो निबन्ध मिलते हैं उनमे प्रतीकात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है । उदाहरणार्थ–

"एक बर एक हंस अर हंसणी मानसरोवर छोड़ कर सैर करता-करता एक गांव में आया । सांझ री बेला ही । बै एक बिरछ पर बासो लियो । हंसणी आपरै धणी नै बोली," यो गांव सूनो सो लागै है । अठै चेल कोनी । "ईतरै मे ई हंस री नजर एक घूघू पर पड़ी । बो बी उणी बिरछ पर बैठ्यो हो । हस घूघू कानी देखतो बोल्यो, "जठै इसा भला आदमी रै बै, बठै चेल रो के लेखो ?" या बात घूघू सुणी अर मन में घणो विचार बांध्यो । घूघू उड़ कर पंच कनै गयो अर बोल्यो, "पंचराज, मैं थारै गांव रो घूघू हूं । एक हंस मेरी लुगाई खोसली अर बा लुगाई भी पलटगी

1. डा० मनोहर शर्मा : मरुवाणी, वर्ष-7- अंक-11-12, पृ. 38 ।
2. डा० मनोहर शर्मा : मुंसीजी रो सुपनो-मरुवाणी, बरस-7, अंक-10, पृ० 5 ।
3. वही ।

है। काल दिन थे मेरो न्याव करो तो मेरो घर बंध्यो रह् ज्यावै ।' पंच गांव रै घूघू की बात पर पूरो ध्यान दियो ।

घूघू हसणी रो के जोड़ो ? फिर भी गांव रै घूघू री बात कैया गेरी जावै ? पंचां फैसलो दियो-हंसणी घूघू री लुगाई है अर हंस झूठो है ।[1]

यहां हंस और घूघू सज्जन व दुर्जन के प्रतीक हैं तथा लेखक ने पंचों के रूप में देश की न्याय व्यवस्था पर व्यंग्य किया है। देश में आधुनिक पंचायती शासन व्यवस्था की यही स्थिति है किन्तु देश की उन्नति एवं पतन दोनों ही चरित्र पर निर्भर करते हैं, जिनका आज अभाव है।

23. वर्णनात्मक शैली :

"घणा-घणा लोग जयपुर देखण जयपुर आवै अर अठै सोवणा बाजार, सुरंगा भवन, हरियल बगीचा अर ऊंचा गढ देख र आपरै नैणां नै तिरपत करै। राजस्थान री तो बात ही काई, केई चीजां मे जयपुर सपूरण भारत मांय भी बेजोड़ है। जयपुर नै "भारत रो पेरिस" कैयो है । अठै री मूर्तिकला, चित्र कला अर भांत भातरी हस्तकला दूर देसां ताणी विख्यात है। अठै हवामहल, जंतर-मंतर, अजायब-घर अर रामनिवास बाग देखणे जोग है। पण दोय स्थानां रो महत्त्व और भी घणो ऊंचो है अर उवां में एक है पुराणी राजधानी आमेर अर दूजो गलतो तीरथ।"[2]

जयपुर शहर का यथा तथ्य चित्रण वर्णनात्मक शैली में सहज एवं सरल भाषा में किया गया है। प्रथम वाक्य में जयपुर शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है, जो व्याकरण की दृष्टि से निरर्थक है।

राजस्थानी की आधुनिक गद्य विधाओं में संस्मरण रेखाचित्र एवं गद्य गीत के अन्तर्गत भी डा० शर्मा ने साहित्य की रचना की है। "संसकार", "चिलको" एवं "वेंजो छैल" आदि ऐसे ही संस्मरण एवं रेखाचित्र हैं जिनमे लेखक ने विभिन्न वर्ग के सामाजिक पात्रों के बल पर वर्तमान का चित्रण किया है। इन विधाओं में भाषा का आधुनिक विकसित रूप मिलता है। उदाहरण—

"कदे क्यूं उमंग अर कदे क्यूं तरंग। रंग रूप रो छोरो घणो ई चोखो हो पण गुणां रै नेड़ै कोनी गयो। चोखो खाणो, चोखो पैरणो अर नसो-पतो ऊपर सूं। पीसो घर मे तालै जड्यो ई कोनी छोड़तो।"

शैली में प्रसंगानुसार कहावतों, मुहावरों एवं सूक्तियों का सफल प्रयोग हुआ है, जैसे—

"आप री जांघ उघाड़्यां आप में ई लाज आवै।"
"पण बाड़ रै स्हारै बेल बाध्या करै है, एकली कोनी बंधै।"
"विधग्या सो मोती।"

1. डा० मनोहर शर्मा : आज रा सरपंच, मरुवाणी, वर्ष-6, अंक-7-8, पृ० 11।
2. डा० मनोहर शर्मा : गलतो-निबन्ध।

"ई जुंवाई मे तो छूट भलाई ही गुण है।"

"चलके में उतार लियो।" आदि।

शब्द प्रयोग के विषय मे यह कहा जा सकता है कि आपने मात्र उन्हीं शब्दों को चुना है जो लोक-प्रचलित हैं एवं यहां की भाषा के सिक्के बन गये हैं। तत्सम शब्दों के साथ-साथ ठेठ राजस्थानी शब्दो का प्रयोग भाषा-शैली को प्रौढता का गुण प्रदान करता है, जैसे-उघाड्यां, विधग्या, दसूठणा, ताला-मेली आदि। कहीं-कहीं वाक्यों मे सानुप्रासिकता का प्रयोग भी मिलता है, जैसे—

"पछै बीनणी ने पग पकड़ाई देवण री मन में ई राखियो।"

"आज म्हारे रोम-रोम में रसधारा उमड़े है।"

"सारी संपति अर सेठ रो परवार पाणी में डूबग्यो।" आदि।

गद्य मे कहीं-कहीं तुकान्तता का प्रयोग भी स्वाभाविक ढग से हुआ है तथा वाक्यों मे समस्त पदों का रूप भी मिलता है, जैसे-देस-रजपूत, वीर-धवल, प्रीत-गारो, दाता-गुन आदि।

"कन्यादान" एवं "सौनल भीग" डा. मनोहर शर्मा के प्रकाशित कहानी सग्रह हैं। भाषा लालित्य और सहज चरित्र चित्रण के कारण ये कृतियां राजस्थानी कहानी साहित्य मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। राजस्थानी गद्य का प्रौढतम रूप इन कहानियों में देखा जा सकता है। "कन्यादान" कहानी संग्रह मे संकलित अधिकाश कहानियां समस्या मूलक कहानियां है। विवाह एक सामाजिक समाधान ही नही अपितु थोड़ी सी असावधानी के कारण समस्या भी बन जाता है। अधिकाश कहानिया यथार्थवादी हैं तथा शेखावाटी अंचल के सामाजिक वातावरण पर आधारित हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक समारोहों पर प्रचलित परम्पराओं का आन्तरिक चित्रण किया गया है एवं पात्रों के चरित्र का उद्घाटन किया गया है। विवाह, कन्यादान, दहेज एवं सुयोग्य वर की तलाश मे एक सामान्य व्यक्ति को किन-किन विषम परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है इसका विवेचन इन कहानियो मे हुआ है।

कहानीकार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वातावरण को स्पष्ट करने के साथ-साथ यथार्थ-समस्या और समाधान को पात्रों और पाठकों से जोडा है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो यह सब व्यक्ति का भोगा हुआ यथार्थ है। भाषा-शैली पात्रानुकूल एवं दृश्य विधायिनी है। मारवाड़ी सेठों की हवेलियों एवं गद्दियों के आन्तरिक वातावरण का चित्रांकन किया गया है। भाषा पर शेखावाटी क्षेत्र की शब्दावली का प्रभाव है। कहावतों और मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग किया गया है। संवाद योजना के साथ-साथ वर्णात्मक शैली मे काव्यात्मकता एवं लालित्य का गुण है।

"सगेलै ब्याह मे जनेत री खूब खातरदारी होई पण जद बराती दायजो दख्यो तो आप चित्राम रा होयगा। सेठां री हैली रै पूरै चौक में बगीचो सो

लागर्यो हो, जठै सौनै रै विरछ वेलां पर मोती माणक रा फूल खिलरया हा।""
"......बैठक मे सरावना ही सौरम री डम्बर फूटै हो।"[1]

"सौनल भीग" डा. मनोहर शर्मा द्वारा रचित चिन्तन प्रधान लघु कहानियो का सकलन है। कहानियो की कथा वस्तु उतनी महत्त्वपूर्ण नही जितना कि लेखक का दृष्टिकोण और उद्देश्य है। कहानियो के अधिकांश पात्र मानव प्राणी न होकर पशु-पक्षी एवं वन-उपवन के फूल पौधे हैं जो प्रतीक बनकर उपस्थित हुए हैं। प्रत्येक कहानी मे जीवन का कटु सत्य छिपा है अतः इन्हें उद्देश्य प्रधान कहानियो की संज्ञा दी जा सकती है। कहानियों के विस्तार को देखकर कहा जा सकता है कि लेखक ने गागर मे सागर भरने का प्रयास किया है। आकार में इनसे छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण कहानियां अन्यत्र नही मिलती। उदाहरणार्थ—

"खेत मे खूब नाज लाग्यो हो। बाजरै रै एक बूंटै पर सौनल भीग आयर बैठी।

बूंटो बोल्यो, "भीग, तू उडर मत जाये। मेरे ऊपर ई बैठी रैये। तेरे बैठणै सूं मेरो रूप घणो ओपे है।"

भीग उत्तर दियो, "पण डूंबे पर साट बजावणियो छोरे कांनी भी देख। मेरे ऊपरां छोरै की निजर पड़ी अर मेरी गलपटियो तोड्यो।"

बूंटो बोल्यो, "बावली छोरो मेरी रूखाली करै है। मेरो रूप छोरै ने घणो प्यारो है। तूं डर मतना।"

इतरे में ई भींग पांख्या खोली अर उडती उत्तर दियो, "बावलो तूं है। छोरो तेरो रूप कोनी रूखालैं, बो तो आपरो नाज रूखालै है।"

—सौनल भीग

संसार मे सौन्दर्य की नही लाभ की पूजा होती है। कोरे सौन्दर्य को कोई नही स्वीकारता। बाजरे का पौधा तभी तक सुन्दर है जब वह अन्न देता है। सौनल भींग माया रूपी सौन्दर्य है तो खेत की रखवाली करने वाला लड़का शैतान का प्रतीक है। फूल, आधी, रोहीडा, पानी, सूवा अपने प्रतीकात्मक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कहानीकार ने प्रत्येक कहानी के माध्यम से एक विचार अथवा चिन्तन दिया है। रचनाकृति मे वाक्य विन्यास एवं शब्द चयन पर लेखक ने विशेष ध्यान दिया है।

"रोहीड़े रा फूल" डा. शर्मा के व्यंग्यात्मक निबन्धों का संग्रह है जिसमे छोटे-छोटे कथात्मक प्रसगों के माध्यम से समाज की वर्तमान आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओ पर करारी चोट की गयी है। व्यंग्यात्मक शैली के माध्यम से लेखक ने कहानी और निबन्ध को जोड़ने का सफल प्रयोग किया है। इस प्रयास से निबन्ध साहित्य में सरसता का गुण प्रकट हो सकता है और निबन्धकार सहज

1. कन्यादान पृ. सं. 12, डा. मनोहर शर्मा

ढग से अपना विचार पाठक तक पहुंचा सकता है। संकलित निबन्धों की भाषा प्रवाह पूर्ण है एवं लालित्य का गुण है। विषय की प्रकृति के अनुसार वर्णात्मक, विवेचनात्मक एवं व्याख्यात्मक शैलियों का प्रयोग किया गया है।

नाटक साहित्य के क्षेत्र में डा. शर्मा का 'नैणसी रो साको' शीर्षक एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुका है जिसमें ऐतिहासिक और सामाजिक एकांकी नाटकों का संग्रह है। राजस्थान की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि एवं सामाजिक परम्पराओं को सुरक्षित रखने का प्रयास इन नाटकों के माध्यम से किया गया है। व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग सभी एकांकी नाटकों में हुआ है। भाषा ठेठ राजस्थानी है जिसमें शेखावाटी क्षेत्र की आंचलिक शब्दावली का भी प्रयोग हुआ है। रंगमंच की दृष्टि से अधिकांश एकांकी नाटक सफल कहे जा सकते हैं।

अंत में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि लेखक की सभी रचनाएं एक प्रकार की ही भाषा में लिखी गई हैं। इस भाषा की प्रधान विशेषताएं हैं–काव्यात्मक पदावली, अभिव्यंजना, उल्लास और सरलता। डा. शर्मा की आंतरिक भावनाएं जब भाषा के माध्यम से बाह्य जगत में प्रकट होती हैं, तो उस भाषा पर भी अपनी छाप छोड़ती है।

24. श्री लाल नथमल जोशी :

आधुनिक राजस्थानी में श्री नथमल से पूर्व शिवचन्द्र जी भरतिया का "कनक सुन्दर" उपन्यास प्रकाशित हुआ था जो अपूर्ण था। अतः श्री जोशी का "आभै पटकी" उपन्यास राजस्थानी का एक सफल प्रयास माना जायेगा। जोशी जी की मातृ भाषा राजस्थानी है और वे उसके दृढ़ अनुरागी हैं। राजस्थानी के रिक्त भंडार को देख कर उन्होंने उसे समृद्ध बनाने का अथक् प्रयास किया। श्री जोशी का महत्वपूर्ण साहित्यिक योगदान राजस्थानी कथा साहित्य (मुख्यतया उपन्यास) में ही रहा है। नवीनतम कृति "आपणा बापूजी" की भूमिका में श्री गोकुल भाई भट्ट ने उन्हें राजस्थानी भाषा के प्रथम उपन्यासकार के रूप में स्वीकारा है। श्री जोशी जी ने अपनी कृतियों के बल पर यह स्पष्ट कर दिया है कि व्यक्तित्व के साथ शैली का विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा विषय की गरिमा के बल पर राजस्थानी भाषा में अभाव की पूर्ति निष्ठापूर्वक बड़ी सरलता से की जा सकती है।

25. कृतित्व :

आभै पटकी (उपन्यास)
सबडका (व्यंग्य चित्र एवं रेखा चित्र)
धोरा रा धोरी (उपन्यास)
आपणा बापूजी (गाधी जी की आत्म कथा का अनुवाद)
सरणागत पाल हमीर (अप्रकाशित)।

26. फुटकर रचनाएं :

कहानियां—चांदी री कटोरी, भाड़ेती, नोकरी, भाड़ा-भपटा, काल ले

सतवादी, सोवनी री मांदगी, दोहड़ी जीत, प्रेम की मनवार, प्रेम रो सोदो, मंमान री सतकार, कुं वारो चोपतो, सागुवां री सभा एवं संनाणो आदि महत्वपूर्ण कहानियां हैं।

निबन्ध—सांच बोल्यां बिना पार पड़े, मायड़ भाषा राजस्थानी, सत् पन-नाव री सार्थकता एवं मौत आदि निबन्ध विषय एवं भाषा-शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं के अतिरिक्त श्री जोशी जी ने आधुनिक संदर्भ में अनेक लोक कथाओं का संकलन भी किया है।

"आभै पटकी" एक सामाजिक उपन्यास है जिसकी विशेषताएं हैं-विधवा विवाह की समस्या, सफल चरित्र-चित्रण, तीव्र व्यंग्य, समाज-सुधारकों की कम-जोरियों एवं उनकी व्यावहारिकता का सांगोपांग चित्रण, समाज के तथा कथित ठेकेदारों की पोल एवं उनकी लोलुप प्रवृत्ति तथा धर्म की आड़ में व्यभिचार आदि का चित्रण। विधवा की सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए लेखक भूमिका में स्वयं लिखता है—"विधवा, देवर-जेठाणी, सासू-सुसरे सगळां रै पग की जूती, दुख में कुसताणी घर सुड पाणी-पिणी वं।............सासो घरे सूं सारो छूटै मदं, अबोध छोरी नै छिनावणिया री कमी हुवै। देवर, जेठ, सुसरा सगला राम का पूरा।"

प्रस्तुत उपन्यास के कथानक में वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों पर लेखक ने व्यंग्य किया है। सेठ रामचन्द्र एक ऐसा ही पात्र है जो अपने पुत्र एवं पत्नी की असामयिक मृत्यु के पश्चात् अपनी पुत्र वधु किसना के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है। किसना अपने संपदर की रक्षा का बराबर प्रयत्न करती है। अंत में लेखक ने उसका पुनर्विवाह कराकर मारवाड़ी समाज में एक सुन्दर सामाजिक परम्परा का सूत्रपात किया है।

"आभै पटकी" उपन्यास की प्रस्तावना में प्रो. नरोत्तम दास स्वामी ने उल्लेख किया है कि यह उपन्यास राजस्थानी भाषा में आधुनिक शैली का प्रथम उपन्यास है। उन्होंने आगे लिखा है, "लेखक की सबसूं बड़ी सफलता उपन्यास री भाषा है। उपन्यास री भाषा बोल चाल री, प्रवाह पूर्ण और मुहावरेदार है। भाषा माथे इसो अधिकार आधुनिक राजस्थानी रा घणा थोड़ा लेखकां में देखण आवं है।"

प्राक्कथन में डा. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है—श्रीलाल नथमल जोशी का उपन्यास "आभै पटकी" राजस्थानी भाषा में लिखा हुआ प्रथम उपन्यास है, और भाषा के कारण इस पुस्तक का विशेष महत्त्व है। "श्री जोशी जी साहित्य क्षेत्र में नवीन हैं और अपनी साहित्य में सृजना के इस प्रथम प्रयास में उन्होंने कहां तक सफलता प्राप्त की है, इसका निर्णय इस उपन्यास की भाषा-शैली एवं सुगठित कथानक को देखकर सरलता से किया जा सकता है। उपन्यास की भाषा परिमार्जित राजस्थानी (मारवाड़ी) है जिसमें प्रचलित मुहावरों का प्रयोग स्वाभाविक ढंग से किया गया है। डा. चाटुर्ज्या के शब्दों में—"भाषा विषयक जिस आदर्श को आजकल

के प्रमुख राजस्थानी लेखक मानते हैं, उसकी अनुसारी है। लेखक की प्रकाश भंगी भी आधुनिक और अच्छे ढंग की है, ऐसा जान पड़ता है।"[1] प्रस्तुत उपन्यास पर अपनी सम्मति प्रस्तुत करते हुए श्री अक्षय चन्द शर्मा ने लिखा है, "आभै पटकी उपन्यास राजस्थानी भाषा मे एक नया प्रयोग है। श्री जोशी जी ने समाज के गलित दलित अंश का मर्मोद्घाटन कर सामाजिक पतन पर गहरी विषण्ण दृष्टि डाली है। राजस्थान के जीवन से ओतप्रोत यह कहानी घरेलू मुहावरेदार भाषा मे ऐसी सुन्दर बन पड़ी है कि पढ़ते ही बनता है।"

27. मुहावरेदार भाषा शैली :

"सेठाणी घर-लोचू ही, फालतू खरचो घटावणो चावती। भोला-दोला हुवण रै कारण खरचो अंघाधुंध चालतो। ई रो मो मतलब नई कै सेठजी सेठाणी री परवा को करतो नी, जद सेठाणी आंख काढ र कोई बात कैवती तो सेठ जी री धोती ढीली हुय जावती।"[2]

देवीदास–आ किसी घर मे टिकै थोड़ी ई है। इयां मोज्यां उडायोड़ी सूं रंडापो कटसी कांई? कठैई जासी दियाली रा दिया चाटती, उछल जासी केई रै ई लारै। बूढै सारै सूमरंजी रै घोलां में धुड़ चलासी।"[3]

तथा—

अमावस रो अंधारो और पूनम रो चांद साठे बुध नाठे, काला मुंह होना, सांप मसलना, नानी याद आना, आदि लोक प्रचलित मुहावरों का सर्वत्र प्रयोग हुआ है।

28. विवरणात्मक शैली में चित्रात्मकता:—(पात्रों के परिचय के अन्तर्गत)

"सेठ रामचन्द्र जी अलवर रा दीपता आदमी है, गैरा लखपती है, ठाठबाठ तो हैसियत सूं ऊपर कर। नोकर-चाकर इत्ता के पुरी पलटण समझलो। बेटा पोता सूं घर भर्‌यो है। सभाव ठंडो, बरफ जिसो, हंसी-मसखरी नैं हरदम त्यार। आप जचें जिकै री कर लेसी, अर जे कोई आपरी मजाक करणी तो हंसते-हंसते बरदास करसी। रोसां बलते तो आज तई कैणई देख्याई कोनी।"[4]

स्वभाव को बर्फ जैसा ठंडा बताकर उपमा की नवीन कल्पना की है। वाक्यों के गठन पर खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है–उदाहरण 'अर जे कोई आपरी मजाक करसी तो हंसते-हंसते बरदास करसो' आदि। भाषा-शैली मे वातावरण को सजीव करने की कितनी क्षमता है, इसका निर्णय निम्न अवतरण से किया जा सकता है :—

1. डा. चाटुर्ज्या–"आभै पटकी"–प्राक्कथन से।
2. श्री लाल नथमल जोशी : आभै पटकी, ।
3. वही पृ. 7।
4. श्री लाल नथमल जोशी : आभै पटकी, पृ० 1।

'अस्पताल री तो बात ई नइं करणी। का तो उण आदम्यां री बेगी सुणाई हुवै जिका दो च्यार बार डाक्टर नैं घरै बुलाय र फीस देय देवैं, का कोई खुद बड़ा अफसर हुवै अर मौको पड्या डाक्टरां रा काम काढता हुवैं, का वैं आपरो काम काढलै जिका हैट-बूंट पैर र फिटा न फिट हुयोड़ा हुवैं, का क्रीम पोडर मूं लेप कर्‌योड़ी फैसनदार, माथै उगाड़ी लुगायां, अर का घणासारा गैणा पैर्‌योड़ा सेठ सेठाण्या री सुणाई हुवै। म्हां जिसा आदमी तो चपरासी चपरासण कनै धक्का भलेई झटपट ले सकै है डाक्टरां री सला अर अस्पताल री दवा बीं रै नसीब मे झट देणी कठै पड़ी है। डाक्टर तो कोई कोई फेर भी भलो निकल जावै अर हमदर्दी सूं साल-संभाल करै, पण फाटक आला ड्योढी वान तो मन में सोचै के म्हे तो डाक्टर सूं ई बेसी हां।'[1]

वातावरण की सजीवता का स्वर उपस्थित करना साहित्यकार के लिए बड़ा कठिन होता है तथा उसके अभाव में कथावस्तु में वास्तविकता भी नहीं आ पाती। श्री जोशी जी इस दिशा में पूर्ण सफल रहे हैं। उनकी शैली की प्रमुख विशेषता है-स्पष्ट-कथन। इस विशेषता के कारण उनका व्यंग्य तीखा और कहीं-कहीं कटु भी हो जाता है क्योंकि वे जीवन का चित्रण उन्मुक्तता और स्पष्टता के साथ करते हैं।

नाटकीयता का गुण उनके सम्पूर्ण कथा साहित्य में मिलता है। कथोपकथन में वार्तालाप शैली का प्रयोग 'आभै पटकी' से लेकर नवीनतम कृति 'धोरां रा धोरी' तक में मिलता है। 'धोरां रा धोरी' इटली देशवासी डा. एल. पी टैसीटोरी के जीवन, व्यक्तित्व व उनकी राजस्थानी साहित्य साधना पर आधृत एक छोटा सा उपन्यास है जिसकी भाषा-शैली अपेक्षाकृत परिष्कृत एवं आधुनिक है। कथानक उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि लेखक का उद्देश्य है। डा० टैसीटोरी के मन मे राजस्थान के लोक-जीवन एवं साहित्य के प्रति इतना अगाध स्नेह एवं आकर्षण है कि वह स्नेहमयी माता का वात्सल्य, स्वजनों का साथ एवं प्रेममयी डोरा का पवित्र प्यार जोड़ कर राजस्थान प्रदेश की मरुभूमि के धोरो मे छिपे हुए रत्नो को प्रकाश मे लाने के लिए अपनी जन्म भूमि छोड़ देता है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कठिनाइयो से जूझता है एवं मरुभूमि के लोगो का स्नेह प्राप्त कर इसी मिट्टी में समा जाता है। उपन्यासकार ने सूक्ष्म एवं सहज कल्पना के साथ इसी लघु कथानक को सफल उपन्यास का रूप प्रदान किया है। भाषा-शैली का ऐसा प्रांजल, संयत एवं सुगठित रूप बहुत कम देखने को मिलता है। स्पष्ट कथन-प्रवृत्ति, प्रभावात्मकता, आलंकारिता, साहित्यिकता, चित्रात्मकता, उचित शब्द चयन एवं कथानक मे संक्षिप्तता आदि अनेक गुण जो पूर्व-परम्परागत विशेषताओं के साथ उनकी नवीनतम रचना कृति में देखने को मिलते हैं। कथोप-कथन के प्रवाह मे स्थल-स्थल पर उनके दार्शनिक विचार भी उभर कर आते हैं, जैसे—

1. वही-पृ० 73।

विज्ञान मानव री घणख लेसी न पै इण युग जोबन रो काई भरोसो है ?'[1]

'जिन्द रो जोबन कितो छोटो है, पर जिन्दी में काम कितरा घणा है। ई जिन्द अनारै ने जे थारां हूंनमेनर, नाव-फूटर हाथ सूं दवाय देवां, तो थारो अरू म्हारो स्यूं ई घड़ा सासीरा-सासो, कोरा रा-कोरा, आवो दरा। जोबन री उई हरे मसार में सुख भी किलो कारलो। जे थारां भरा रे सुख में म्हारो भूरावा, फेर मनार री सुख थारां नै याद कदूं जावो ?'[2]

दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करने में व्याख्यात्मक पद्य शैली का प्रयोग हुआ है। भारतीय दर्शन से टैसीटोरी की भावनाएं मेल खाती हैं। घटनाओं एवं दृश्यों के विवरण प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने कहीं-कहीं विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया है। उदाहरण–

'तिभया री घुर बजगी। बीकानेर रै जुनैगढ़ सूं गणगौर री असवारी निकली। थेक मिरसो बड़ही में, पग मिलावता, सिपाई, सजयोड़ा घोड़ा, धिमां मार्दे सीधी कमर ताणें असवार, फेर गंगा-रसालो, घोड़ा-रसालो-पालरयोड़ा ऊंट, मारवी तिमनवाणा घोड़ा न्यारा, जिका खाली देखाऊ, थोड़ा युगसे री आर, पण चढ़ण सारू काम में नई लिया जावै। दो-तीन ऊंठा माथै, पटकर बांधयोड़ा फैंड़-लियां में नगारा बजावता नगारची, मस्तक पर सूंड माथै चितराम काढ़्योड़ा हस्ती, लावे, चांदी में मंड्योड़ै फूट रै सींगा मासै हिस्ट-पुस्ट बलधां री जोड़ी गुलाबल रै गोदी-तकिया पर कोली री बैलो में जुतयोड़ी, सोने चांदी री पालखयां म्हारा माथै लाली, रंग-बिरंगा गाभा पैरयोड़ी लुगायां मांय सूं थेक रै माथे गवर अर उणरै सारै सिरदार पर फेर घणो सजायोड़ो हाथी जिण माथै महाराज री असवारी।'[3]

विदेशी उपन्यासों में जो वर्णनात्मक सूक्ष्मता मिलती है, उस पद्धति का इस उपन्यास में सफल निर्वाह हुआ है।

29. कलात्मक शैली :

भावना और कल्पना के माध्यम से सौन्दर्य के अनेक पार्श्व प्रकट किये गये हैं:—

"टैसीटोरी र माथ भाल नै डोरा बोली—"इ़ बटरो इ़ बटर। तू म्हारै हिवड़ै री ठंड है, म्हारै जोबन ने ताजो राखण वाली बरफ है। और भी ठंड सिट्मां ऊजाले में गरम देसां में ज्यूं सूरज री ताती किरणां सूं' खिलयोड़ो गुलाब भी भुरस जावै, इणी तरै थारो विजोग म्हारै खातर सूरज री तीखी किरण है जिण री धाग सूं म्हारो डील बलर भसमी री ढेरी हुजासी। टैसी! थर सूं थारे जे आंसुवां री

1. श्री जोशी : धोरां रा धोरी, पृ. 35।
2. वही–पृ. 43।
3. वही–पृ 57।

नदी भी वैवाय देसी तो म्हारी आत्मा मे लाटा लेवती लपटां तो बुझै कोनी । थारा आंसू बा मे घी रो काम करसी-वे दूणी चौगणी हुयर अकास रो पल्लो झालसी ।"[1]

कलात्मक सौन्दर्य इनकी समस्त कृतियों में मिलता है तथा स्थल-स्थल पर प्रसंगानुसार काव्यात्मक एवं अलकृत शैली का भी प्रयोग हुआ है—

"अबार हूं इसै मूड में कोनी कै म्हारै मूढै सूं इमरत बरसावणियां बोल निकलं अर थारै हिरदै री कमादणी खिलै ।"[2]

मोटियार री छाती काठी गिणी जै, अर श्रो मोटियार भी काची छाती आलो नई हो, पण जद जलम-देवाल् मां रा नैण, कालजै रै समंदर मे सभावी विजोग री गरमी सूं उठ्योड़ा बादलां सूं, आभो बण-बणर बिरखा री झड़ लगावण लागग्या, फेर तो मोटियार रा सिला-खंडा जिसा थिर-विचार भी पाणी रै हबोला सागै बेवण लागग्या ।"[3]

मुहावरों के साथ-साथ लौकिक सत्य का उद्घाटन करने के लिए श्री जोशी जी ने कहावतों का भी प्रयोग किया है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग उन्होंने भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं अपितु भाषा को सशक्त, सजीव, प्रभावशाली एवं अभिव्यक्ति में पूर्णतः समर्थ बनाने के लिए ही इन बाह्य तत्त्वों का प्रयोग किया है। जैसे:—

"जीमणो मां रै हाथ सूं, हुवो भलेई जैर ई ।"

"पूत का पग पालणै ई दीस जावै ।"

"लुगाई पलटती ताल को लगावैली ।"

(धोरां रा धोरी)

30 लौकिक सत्य :

"दुःख-सुख सगलो भागा-सूं आवै । मिनख जाणै हूं इयां करूं वियां करूं, पण करण आलो कोई और ई है ।"[4]

तथा—

"जद मिनख री अकल आगै सूं अज्ञान रो पड़दो अलगो हो जावै तो फेर बी रै खातर कोई काम असाध्य अथवा असंभव कोनी ।"[5]

श्री जोशी जी के रेखा चित्रों में भी शैली के विविध रूप मिलते हैं। हास्य एवं व्यंग्य के लिए "फरीमल", "रमतियो"-एवं "गुल-छरीमल" "स्केच लिये जा सकते हैं। "बाबूजी," "रड्यो," "भोपी जी", "कालू," "मघजी" और "भागचंद" आदि मे एक ओर जहां उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट चित्र अंकित किया गया है वहां

1. श्री जोशी: धोरां रा धोरी, पृ० 46 ।
2. वही—पृ० 46 ।
3. पृ. 15 ।
4. वी–पृ० 100 ।
5. वही–सैनाणी-कहानी, मरुवाणी, वर्ष–7, अंक-9- पृ० 8 ।

वातावरण को स्पष्ट करने में स्थल-स्थल पर वर्णनात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार "भुआजी" एवं "पट्टी मायली" रेखा चित्रों में भावात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। जैसे—

31. भावात्मक शैली :

"कुण जाणें से मारयां फाड़तै बाबल री गोद माय र हरी-भरी करी ? कुण जाणें नूं मायड़ री दूधां भरी छाती सूं यड़ी पलक सारू अलगी नईं हुयी ? कुण जाणें जे तूं सात बीरा री सोनल बाई ही तो ?"[1]

श्री जोशी जी ने थोड़े से चुने हुए शब्दों के बल पर अपने रेखा चित्रों में विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। चित्रकार की तरह शब्दों के माध्यम से पात्र को साकार करने की उनमे क्षमता है। उदाहरणार्थ—

"मर्सराइज धोती, मदरास मील रो कोट, पगां में देसी पगरखी, कदेई कदेई मोजा भी, माथे ऊपर टीपाटोप केसरिया पाग, खांधे ऊपर गमछो जिको जूता र मूंडो दोनूं पूंछणा नैं माड़ो आवें, कद सरासरी, ढोलढोल गठीलो—मसाई में कुस्ती सूं त्यार हुयोड़ो हुवै जिसो मूंछयां किडकावरी, चेरै ऊपर मुलक-मैं है गुलछर्रा मल जी, जंपुर रैं बिजली घर रा एक फिटर।"[2]

श्री जोशी जी के रेखा-चित्रों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें वर्णित पात्र जन-जीवन के जीते-जागते चित्र हैं, समाज के निकटतम अंग हैं। भाषा-शैली मे स्थानीय रंगत (Local Colour) सर्वत्र विद्यमान है तथा हास्य का उचित प्रयोग होने के कारण सरसता का भी गुण सर्वत्र मिलता है। इस संग्रह मे संकलित कुछ रेखा चित्र संस्मरण की श्रेणी मे भी आते हैं क्योंकि उनमे व्यक्तित्व की आन्तरिक झलक है।

श्री जोशी जी की कहानियो का स्वर मूलतः समाज सुधार ही रहा है। "चादी की कटोरी" अवश्य ही राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित है। 'हुं तो सती हुइस" में जहां प्रेम प्रधान पारिवारिक जीवन का चित्र अंकित किया है तो 'सासुवां री सभा" के माध्यम से लेखक ने आधुनिक बहुओं पर तीखा व्यंग्य किया है।

निबन्धो की संख्या तो कम है किन्तु भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। "मौत" भावात्मक निबन्ध की विवेचना मे स्थल-स्थल पर व्याख्यात्मक एवं विवेचनात्मक शैली का प्रयोग भी हुआ है। उदाहरणार्थ—

"मौत ! लोग तनै सांतो रो उपनांव कैवे, पण म्हारै पल्ले आ बात कोई कम पड़े। पयम तो आ कै थारै थार्यां पले, जद थारा दूत घेरा घालण लागे, तो जीव री सांती हवा बण जावै। हां, जद तूं गुद आवै, तो छटपटावतो जीव नै सांती जरूर देवे पण इण सांती रै लारै कन्नभन किती हुवै ? जे अेक जवान री मौत

---

1. श्री जोशी—सबड़का, पृ० 203।
2. वही—पृ० 37।

हुई रै, तो वैस. वी री कमलनी सी कंवली घंण मोनां सूं मायो भचेड़ं, बूढ़ा मा बाप छाती माथा मागे, नान्हा टाबरिया ग्रनाथ ज्यूं बिलखै अर दूजा सगला नाह-नातै सारू कलर्प मर तनै गालया काढ़ै । जे थारो नाथ सान्ती है, फेर तो थांन्ती रो ग्ररथ बदलणों पड़सी।''

शब्दों मे ध्वन्यात्मक सौन्दर्य है एवं आनुप्रासिकता का गुण भी है। छोटे-छोटे वाक्यों के बल पर गहरा विषय का प्रतिपादन करना लेखक की अपनी मौलिकता है। "मायड़ भासा राजस्थानी" निबन्ध के अन्तर्गत राजस्थानी भाषा के महत्व को साहित्यिक शैली में तथ्यों के बल पर प्रकट किया गया है। "सांच बोल्या किया पार पड़ै" निबन्ध मे व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। लेखक की नवीनतम रचना कृति है-"आपणा बापूजी"— गांधी जी की आत्मकथा का सफल राजस्थानी अनुवाद। कृति को पढ़ते समय मौलिक का सा आनन्द मिलता है। भाषा-शैली का जो रूप उनके नवीनतम उपन्यास "धारां रा घोरी" मे है वही इस कृति मे है।

शब्द चयन एवं वाक्य गठन की दृष्टि से मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि श्री जोशी जी के साहित्य मे जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे बोलचाल मे प्रचलित राजस्थानी भाषा के अपने शब्द हैं। अस्वाभाविकता न शब्दों के प्रयोग में है और न वाक्यों के गठन मे। आवश्यक स्थानों पर, एक सामान्य बात को, लेखक जब बल देना चाहता है तो उसी जोड़-तोड़ की भावना को वह उसी प्रकार नपे-तुले छोटे-छोटे वाक्यों मे लिख कर उनमे एक चमत्कार उत्पन्न कर देता है जिससे कथन-प्रणाली मे एक अच्छी शक्ति आ जाती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग सर्वत्र हुआ है तथा कहीं-कहीं अंग्रेजी भाषा के प्रचलित शब्द, जैसे—जनरल मरचेंट, डिजाइन, हेट-बूट, प्राईवेट, प्रेक्टिस, आपरेशन आदि का प्रयोग भी हुआ है जो स्वाभाविक से ही लगते हैं। वाक्य योजना मे सर्वत्र स्पष्टता, स्वच्छता और स्वाभाविकता है। निबंधों तथा 'धोरां रा धोरी' कृति मे वाक्य विधान अपेक्षा-कृत अधिक सुगठित है। साराश यह है कि श्री जोशी जी की भाषा-शैली विषयानुसारिणी एव व्यक्तित्व की सच्ची अनुकृति है।

32. रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत :

राजस्थान के लोक-जीवन का साहित्य के माध्यम से उद्घाटन करने मे रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी के वर्तमान लेखकों मे से कुछ मे तो शैली की विशिष्टता उनकी निज की भावभूमि एवं विचार-पद्धति के अनुरूप स्वाभाविक विकास द्वारा उत्पन्न हुई है और कुछ मे बाहर के अनुकरण द्वारा, किन्तु राजस्थानी के आधुनिक गद्यकारों मे मात्र निज की भाव भूमि एवं विचार पद्धति द्वारा ही प्रस्तुत हुई है। रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत का गद्य साहित्य भी उनके व्यक्तित्व की अनुकृति है। अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता एव मर्मस्पर्शिन मधुर भाषा के बल पर उन्होंने अतीत एवं वर्तमान को परस्पर एक कड़ी के रूप मे जोड़ने का कार्य किया है।

रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत का साहित्य तीन स्रोतों में प्रवाहित हुआ है। 1. अनुवादित साहित्य। 2 प्राचीन लोक-कथाओं का संग्रह एव 3 मौलिक रचनात्मक साहित्य। अनुवादों मे रानी चूंडावत ने 'रवि ठाकर री वातां' शीर्षक के अन्तर्गत रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कहानियों का सफल अनुवाद किया है। मूल्यांकन की दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि इनके अनुवाद मौलिक रचना से प्रतीत होते है जिनमे अभिव्यक्ति मूलक प्रांजलता का गुण है। शैली मे ध्वन्यात्मकता एवं सरसता का गुण है। जैसे —

"म्हारो घर गेला रे माथे हो। मिनी "ग्राट्या ग्राट्या" ने छोड़ न भागी। जोर सूं हेला पाड़'वा लागी, 'कावली ओ कावली' मलो कुचीलो, ढीलो ढवलक पड़तो पैरियां, माथा पै साफो बांधियां, कांधा पै मेवा री झीलो लटकायां हाथ मे दो चारेक अंगूरा री पेटियां लीया एक लांब तड़ाग कावली धीरे धीरे सड़क पै जाय रियो हो। वीनें देख मिनी रा मन मे क ई आयो जो तो खवर नी। वा जोर रा हेला पाडवा लागी। म्हे जाणियो, ई अस्तला परिच्छेद लिखवा मे वो ग्राड ठहायो व्हे जाय वो तो अबारूं मेवा री झोलो कांधा मे चालियां आय ऊभो रेवेला।"[1]

रानी चूंडावत की भाषा-शैली इतनी सहज, सापेक्ष एव यथा तथ्य है कि कृत्रिमता के दोष से पूर्णतः मुक्त है। राजस्थानी भाषा की प्रकृति-गत परम्परा के अनुसार इन्होंने पुनरुक्त शब्द समास एवं अनुकरण मूलक शब्दों का प्रयोग किया है। यथा—

'ढीलो ढवकल जामो पजामो पैरियां, लांब तडाक, झोला झोली वाला कावली ने देख सावाणी एकणदम संका आय जावती।'[2]

मूल कहानियां बंगाल प्रदेश के वातावरण मे लिखी गयी है किन्तु रानी चूंडावत ने अपनी सफल भावाभिव्यक्ति के द्वारा उन्हें राजस्थानी वातावरण एवं स्वरूप प्रदान किया है। बाल सुलभ चेष्टाओं का मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण इन्होंने बडी सूक्ष्मता से किया है। शैली मे काव्यात्मकता, सरसता एव लय दृष्टव्य है–

'महेंदी मूं रचयोड़ा पगां मे छमाछम रमझोला रा घूघरा बाजरिया।'[3]

"कैणी आगे चालगी, सुणता-सुणता टाबरिया री आंखडलियां मे नींदड़ली घुलगी।"[4]

शैली मे सरसता ध्वन्यात्मक मधुरता एवं अर्थ की गहराई को बढ़ाने के लिए एक ही अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग स्थल-स्थल पर किया गया है।

'ठीक टेप पैं जाणी पिछाणी छूतरी निजर आई।'[5]

---

1. रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत : कवि ठाकर री वाता, पृ. 82।
2. वही पृ. 85।
3. वही—अणव्हैणी वात, पृ 32।
4. वही—पृ. 34।
5. वही-पृ. 30।

'मेह सूं धुपियोड़ा रूंखड़ा बरमड़ा, टालता कंवला पानड़ा, म्हेलमालिया जेड़ा धोला धोला तावड़ा मे चमकता घणां फूटरा लाग रिया ।'[1]

33. अनुवादों में चित्रात्मक शैली :

"फागण महीनें री रात है । आवा रा मोडा री गंध सूं भारो हुयोड़ो बसंत रो पवन धीमो मधरो चालरियो है । तलाव री पाल परला पुसता लीचो रा रूंख रा गैरा-गैरा पानडा माथ सूं पपैया रो पींवीं आय री । आधी रात व्हेगी पपैये ने बोलते मैं बठी नैं मुकजी रे घर में सुणटे री ओवरी में हेमंत कदी तो परणी रै माथै रो जूड़ो खोल ने कैसा नैं आगली रै पलेटरियो है, कदी अ हूं रै पलेटी लगी फूला री माला नैं उतार धौं रै मूडे पै मेल देवे । संमया री वेला छाना माना ऊभा पका फला रा पैडा नैं सावचेत करता नैं बायरो एक दाण 'अठी नूं' एक दाण बठी नूं धीमेक सी हिलाय देवै जो गत हेमंत रे मन री होयरी है ।"

राजस्थानी गद्य के भंडार को समृद्ध करने के हेतु रानी जी ने भिन्न भिन्न विषयों एवं भाषाओं का अनुवाद राजस्थानी में किया है । "संसार री नामी कहाणियां" शीर्षक कृति में उन्होने इसी उद्देश्य की पूर्ति की है । मानव के मानष की भाव भूमि एवं चित्त वृत्ति की कोई सीमा नही । वह अनन्त है एवं उसकी अभिव्यक्ति मूलक शक्ति का कोई माप दण्ड नहीं, उसकी कोई गिनती भी नहीं । रानी जी की साहित्यिक अनुभूति विस्तृत है, सीमा रहित है । उन्होंने राजस्थान के भूतकालीन इतिहास एव संस्कृति को प्राचीन लोक-कथाओ मे उद्घाटित किया है । इन कथाओं मे उनका अतीत एवं इतिहास प्रेम प्रकट होता है । 'मांझल रात' एव 'राजस्थानी लोक-गाथा' शीर्षक संग्रहों में उन्होने अपनी लेखनी से अतीत को साकार किया है । इन कृतियो में जो लोक कथाएं संकलित हैं वे आज भी राजस्थानी जन-जीवन से सुपरिचित हैं । रानी जी ने मधुर अभिव्यक्ति के बल पर इन्हें सजाया है । भाषा शैली रस प्रवाह, ओज, प्रसाद, माधुर्य एवं शब्द सौन्दर्य से अनुप्राणित है । वाक्यों मे काव्य की सी आलंकारिकता की ध्वनि ध्वनित होती है । जैसे बादला छायोड़िया, अंधारी रात में बीजलिया ओलां खेंचती, ओटा खातीं चारू कांनी चमक री जांणे इन्दराणी रा काला घाघरा में सुनेरी जरी रो काम व्हे रियो व्हे ।'[2] लांबी लांबी कैरी री फांक जसी आख्यां लाज सूं नीचे व्हेगी ।" (नवीन उपमाएं)

रानी जी की ओजस्वी साहित्य साधना के लिए महामान्य राष्ट्रपति स्व डा० राजेन्द्र प्रसाद ने शुभ कामना सन्देश प्रेषित करते हुए लिखा था-'राजस्थान के वीरतापूर्ण इतिहास मे किसी भी लेखक को अनुप्राणित करने की क्षमता है । रानी लक्ष्मी कुमारी यहाँ के वातावरण मे पली है और राजस्थान के आदर्शों तथा मर्यादा ने उनकी कल्पना और रचना शैली को प्रभावित किया है इसलिये उनको गद्य तथा

1. रानी चूंडावत रवि ठाकर री वातां, पृ 15 ।
2. वही—पृ 127 ।

पद्य की रचनाओं में ओज है।" इन लोक-कथाओं की रचना से वस्तुत: राजस्थानी भाषा गौरवान्वित हुई है। रानी जी की लोक-कथाओं में शैलियों की विविधता मिलती है। गद्य में स्थल-स्थल पर पद्य के दर्शन होते हैं। सुन्दर वाक्य विन्यास के लिए वे एक सफल गद्यकार हैं।

34 कथोपकथात्मक शैली (नाटकीयता) :

'राम राम सा' कै' राम राम सा'

'आओ बीरा जी हेठा बीराजो।'

'मांवल बोल, बीराजी, बीराजी अठै रैणिया सारी नदी रे धारे। धाटी रे धारै। अठै कोई थांरा जेठ लागे, कोई कावया सुसरा लागे, कोई फूंकिया सुसरो लागे। हू थारै लोहड़्यो देवर हूं।'

'ठीक सा।'

'नाम आपरो ?'

'नाम म्हारो पेमोजी।'

'थांरो नाम ?'

'हीरा।'

कथोपकथात्मक शैली का यह गुण 'मांझल रात' में संकलित प्रत्येक लोक-कथा में मिलता है। रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत रानी जी ने 'मूमल' कै रे चकवा बात, गिर ऊंचा ऊंचा गढां एवं बच्चों के लिए 'हुंकारो दो सा' आदि कहानी संग्रह लिखे हैं। ऐतिहासिक धरातल पर आधारित 'बाघो भारमली,' 'डूंगरजी जवार जी री बात,' 'पाबूजी री बात, 'सोरठ बीझा री बात' की रचना भी अपना पृथक् महत्व रखती है। इन कहानी संग्रहों की भूमिका में लेखिका ने राजस्थानी भाषा का प्रयोग कर राजस्थानी साहित्य की अनूठी विधा का मार्ग-दर्शन किया है। निबन्ध निबन्ध साहित्य के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 'तीन करोड़ पूतां री मा-राजस्थानी भाषा', 'मेवाड़ी फागण,' 'राजस्थानी री सानता अर साहित री महत्व,' मेवाड़ी दीवाली,' 'राजस्थानी भाषा र आपणो कर्तव्य' आदि उनके महत्वपूर्ण निबन्ध हैं जिनमें शैलीगत विविधता के दर्शन होते हैं। निबन्धों में साहित्यिकता का गुण सर्वत्र मिलता है। यात्रा एवं संस्मरण साहित्य के विकास में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यात्रा सम्बन्धी संस्मरण के अन्तर्गत 'म्हारी यासान री जात्रा' भाषा शैली की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण संस्मरण है।

35 विवेचनात्मक शैली (निबन्ध साहित्य के अन्तर्गत) :

'राजस्थानी भाषा में घोणी कल्पना री उडाण में साहित्य घोणी रचियो गियो, धर्म क्षेत्र में मूल्यां रा मेना में घोड़ा, री पूठ माथै दो पचिजोड़ा है। मोहर री माटी में धागू बाजना करी मो, रंग रा दूहा देवा ई भाषा में गूंजता रही है। राजस्थान रे इतिहास रा उजाला जो वीर आदर्श पुरुषां वा में वीर क्षत्राणी रा

भासा ज हो। राजस्थानी भासा रा एक एक ग्रामर रे लारै इतिहास है, एक एक शब्द रे पाछे एक-एक रणखेत बोले, गीत री एक एक ऋडु रे लारै पीढयां रो पराक्रम भांके। आपा ई भासा नै छोड देवांला तो ग्रापां कनै रैवेला काई ? ग्रापां री राजस्थानी की री ठो ग्रापां री भीरा ई नी नी। आपां रानी प्रतापरिया, नी प्रताप नै मूंछा दे पांण पटकाणिया पीथल।'

36. विवरणात्मक शैली : कथानक के सन्दर्भ में :

'मारवाड़ मे खीवो ग्रर बीजो दो नामी धाड़वी रै वे। बीजो सोजत में ग्रर खीवो नाडोल मे। दोजूं जणा आप रै हुनर में मा यर। नामी चोर, ग्रासपास रै चोखलै मे ठा था। दूरा दूरा मालवै ग्रर गुजरात मे जाय नै धापे। ग्रजीए ग्रर ग्रंमदाबाद रा सेठा नै सपनां मे खीवो-बीजो दीखै। खीवै-बीजो रै नाम रै सागै भगवान सेठाणियां री ग्रास्यां री नीद भाग जावै। खीवो ग्रर बीजो दोई हाथ रा चतर, सूत्यै मिनख रै डोल सूं गा वो उतार ले तो भी नींद नी भाजै। चोरी करबा चालै जद बांरा पग इसा फोरा पड़ै जाणै रुई रै पैल माथै मिनकी रो पग पड़ूयो। बांरा हाथ ऊंचो डंडो एक मलफ में कूद जावै। पचास कोस पाला जाय चोरी कर गे सूरज घर ग्राय उगावै।'

रानी चूंडावत ने ग्रपनी भाषा शैली में जिन ग्रलंकार, विशेषण, एवं विशेष्य चरित्र एवं वर्णन सौंदर्य का चित्रण किया है वह यहां की परम्परा के अनुरूप है। बातों मे सर्वत्र बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। बातों मे ग्रालंकारिक चित्रण विशेष ग्राकर्षक बन पड़ा है।

37 ग्रलंकृत शैली : (मूमल का श्रृंगारिक चित्रण) :

"ग्रागे मूमल बैठी। जांणे काली कांठल मे बिजली चमकी। कड़ियां तांई बो केस रळक रियां। बागड़िया नालेर जस्या सीस सूं लटकता केस यूं लागरिया जांणै बासक नाग लूंबरिया है। उण मादेषी री नाक ढवोड़ा री धार जस्यो। रंग भीनो रतनाली ग्रांखडलियां में काली काली काजलिया री रेखड़ी। रेसमिया तार जस्या कंवला कंवला होठां बीचे उण उजलूदन्ती रा दान्त दाड़म रा दाणा ज्यूं दमकरिया पेट ? पेट तो मूमल रो पीपलिये रा पान ज्यूं पापलो। हिवड़ो तो सांचा मे ईं ज ढलियोड़ो। दवल रा थांमा जसी जाघडलिया। पातली पीढ़ो, सपीठी साथल। तपा-योड़ा कचन सो रंग। ग्रंग ग्रंग मे मद उफल रियो।"

भाषा सौष्ठव की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि रानी जी की भाषा शैली जो राजस्थानी की विविध विधाओ मे प्रवाहित हुई है सुव्यवस्थित एवं ग्रभिव्यंजना युक्त है। एक तरफ उनकी कहानियों का कथानक जहां प्राचीन बातो तथा लोक-ग्राख्यानो से मेल खाता है वहा दूसरी ओर उनकी शैली तथा नवीन विधाओं मे प्रयुक्त भावाभिव्यंजना पूर्णतः प्रगतिशील साहित्य से मेल खाते हैं। उन्होने विषयानुसार शैली का प्रयोग किया है जिसमे सरसता एवं प्रवाह है। रानी जी की सारी

कहानियां लोक-कथाओं पर आधारित है, किन्तु उनका [illegible] शैली में है। अतीत से चले आ रहे आख्यानों एवं [illegible] युग बोध के रूप में साकार किया है।

अंत मे यह कहना समीचीन होगा कि [illegible] एवं स्वाभिमान को उन्होने यहां के कथा-साहित्य में [illegible] कालीन राजस्थानी सभ्यता एवं संस्कृति को साकार किया है। [illegible] साथ-साथ अभिव्यक्तिमूलक विशिष्टता उनके [illegible] निबन्धो की विशेषता यह है कि वे समास शैली में [illegible] मे लिखे गये हैं। छोटे-छोटे वाक्यों के बल पर [illegible] युक्त रूप प्रस्तुत किया है।

38. श्री नृसिंह राजपुरोहित :

आधुनिक राजस्थानी साहित्य मे कवि, [illegible] मे महत्वपूर्ण स्थान अर्जित कर रहे हैं। [illegible]

1. पुन्न रो काम–राजस्थानी [illegible]
2. रात वासो–राजस्थानी [illegible]
3. अमर चूंनड़ी
4. मिनख पणारो मोल–[illegible]
5. राम राज–(अनुवाद) [illegible]
6. मऊ पाली मामई-[illegible]
7. महाभारत री [illegible]

कहानीकार का [illegible] का यथार्थ की भावभूमि [illegible] जी मार' कहानी में महाजनों री [illegible] णी किया है जबकि 'मां री [illegible] पर रखने वाले और [illegible] वातावरण मे सजीवता [illegible] रांड जी पूर्णतः सफल [illegible]

पण थाकेलो नेड़ो ई नहीं फटको । इण कारण इज तो वूढ़ा वडेरा कही है के सियाल्प मे रोटी खावणी अर ऊनाला में ब्यालू करणी करणो चाइजो ।"[1]

अपनी बात को सशक्त एवं प्रभावशाली रूप में व्यक्त करने के लिए सामान्य प्रचलित लोकोक्ति का प्रयोग भी पुरोहित जी ने इस अवतरण में बुड्ढे व्यक्तियों के के प्रसंग में किया है। कहीं-कहीं ध्वन्यात्मकता का गुण तथा आलंकारिक प्रयोग भी मिलता है। जैसे "रात नै पैली पोर में मोरण ऐड़ी बोली के जाणै भाठा मे करवत चाली हू वें।[2] कथोपकथन में प्रसंगानुसार ओज गुण भी मिलता है—"ताका लाखां रो सवाल नहीं वामा! सवाल म्हारी इज्जत रो है। म्हारै अ मा थाने लूटै तो म्हारै जीवन नै धिक्कार है। दुनिया म्हारै नाम माथै थूकैली अर म्हारा बडेरा री कीरत नै कालख लाग जासी लो।"[3]

श्री राजपुरोहित जीने शब्दो की मितव्ययिता का पर्याप्त ध्यान रखा है। बात प्रायः संक्षिप्त एवं गम्भीर रूप मे बहु प्रचलित शब्दों द्वारा प्रकट की गई है। अनावश्यक विस्तार की प्रवृत्ति उनमे नहीं है। कहीं-कहीं कथोपकथन में वार्तालाप का प्रयोग होने के कारण नाटकीय शैली की कल्पना स्वतः साकार हो उठती है। जैसे—

थांणादार बकायदै बयांन लेवणा सुरू करिया—
"उबो सगलो गैणो कठै ?
आधोक तो बेच दियो अर आधो म्हारै होल्टलरी भीत लारै
जमीन मे धूरयोड़ो है।
यै उण पईसा रो काई करियो ?
आधा पईसा तो दारू सिनेमा मे अर खावण-पिवण मे खरच
हुयग्या अर आधा मा'तला पेटै देय दिया।[4]

कहीं-कहीं कहानियों मे कहावतो एवं मुहावरों का ऐसा संगत प्रयोग हुआ है कि हास्य रस की स्वतः उदभावना हो उठती है। जैसे—"इण रै बाद डोकरी री बारी ही। वा पाघरी सुर मे सारै मोहल्ले नैं सुणावती बोली-कुवै मे पड़ राड सू'। मैं क्यू' पड़ू', धणी सम्मा म्हानै अर धिरकार राड नै। मैं तो थारी छाती माथै हाल दस बरस ताई मूंग दळूंली। थारो घूघरिया खाय नै मरूंली।"[5] (पव चोकला र वखाड़ा बोथां)

श्री राजपुरोहित जी की कहानियों की भावभूमि ऐसी है कि वे सीधी हृदय एवं मस्तिष्क पर प्रहार करती हैं। उनमें लेखक द्वारा अनुभव की हुई सामाजिक

1. श्री राजपुरोहित : "भोमजी ठाकर"-मरुवाणी, वर्ष-5, अंक-2, पृ० 10।
2. वही-पृ. 12।
3. श्री राजपुरोहित-"भोमजी ठाकर,'-मरुवाणी, वर्ष-5, अंक-2, पृ. 15।
4. वही-राजस्थानी रा प्रतिनिधि कथाकार-पृ. 16।
5 वही-मरुवाणी. वर्ष-6, अंक-5, पृ. 16।

एवं पारिवारिक संवेदना है। "उडीक" कहानी को पढ़ते समय पाठक स्वयं ऐसा अनुभव करने लगता है। मानो वह भी कहानी का एक पात्र है और कहानी का नायक अबोध बच्चा "किसनू" उनका अपना ही मानजा है। उनकी कहानियों की सफलता का रहस्य कथन की स्पष्टता, प्रतिपादन की पूर्णता एवं उचित शब्द चयन में है। लेखक की अनुभूतिगत मार्मिकता देखिए—

(पांच वर्ष का बच्चा अपनी मां की प्रतीक्षा में व्याकुल है""""मां अस्पताल में मर चुकी है किन्तु अबोध बच्चा क्या जाने–मामा के आने पर–)

'पण म्हारी बाई कठै मामोसा ? माई सा तो रोज कैवे के अंठी उणरी सफाखाना सूं छुट्टी मिल जाएली अर थारं मामोसा उणनै लेयनै आवेला । वो उठी-उठी देखनै बिलखो पड़ग्यो अर म्हानै जवाब देवतो। उणरा विश्वास नै किया खंडत करतो । जिण उम्मेद री डोर माथै वो जीवै हो उणनैं किया तोड़ तो ।"[1]

भाषा-शैली का उचित रूप वही है जो लोक-चेतना को वहन करे । श्री राजपुरोहित जी ने विषय की सामयिकता और उसके साथ सहज भाषा-शैली को ही साहित्यिक सौन्दर्य का स्रष्टा माना है। शैली की अपेक्षा उन्होंने विषय को अधिक महत्व दिया है तभी उनकी कहानियां मानव-जीवन की सच्ची अनुकृति हैं। कथा साहित्य की सफलता का आधार यही है कि यदि लेखक के अनुभूत सत्य को उसके अनुभवों, विचारों, मनः स्थिति एवं संवेदना को पाठकों तक पहुंचाने में सफल रहती है तो वह एक उत्कृष्ट कोटि का साहित्य है। श्री पुरोहित जी द्वारा रचित अमर चूनड़ी, पेट की दाझ, उडीक, बदलो, आदि कहानियों की सफलता का भी यही रहस्य है।

श्री पुरोहित जी की वाक्य रचना प्रायः सन्तुलित है। कथ्य की व्यंजना के लिए उन्होने कही लक्षणा का प्रयोग किया है, कहीं सरल शब्दावली का तो कही नाटकीय शैली का। उनकी शैली में कहीं-कही आनुप्रासिकता की झलक भी मिलती है। जैसे–'राडोलिया सूं कांई राड करणी अर गाया सूं कांई ग्रास खोसणी।'[2]

'ठाकुर री जीभ तो जाणं तालवा रे चैठगी अर सभा सगली जाणं पाबूजी रा पड़ मे मंडनै चित्रांभ बणगी।"[3] कियोड़ी करसा री कमाण नैपुड़ धाणी करे नाखता।"[4]

39 लाक्षणिक प्रयोग :

"अर साचाणी जे धनजो आडो नी फिरै तो विना कसूर एक रबारण रांड व्है जाती। रबारी तो उडा मूं तेतीसा मनाया।"[5]

---

1. श्री राजपुरोहित : अमर-चूनड़ी, (उडीक), पृ० 17 ।
2. वही—पृ 64 ।
3 वही—पृ 64 ।
4. वही–पृ 35 ।
5. वही–पृ. 62 ।

श्री राजपुरोहित जी ने जैन विद्वान श्री पुष्कर मुनि के छः साहित्यिक निबन्धों का हिन्दी से राजस्थानी भाषा में अनुवाद किया है जो "मिनख पणारो मोल" नाम से प्रकाशित हुए हैं। "आचार-विचार," "विवेक का प्रकाश" एवं "धर्म के रहस्य" आदि विषयों का प्रतिपादन उन्होंने कहीं विवेचनात्मक शैली में किया है तो कहीं व्यग्यात्मक शैली में। निबन्धों में दूहों, गीतों एवं कहीं कहीं कव्वालियों का प्रयोग भी किया है जो उनकी अपनी विशेषता है।

40. विवेचनात्मक शैली :

"मिनख पणा रै बिना धर्म थोथो है, मुड्यो है, कोरो दिखावो है। पण आज नगला धर्म मिनख पणा नै छोड़ नै आस्यां मदोठ करनै आगे बधवा री होड़ करै। इण वास्तै वै सगला धर्म अर धर्मधारी नाजोगा साबत हुवं रह्या है। जठै धन-माल जात-पात, पथ-सम्प्रदाय, अंध-परम्परा, प्रान्त-प्रान्तियता, अन्ध-राष्ट्रीयता अर भाषा-भाषावाद सूं ऊपर उठनै मिनख रै बारै मे विचार कियो जावै मिनख नै मान दियो जावै, मिनख री कीमत आंकी जावै, उठै इज साचो मिनखपणो है।"[1]

निबन्धो के अनुवादो के साथ-साथ उन्होंने कथा-साहित्य का भी सफल अनुवाद किया है जो उनकी मौलिक रचनाएं सी प्रतीत होती हैं। श्री राजपुरोहित जी के गद्य के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि वह राजस्थानी गद्य का प्रौढ़-परिष्कृत रूप है। संस्कृत निष्ठ तत्सम शब्दावली को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने लोक-व्यवहार मे आने वाले तद्भव एवं देशज शब्दो का बहिष्कार नहीं किया। उन्हें यथा स्थान उदारतापूर्वक अपनाया है। उनके सुलझे हुए स्पष्ट विचार निबन्धो म तथा भावुक हृदय के निर्मल उच्छ्वास समर्थ सजीव भाषा मे व्यक्त हुए हैं।

41. श्री मूलचन्द 'प्राणेश' :

उत्कृष्ट कहानियों का सृजन करने, मातृभाषा की अभिवृद्धि करने एव राजस्थानी ग्राम्य-जीवन के वातावरण को यहा की भाषा शैली मे स्वाभाविक रूप से चित्रित करने मे श्री प्राणेश जी को महत्त्वपूर्ण सफलता मिली है। श्री प्राणेश जी की कहानियो में लोक-कथाओ का रस एवं आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। राजस्थानी पत्रकारिता के क्षेत्र मे भी उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। 'परदेशी री–गोरड़ी' (लघु उपन्यास) एवं 'हियै तणा उपाय' राजस्थानी री–बुद्धि-वर्द्धक लोक-कथाओ का सग्रह है। ये कथायें यहा के जन-जीवन की अपनी भावभूमि पर आधारित है एवं पूर्व प्रचलित रही हैं। श्री प्राणेश जी की अप्रकाशित गद्य रचनाएं इस प्रकार हैं :—

खलखली (हास्य कथा संग्रह), झोटियो (बाल कथा संग्रह), धाड़वी (उपन्यास) ऊकलता आंतरा : सीळा सांस (मौलिक कथा संग्रह), पाच ऐतिहासिक एकांकी (मौलिक) मगरै रा मोती (रेखाचित्र) एव 'एकल गिड दाढाळै री बात' (एक प्रतीका-

---

1. श्री राजपुरोहित : मिनख पणारो मोल, पृ. 14।

त्मक वीर कथा) आदि । इनमें से कुछ रचनाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं । 'जलम भोम' पत्रिका के माध्यम से भी प्राणेश जी ने राजस्थानी गद्य की नवीन विधाओं की परम्परा को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने राजस्थानी साहित्य से सम्बद्ध विविध विषयों की समीक्षा हिन्दी में भी प्रस्तुत की है ।

'परदेशी री गोरड़ी' एक लघु उपन्यास है जिसकी कथावस्तु नव-वधू (नयीं बीदणी) के जीवन पर आधारित है । पति-वियोग को वह सहन करने की स्थिति में नहीं तथा साथ ही सास का दुर्व्यवहार उसे अधिक कष्ट देता है । सुखद क्षणों का स्मरण कर वह अपने जीवन को अधिक दुःखमय बना लेती है तथा अन्त में पति-वियोग में वह अस्वस्थ हो जाती है । नयी वधू, सास, नणद, जेठाणी, देराणीं, देवर एवं जेठ आदि के पारस्परिक वार्तालाप में मनोवैज्ञानिक टच है । भाषा में साहित्यिक सौन्दर्य, भावों में सजीवता एवं वातावरण में चित्रात्मकता का गुण है ।' "हियतयां उपाय" में संकलित कहानियां बुद्धि वर्द्धक साहित्य की श्रेणी में भी रखी जा सकती हैं । इनमें स्थल-स्थल पर सामाजिक न्याय के दर्शन भी होते हैं । ये कथाएं हमारे लौकिक जीवन में किसी न किसी रूप में प्रचलित रही हैं । भाषा-शैली की दृष्टि से अवश्य ही इनमें युगानुकूल परिवर्तन हुए हैं । संक्षिप्तता एवं सरलता इनका प्रारम्भिक गुण है । कथाओं में कहीं वार्तालाप शैली का प्रयोग मिलता है तो कहीं वर्णनात्मक सौन्दर्य का । उदाहरणार्थ—

42. कथोपथन में वार्तालाप शैली:

"एक दिन मगरमच्छणी पूछ्यो–जी ! आप अै इमरत जेहड़ा मीठा फल कठै सूं लावो ?

मगरमच्छ बोल्यो–म्हारै एक बांदरो धरम भाई है उवो अै फल-फूल खावतो हुसी ।

\+ + +

मगरमच्छणी कह्यो–जणै तो उणै बांदरै रो काळजो तो इण फलां सूं मीठो हुसी ? म्हनै तो बांदरै रो काळजो लाय अर देवो ।"[1]

कथोपकथन में वार्तालाप का रूप इन समस्त लोक-कथाओं एवं "परदेशी री गोरड़ी" में स्थल-स्थल पर मिलता है । वार्तालाप शैली में सहजता एवं नाटकीयता का गुण है । संक्षिप्तता की दृष्टि से कुछ कथाओं का आकार इतना लघु है कि वे मात्र चुटकुलों सी प्रतीत होती हैं किन्तु अपने भीतर कहानी के सम्पूर्ण कथानक को समाये रखती हैं । उदाहरणार्थ—"देख मरदरी फेरी," "उलटो चोर कोटवाळ नें डांटै," "अकल बडी कै भैंस," "बोलण आळी खोर," "चोर कै मन में चानणो," "दोनूं घरबसिया एवं भली करी इयै मूरत आळी" आदि । इनमें से कुछ कथाएं

1. श्री "प्राणेश" : हियै तणां उपाय, पृ. 4–5 ।

कहावतों पर भी आधारित हैं। भाषा शैली की दृष्टि से "परदेशी-री गोरड़ी" अपेक्षाकृत सुन्दर कृति है जिसमे राजस्थानी लोकगीतों के प्रयोग के कारण काव्यात्मकता का गुण भी मिलता है। आंचलिकता के साथ स्थानीय रंगत का इतना सफल निर्वाह हुआ है कि कृति राजस्थान के जन-जीवन का सही चित्रण करती है। भाषा में कहावतों एवं मुहावरों का प्रयोग स्वाभाविकता के साथ किया गया है। उदाहरणार्थ—

"संतू उवैरी बात रो कंई पडूत्तर को दियो नीं। मन में विचारैवाह मई जमानां, थारी बलिहारी है। कोई लुच्चो लफंगो मही हुवै तो दो च्यार जणां रल-मिलर वणाय दै। आखर उथपियोड़ो कंणंई न कणंई "मरतो आक चावलै" पण अपांरो तो कांई लेवै है बापड़ा। "चंदण विस ब्यापै नहीं लिपट्या रहत भुजंग।" पण "हांडी रै आडो तो ढकणो आज्यावै अर लोकां रै मूंडै आडो हाथ को आवनी।" भलज्या जिकी साची है। "चाहे कूड़ी होवै चाहे साची, धणी रै भाग री।" आ विचार र संतू तो भलै कदै ही लुगाई जो रै घर खानी मूंडो ही को कियोनी।"[1]

+ + ×

मगतू—"क्यों कानां में कहा लेवै है।" "तू डाल्-डाल् फिरै है म्हैं पांन-पांन।" "दाई हूं ही पेट छांनै ?"[2]

तथा—

"टाबरियां घर वसैं तो बाबो बुढ़लो क्यूं लावै ?" "सगलो कारयो-पीज्यो कुपास हुयजावतो।" "आपरी साणन उघाड़या आप ही ज लाजा मरै।" "सांप लाग्या पछै कूवो कंणं खुदै।" आदि।

कथा में अनावश्यक विस्तार नहीं। समास प्रधान शैली का प्रयोग सम्पूर्ण उपन्यास मे हुआ है। कही-कहीं नायिका के रूप वर्णन में अलंकारो का प्रयोग मिलता है। जैसे—

,'बींदणी तो फूटरी है। नाक सूवै री चंच हुवै ज्यो है। रंगरी भी बाई गोरी-निछोर है। चंरै, हाली-चाली भी चोखी है। दूजोड़ी बोली-जको तो हणै ही ज गाभा सांम्या है। सियालै ताई देख्या "आभैरी बीजली अर सावण री तीज ज्यों चमकेला।"[3]

कथावस्तु के कथा विस्तार की तुलना में लोक-गीतो की संख्या अधिक है। वैसे उनका प्रयोग उचित स्थल एवं प्रसंगानुसार हुआ है तथा मरूप्रदेश के लोक-जीवन को साकार करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान देते है। कही-कही शब्दो के गठन में दोष

1. श्री "प्राणेश"—परदेशी री गोरड़ी, पृ. 20।
2. वही—पृ. 19।
3. वही।

भी प्रतीत होता है जैसे—सासू ग्रचाचूक रो वरडावणो सुण र बोली-सूती-सूती गै कुण खावै है ? बोली-बोली पड़ी क्यो रै नी । इस वाक्य में "बोली-बोली" के स्थान पर "बोल-वाली" होना चाहिए था । यों ग्रचाचूक शब्द भी बोलचाल में प्रतीत नहीं होता । इसके स्थान पर "चाणचूके" होना चाहिए था । तथा—

बीदणी पीहर जावण सारू घणां तड़फा तोड़्या में "तडफा तोड़्या" के स्थान पर "तापड़ा तोड़्या" ही बोलचाल में प्रचलित है । इसी प्रकार बीदणी बोली-'थंए म्हार लै दोई खिलो तो को काढ़ै नी ? थे कांई जाणो ? बांझड़ी कांई जाणै ब्यावणो !"—वाक्य में ग्रामीणत्व दोष है । "ब्यावणा" शब्द पशुओं की ही प्रजनन क्रिया के प्रयोग में ग्राता है-स्त्रियों के लिए नहीं । यहां बांझड़ी कांई जाणं जाणणी-का प्रयोग होना चाहिए था । कहानियों की भाषा-शैली में एक ही शब्द को दुहरा कर तथा समानार्थी शब्दो के प्रयोग से सामासिकता (पुनरुक्त समास) उत्पन्न की गई है, जैसे—जाण-बूझर, घर-कुटुम्ब, आछी-भली, जलन-तपन, रोवती-कलपती ग्रादि ।"[1]

"दोय कूकरिया" श्री प्राणेश जी की प्रतीकात्म्य एवं व्यंगात्मक शैली में रचित एक सफल कहानी है जिसमे उन्होने ग्राज के सामाजिक जन-जीवन पर करारी चोट की है । उदाहरणार्थ—

कबरियो जोर रो निसकारो न्हांखतो कवण लाग्यो—'भाईड़ा । मांरी कंयोड़ी सगली बातां सोले ग्राना निकली । मिनख जात बड़ी स्वार्थी । स्वार्थ सझियां पछै दांत'ही नहीं बूझै । म्हारी जिंदगानी नै ही देख । हूं इणांरी फरकी में ग्रायर लटापरी करतो रैयो, पूंछ हलकाय-हलकाय र पग चाटतो रैयो । इंयारी एकी सिटी रै माथै बराबरियै भायांरा गला मोसतो रैयो अर-घररी सेर वाली करतो रैयो जितरै तो यै दोय वगत टुकड़ो बरावर देवता, पण जद म्हारा हल थकग्या दोडण न्हासणरी शक्ति समाप्त हुयगी ग्रर—अणांरी सीटी साथै भायांरा गल मोसणरी ताकत घटगी जद उवां स्वार्थिया ग्रापरो हाथ काठो कर लियो ग्रर दोय वगत् टुकड़ो नहांखता जिको बंद कर दियो ।"[2]

पत्रकारिता के क्षेत्र में श्री प्राणेशजी 'जलम भोम' पत्रिका का सफल सम्पादन कर रहे हैं । सम्पादकीय के ग्रन्तर्गत उन्होने राजस्थानी भाषा मे ग्रालोचना पद्धति का शुभारम्भ किया है तथा भाषा के विकास के लिए "आपणी बात" शीर्षक के ग्रन्तर्गत ग्रपने विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनमें व्याख्यात्मक शैली के साथ साथ साहित्यिक शैली के दर्शन भी होते हैं । उदाहरणार्थ—

राजस्थानी एक स्वतन्त्र भाषा है । "इयै बात नै देस विदेस रै विद्वाना एक खुरसूं स्वीकारी है, पण इयै भाषा रै स्वरूप नै लेय'र भाषा वैज्ञानिकां में तो नहीं,

1. श्री 'प्राणेश'—जीवण-दान कहानी, मरुवाणी-वर्ष-7, ग्रंक 7 ।
2. वही राजस्थानी रा प्रतिनिधि कथाकार, पृ. 53

लेखकां अर पाठकां मे नित नुंई चर्चा हुवती रेवे । जठ तांई म्हारै खुणणं अर पढ़ण मे आ चर्चा आई है अबैं आवार ऊपर एक ही ज प्रश्न उत्पन्न हुवे कै—"किसी भाषा नैं राजस्थानी भाषा मानी जावै। जदपि राजस्थानी भाषा री परम्परा नैं आधार वणाय र इमे ऊपर विचार करियो जावै तो औ प्रश्न कोई प्रश्न ही ज नहीं रैवे। पण सगला लेखक अर पाठक तो भाषा-विज्ञानिक अर इतिहास रा विद्वान वणणं सूं रैया । इयैं खातर इयैं प्रश्न ऊपर भी विचार हूवणो जरूरी है।"[1]

श्री प्राणेश जी ने इसी परम्परा में "राजस्थान अर उणरो-स्वरूप, राजस्थानी रा पाठक," "बखत रैवता' चेतो,' "राजस्थानी भाषा रे लेखकां सूं" एवं राजस्थानी भाषा विषयक अनेक समस्याओं पर आपणी बात शीर्षक के अन्तर्गत "जलम भौम" पत्रिका के माध्यम से विवेचनात्मक एवं साहित्यिक शैली में प्रकाश डाला है।

इनकी अप्रकाशित रचनाओ के प्रकाशन के पश्चात् राजस्थानी गद्य-साहित्य की अविकसित विधाओं के अभाव की पूर्ति सम्भव हो सकेगी।

"उकलता आतरा : सीला सांस" शीर्षक कहानी संग्रह में श्री मूल चन्द 'प्राणेश' द्वारा लिखित पिछले एक दशक की कहानियो का संग्रह है । राजस्थानी भाषा की आज तक की कहानियों मे मध्यकालीन राजस्थानी समाज का ही चित्रण हुआ है जिसमे राज-रानी से लेकर भूत व प्रेत और देवी देवता तक कहानियो के प्रमुख पात्र रहे हैं। आज के व्यक्ति को पात्र बनाने का प्रयास नहीं किया गया। श्री 'प्राणेश' ने इस परम्परा को त्याग कर आज के समाज को साहित्य से जोड़ा है। कहानियो के पात्र अतीत के न होकर वर्तमान से जुड़े है और समस्याएं भी आज की ही हैं। इन कहानियो की विषय वस्तु का आधार आज का ग्रामीण समाज है। कही कहीं शहरी वातावरण से जुड़ी अनसुलझी की कड़ियां भी हैं जिनका प्रारम्भ गाव से होता है और अंत शहर के विभाजित वातावरण मे। घोर आंचलिकता का अभाव है। चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन एवं सहानुभूतिगत दृष्टिकोण के कारण कहानियों मे कही कही 'रेखाचित्र' परम्परा की झलक मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कहानियो के पात्रों को साथ लेकर लेखक ने समाज को निकट से देखा है, समझा है। "उकलता आंतरा" कहानी की प्रमुख पात्र तीजा दुर्भाग्य की देन है जो डाकिये (पोस्ट मैन) की सहानुभूति से समाज से जुड़ी हुई है। संवेदना का भाव इन कहानियों मे मार्मिकता की सृष्टि करता है।

43. श्री रावत सारस्वत :

पत्रकारिता के क्षेत्र में श्री सारस्वत जी एक विशिष्ट स्थान ग्रहण कर चुके हैं। आपने बीकानेर के श्री अनुप संस्कृत पुस्तकालय मे हस्तलिखित ग्रन्थों के विषय विभाजन के कार्य से अपना साहित्यिक-जीवन प्रारम्भ किया था। जयपुर से वरदा'

---

1. श्री प्राणेश–'जलम भोम' पत्रिका, वर्ष-1. अंक 3, पृ. 4

नाम की त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन किया किन्तु वे इसे नियमित नहीं बना सके। चन्द्रसिंह राठौड़ के सहयोग से मरुवाणी (पूर्णतया राजस्थानी) पत्रिका एवं 'पचायत' पत्र का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ किया। मरुवाणी आज भी राजस्थानी पत्रिकाओं मे प्रमुख स्थान रखती है। 'मरुवाणी' पत्रिका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा श्री सारस्वत ने राजस्थानी भाषा में एक रूपता लाने तथा उसके लिखित रूप को स्थिर करने की सुन्दर एवं सराहनीय चेष्टा की है। कृतित्व के क्षेत्र में आपने दलपत विलास (इतिहास ग्रन्थ), डिंगलगीत, महादेव पारवती री वेली, चन्दायन (प्रेम काव्य) एवं अर्वाचीन राजस्थानी काव्य रचना का सम्पादन किया है। अनुवादित साहित्य के अन्तर्गत आपने रवीन्द्र नाथ टैगोर के 'बंसरी' नाटक का अनुवाद किया है। 'बसरी' नाटक बगला का राजस्थानी अनुवाद है। सत् साहित्य को हम देश और काल की सीमा मे नहीं बांध सकते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर–बंगला के होकर भी समस्त विश्व के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। समूची मानवता के दर्शन उनके साहित्य में होते हैं राजस्थानी साहित्य अकादमी की प्रेरणा से प्रस्तुत नाटक का अनुवाद राजस्थानी में हुआ है। भाषा का जन्म और विकास वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर होता है, अतः एक भाषा की सहज अभिव्यंजना किसी अन्य भाषा मे ज्यों की त्यों समाहित नही हो पाती।

प्रस्तुत नाटक बंगाल प्रदेश के वातावरण मे लिखा गया है जिसका कथानक सफल अनुवाद के अभाव मे उलझा हुआ प्रतीत होता है। पात्रो का बाहुल्य एवं वातावरण की स्वाभाविकता नाटक को कृत्रिम प्रमाणित करते हैं। अनेक स्थलों पर अनुवादक शब्दो का ठेठ राजस्थानी रूप परिवर्तित नहीं कर सका है। सार्थकता, निरलिप्त सूक्षम, परिचय, समालोचना आदि अनेक हिन्दी के साहित्यिक शब्द है जिनको ज्यों का त्यो रखा गया है जबकि उन्हें राजस्थानी के अनुकुल चित्रित किया जा सकता था। नाटक की भाषा मे ओरिजनल, रियलिस्ट, आइडिया, न्यूसेंस, पब्लिक, वायलर आदि अंग्रेजी भाषा के इतने अधिक शब्द लाद दिए गए हैं कि साधारण पाठक उन्हें ग्रहण नही कर सकता। भाषा-शैली मे सरलता एवं सरलता का गुण अवश्य है। जैसे—

'दो मिनखां रा ठिकाणा तो मिल्या। दोरी गिणती तो गुड़ती गुड़ती पूंच जावै सुख सांति री गिरस्थी में। तीन रो नांव है। 'नाद' जिणरो काम है उलझणो। उलझतो-उलझतो आखर इसो उलझा देवे के जीवण दुख देउ नाटक बण जावें। इण मे तीतो मिनख भी जरूर ही कठै हुवैलो नही तो साहित्यिक रै खातर लोभ री चीज ही काई रह जावें ?' (बसरी–पृ० 4)

नाटक में स्थल-स्थल पर मुहावरे एवं कहावतों को राजस्थानी ढंग से ढाला गया है। जैसे–चावला रो धोवण, आख्या सूं झल निकलती री हीरा मोती बखेरना, चासणी निलाणा.... तथा—

'अलगो बैठ्यो-बैठ्यो' आइडिया (विचार) रा अंडा से रयो है।(पृ. 9)

44. लौकिक सत्य :

'सास्त्रकारां कही है, लुगायां रो दरद अर प्यार एक ही जगां रेवै, ठोड बदलता देर कोनी लागै।' (पृ. 9)

कहीं-कहीं कुछ अंग्रेजी शब्दों के प्रभाव से नाटक की भाषा-शैली में थोड़ी सजीवता सी आ गयी है। उदाहरणार्थ—

'आपरी रचना तो ठेठ रियलिस्टिक है।' (पृ. 14)

'नम्र सत बणो। इसो ओरिजनल आइडिया, इसी मंज्योड़ी चटकदार भाषा अर इसी चरित्र-चित्रण में आपरी कोई और रचना मे कोनी देख्यो।' (पृ. 14-15)।

परम्परागत ढंग से प्रस्तुत नाटक मे स्थान-स्थान पर तुकान्त और अतुकान्त गीत प्रस्तुत किये गये हैं। गीतों की भाषा और भाव राजस्थानी जीवन से मेल नहीं खाते। इस नाटक की अनुवादित भाषा-शैली चाहे अस्वाभाविक सी प्रतीत होती हो, किन्तु यह निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि श्री सारस्वत जी ने मानवीय प्यार और बलिदान की गाथा को इस कृति में प्रस्तुत किया है तथा समाज, देश और संसार के हित के लिए नये आदर्श स्थापित किये हैं।

'मरुवाणी' पत्रिका के माध्यम से श्री सारस्वत जी ने साहित्यिक विषयों पर राजस्थानी गद्य मे लिखने का प्रयास किया है जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि राजस्थानी भाषा में साहित्यिक विचारों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण शक्ति है। उदाहरणार्थ—

'हर भासा री आप री अलग शैली, न्यारो भाव अर न्यारी ही आत्मा हो वै रै। गीत में इणआत्मा री जिती जरूरत है, उतणी सायद ही किणी दूजो भांत री रचनावां मे होनी होवै। इण खातर गीतां रै कवियां नै राजस्थानी संस्कृति रै रस मे रंगणो चाही जै। पुराणै साहित रै अध्ययन-मनन साथै-साथै आज रै समाज री भावनावां ने उणां रै बीच में रह'र परखणी चाहीजै जिण सूं उण रै चित्रामां रा रंग असली रूप मे मण रै गीतां में चमक उठै।"[1]

45. सहज एवं सुबोध शैली:—(जीवनी के सन्दर्भ में)

"गुरुदेव, रवि बाबू, रवि ठाकुर अर टैगोर आदि भांत-भांत रा नावां सूं सरनाम रवीन्द्रनाथ नैं आज भारत ही नहीं दुनिया रा आखा देसां रा पढ्या-लिख्या लोग चोखी तरियां जाणै-पिछाणै। इणा रो जनम आज सूं एक सौ बरस पहला सात मई सन् 1861 में हुयो।

× × × ×

रवीन्द्र रै जनम रै बखत बंगाल मे तीन आंदोलन चाल रयाहा। एक हो धार्मिक अर सामाजिक जिण रा नेता हा राजा राम मोहन राय, दूजो हो साहित्यिक

---

1. श्री रावत सारस्वत, मरुवाणी, वर्ष 1, 10–11।

जिण रा अगुवा हा बंकिम चन्द्र, अर तीजो रो राजनीतिक। इण तीनूं आन्दोलनां री वड़ो गहरो असर रवीन्द्रनाथ रैं जीवण पर पड्यो।"[1]

भाषा में आधुनिकता के सन्दर्भ मे स्थल-स्थल पर हिन्दी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे निरर्थकता, उपासक, निरपेक्ष, भावुक, विस्तारमय चेतना आदि। निबन्ध साहित्य के अन्तर्गत विचारात्मक शैली मे अनेक निबन्ध लिखे हैं जिनमें 'थोथी बातां', 'अै तीनू दिन मरण रा', राजस्थानी रो सांस्कृतिक सर्वेक्षण, एक लाख रुपिया रो इनाम, राजस्थान गद्य निर्माण री समस्या आदि साहित्यिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। यथार्थ का चित्रण करने के लिए कहीं कहीं व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। जैसे—

"म्हारो क्रोध अर घ्रिणा उण लोगां खातर होवै जिका हजार आठसो री नौकरी करतां हुयां भी आलीसान बंगला बणा लेवे, कारां खरीद लेवैं, आपाधापी रै इण राज में मनचाया कानून बणवा'र घरां पर टेलीफोन लगवा लेवैं, दफ्तरा रा नौकरा सूं रात-दिन घरा रो धन्धो करवावै अर ऊपर सूं भ्रस्ट आचरण रैं पाण समाज सूं पीसो अर राज सूं मनचायो क्रिपावा कबाड़ लेवैं। आ रैं साथ ही बा ब्योपारिया पर भी घणी झाल् आवै जिका नाजोगा रोणे पर भी राज अर समाज नैं मूरख बणा'र पीसो लोस लेवैं अर कोडी-कोडी जोड़ेर इतणो पीसो भेलो कर लेवैं कै पीसै सूं पीसो अपणे आप आ-आ बारो तिजूरिया भरतो रैं गै, अर इण भात समाज मे पीसै रैं महत्व री थापना करेर जीवण री दूजी ऊंची बाता री बेकदरी करा देवैं।"[2]

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट होता है कि श्री सारस्वत जी के गद्य में सरलता, माधुर्य, सरसता, प्रांजलता एवं ठेठ मुहावरों का प्रयोग मिलता है। सफल पत्रकार के रूप मे आप राजस्थानी साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य के विकास में अन्य प्रमुख गद्यकारों का भी योगदान रहा है किन्तु उनमें रचनात्मक साहित्य की मात्रा कम होने से उसका पृथक् से विवेचन सम्भव नहीं। श्री शोभाराम जम्मड़ ने सामाजिक सुधार की भावना से प्रेरित होकर मारवाड़ी समाज के अनमेल विवाह का चित्र प्रस्तुत करने के लिए 'वृद्ध विवाह विदूषण' नामक एकांकी (प्रहसन) की रचना की जिसकी भाषा-शैली दादका के नाटक पर आधारित है। बालमित्र की कलजुगी कृष्ण-रुकमण एवं श्री व्रजलाल बियाणी के पौराणिक नाटक 'विजय दशमी' एवं बाल रामायण विषय वस्तु की विविधता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अवश्य हैं किन्तु भाषा-शैली मे कोई नवीनता नहीं है। उनके नाटकों के कथोपकथन मे कहीं-कहीं उपदेश की प्रवृत्ति भी मिलती है जो अस्वाभाविक एवं नीरस सी लगती है, जैसे—

---

1. श्री राव सारस्वत, मरुवाणी, वर्ष 5, अंक 5-6, पृ. 3।
2. श्री सारस्वत, राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ. 66।

"इण कलम बता सूं राज्य उलटा पलटा हो गया है। आ कलम हिजड़ा ने शूरवीर बणा दिया छै। रोवतां ने हंसा दिया छै और मन मान्या काम कर नाख्या छै। रामजी रावण सूं लड़कर आपको शस्त्र बल चमका गया पण वींको ज्ञान और मजा ने इण कलम के कारण ही मिल रह्या है। मरयोड़ा ने अजरामर करणों आ शक्ति कलम में ही छै और अब आपा ने भी इण दैवी शस्त्र को सहारो लेकर आपणा समाज का शत्रुवां पर आक्रमण करणो चाहिजे।"

(विजय दशमी, पृ. 13–14)।

उन्होंने गद्य काव्य लिखने का प्रयास भी किया था जो 'पंचराज' मे गुलाब कली एवं मोगरा कली' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुए थे। इन पर खड़ी बोली हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। क्रिया शब्द "है" के स्थान पर "छै" का प्रयोग हुआ है। शेष ध्वनियां एवं वाक्य रचना पूर्णतः खड़ी बोली पर आधारित हैं। उपन्यास के क्षेत्र में शिवचन्द भरतिया के समकालीन श्री नारायण अग्रवाल का 'चम्पा' उपन्यास भी सुधारवादी दृष्टिकोण पर आधारित एक सामाजिक उपन्यास है। उपन्यास मे राजस्थानी समाज में व्याप्त रूढ़ियों एव कुरीतियों का चित्रण किया गया है। कथोपकथन मे पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। जैसे—

"लफगानन्द—सेठ हम हरदुवार के रहने वाले हैं।

सेठ—आप कने ऐ दागिना किधर से आया ?

× × ×

सेठ—यां का किवणा रुपिया लेणा छै।"[1]

प्राचीन लोक कथाओं एवं वातों के संकलन मे श्री बद्रीप्रसाद साकरिया, श्री भवानी शंकर उपाध्याय, श्री सौभाग्यसिंह शेखावत, श्री नारायणसिंह भाटी, श्री शक्तिदान कवियों एवं श्री मोहन लाल पुरोहित का विशेष योगदान रहा है। इन कथाओं का आधार पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक रहा है। श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ने स्वतन्त्र रूप से राजस्थानी मे अनेक कहानियों एवं निबन्धों की रचना की है। कहानियों मे 'किलां रा धणी', 'लोहियांण रो कंवर', 'तीन पोंड' आदि ऐतिहासिक कहानियां भाषा-शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। भाषा सुगठित, प्रवाहपूर्ण एवं ओजपूर्ण है। जैसे—

'जैसल जी ! थारी रजपूती टेक नै धन्न है। थारै माता-पिता नैं रंग है चीतोड़ रो धणी आडावलै में भाजग्यो अर तूं मोत रै आडा पग रोप नै अड़ी खंभ वण्यो डट रैयो है। थांरी जलम भोम मेड़तो है। ओ गढ थारो नीं है। गढ री कूंच्या म्हनै सूंप दे। तनै मेड़तै रो, थारा वडेरा रो चोखलो परो देस्यूं। स्याही मनसब देस्यूं। क्यूं हठ मांड नै मिनखां रो धाण कर रैयो है।'[2]

1. श्री नारायण अग्रवाल, चम्पा, पृ. 53।
2. श्री सौभाग्य सिंह शेखावत, किलां रा धणी—मरुवाणी, वर्ष 7, अंक 5, पृ. 5।

कहानियों में स्थल-स्थल पर वीर रस के दोहों का प्रयोग प्रसंगानुसार हुआ है। चारण कवि 'नायण और गोगाजी' रा छन्द, राणै काछवें रा सोरठा आदि पर समीक्षात्मक लेख एवं 'सूजोजी चहुवांणमुडेटो रो' तथा 'कंवर रामसिंघ मोठडी रो' आदि ऐतिहासिक पात्रों पर परिचयात्मक लेख लिखे हैं। इसी श्रेणी में श्री दामोदर प्रसाद भी सफल कहानीकार, एकांकीकार एवं निबन्धकार हैं। 'कमारान री आख-ड्ल्या'[1] उनका एक मुगलकालीन ऐतिहासिक एकांकी है जो रंगमंच की दृष्टि से सफल कहा जा सकता है। रेखाचित्रों में 'चितराम', कविधण' एवं दो भाई अर दो चितराम' ऐसे रेखाचित्र हैं जो कथावस्तु की गहनता के कारण कहानी से प्रतीत होते हैं। रेखा चित्रों की भाषा कहीं-कहीं भावों की गूढता के कारण दुरूह सी हो गयी है, जैसे—

'.......हियै मे क्रोध रो भभकतो ज्वालामुखी दबाया, प्रलय काल रा उम-ड़ता मेघा री ज्यूं मुख पर काला केसा री लटा लुमायां, लुहार री धुंकणी सी नासां फुलाया, एक जवान मोट्यार हाथ मे सरकस रो हंटर लियां अर दूजो हाथ भूखं केसरी री ज्यूं आंचल पर लगायां, एक पोयण फूल सी कंवली घण री नागी कमर पर क्रूरता रा भीसण चितराम बणायां है। खून सूं तर हुयै लपकतै हंटर री आवाज साफ-साफ सुणीजै है अर सागै पवां में घायल पड़ी ढलकता आसूंडा सूं डबडब भरी आखड़ल्या नें जरा बन्द कर्यां, देही री करुणा भरी अूसब्या भी। भो सूं कांपती भीतां सूं टूटार पड़ी तसवीरा, खून सूं लाल ही।'[2]

प्रस्तुत रेखाचित्र का सम्पूर्ण कथानक इसी शब्द-चित्र पर आधारित है। बम्बई नगर का निवासी एक साधारण क्लर्क हरनाथ अपनी नौकरी से हटा दिये जाने के कारण दैनिक क्रिया कलापो से ही इतना बोझिल हो उठता है कि पत्नी की साधारण असावधानी करने पर क्रोध मे हंटर से उसे इतना मारता है कि वह बेहोश होकर आंगन मे गिर पड़ती है। स्वयं समुद्र के किनारे आकर शान्ति का असफल प्रयत्न करता है तभी उसकी पत्नी उसके से गुजरती है। वह उसे रोकने को दौड़ता है किन्तु पीछे से दौड़ती हुई कार द्वारा दुर्घटनाग्रस्त होकर दूसरे लोक मे पहुंच जाता है। यही है वह तसवीर जिसका शब्द चित्र लेखक ने प्रारम्भ मे ही प्रस्तुत किया है।

राजस्थानी गद्य का विकास आज विभिन्न विधाओं में द्रुतगति से हो रहा है। अतः विशिष्ट साहित्यकारों का उल्लेख विभिन्न विधाओं के अन्तर्गत ही किया जा रहा है।

46. नाटककार :

श्री ब्रजलाल बियाणी के पश्चात् राष्ट्रीय एवं सामाजिक विषयो से सम्ब-

---

1. मरुवाणी, वर्ष 6, अंक 10-11।
2. श्री दामोदर प्रसाद, 'चितराम'।

न्धित नाटक लिखने में ठाकुर दत्त शर्मा एवं गोविन्द लाल माथुर का प्रमुख स्थान है। दोनों ने क्रमश. 'पंचायत रा वापस कोर' एवं 'पंचायत राज्य की स्थापना' विषयक एकांकी नाटकों की रचना की। ऐतिहासिक नाटककारों में श्री नारायण अग्रवाल (महाराणा प्रताप), आशाचन्द (पन्ना धाय, देस भगत भामासा), डा० मनोहर शर्मा एवं शक्तिदान कवियों को स्वीकारा जा सकता है। श्री नारायण अग्रवाल ने 'मारवाड़ी हितकारक पत्र के माध्यम से लेखन कार्य प्रारम्भ किया था तथा विद्या उदय, महाभारत का श्रीगणेश, अक्कल बड़ी कि भैंस, भाग्योदय, सरस्वती विजय, दान धर्म, समाज सेवक मंडल आदि विविध विषयक एकांकी नाटक लिखे हैं। आपकी भाषा-शैली सामान्य बोलचाल की है, कहीं साहित्यिक परिष्कार नहीं। शेखावाटी एवं गुजराती का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। श्री भंडारी के नाटकों का कथोपकथन प्रभावपूर्ण है एवं दृश्य-विधान रंगमंच की दृष्टि से पूर्णतः सफल कहा जा सकता है। पात्रों की संख्या सीमित है एवं कथोपकथन मे छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग किया गया है, जैसे—

परताप—अमर'''''''''''''''''''''''''''''' ।

अमर—दाता।

परताप—यूं आंसू क्यूं ढालूं बेटा ?

अमर—काठी भूख लागी है, दाता! अबै तो भूख नहीं स 'यी जै।

परताप—चितौड़ रो मेवाड़ी राजकवर, यूं भूख सूं डरै।''[1]

'पन्ना धाय' नाटक की भाषा मे कहीं व्यंग्य है तो कहीं मधुरता। ओज गुण तो इस नाटक मे सर्वत्र मिलता है। वनवीर के सिपाही राज्य का हित-अनहित न देखकर जब उसी की आज्ञा का पालन करते हैं तो पन्ना धाय उन्हें व्यंग्यात्मक शैली मे बड़े ही स्वाभाविक ढग से कहती है—

''सेवक रै दूजो कई जोवणो ? जिका गादी माथै विराजै वे राजा नैं ज्यूं राजा हुकम देवैं ज्यूं सेवकां नैं करणो। सेवक री काम सत खोजणा रो नी, आतमा नैं पूछण रो नी—धणी री हरैक हुकम जैडो-केडो भी वैं उठावणारो है।''[2]

कुंभलनेर का राजा उदयसिंह को अपने आश्रय मे इन्कार करता है तथा अहिंसा को ही धर्म मानता हुआ युद्ध से डरता है। राजमाता अपने पुत्र को धर्म की शिक्षा इन शब्दो मे देती है—

राजमाता—''धरम नैं धरम री रीत सूं समझ बेटा। अहिंसा रो सीधे साधो अरथ ओ है के निबला रो सबला सूं रक्षण करणो। कोरी रक्षा री बात सूं रक्षा नी वै—बेटा।

X X X

1. श्री आशाचन्द भंडारी, 'देस भगत भामासा' (राजस्थानी एकांकी) पृ. 53।
2. श्री भंडारी, पन्ना धाय (नाटक), पृ. 21।

राजा रो पैलो धरम है रक्षा री, न्याय री। अन्याय साम्ही माथो ऊंचो करणों, अन्याय साम्ही जूझणों-जूझना मायो पण दे देवणों। आ थारो धरम है बेटा।"[1]

भाषा-शैली में स्थल-स्थल पर हिन्दी के अनुरूप कहावतों एवं मुहावरों का प्रयोग भी हुआ है, जैसे—नी तो रे वै बास नीं वजे वसरी, सूर की खाल् मे सियालियो, हिवड़ा में घाव पड़गिया है, हट छोड़ना आदि।

ग्रामीण जीवन के विकास सम्बन्धी विषयों पर श्री निरंजन नाथ आचार्य ने आठ एकांकी लिखे हैं जिनमें 'भामाशाह की याद' 'नहर रो भगड़ो' (अस्पृश्यता-फूट, भ्रष्टाचार विषयक), देवरा, गराड्या दंड एवं धरती को पणी' विषय-वस्तु एवं भाषा-शैली की दृष्टि से सफल कहे जा सकते हैं। प्रो. गोविन्द लाल माथुर एक सफल एकांकीकार हैं। 'सत रंगिणी' शीर्षक संकलन मे उनके अनेक एकांकी प्रकाशित हुए हैं। 'लालची मां-बाप' मे लेखक ने पुत्री के सम्बन्ध के लिए लड़की के पिता द्वारा वर के पिता की गुलामी करायी है। रंगमंच की दृष्टि से नाटक सफल कहा जा सकता है। भाषा शुद्ध जोधपुरी है जिसमें कही-कही व्यग्यात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। 'मां बाप', ठाकुरशाही की झलक, सूदखोर, शिक्षा का सवाल, हरिजन, शफाखाना एवं बाल विधवा आदि उनके अन्य एकाकी हैं। 'शफाखाना' के कथोपकथन मे स्थल-स्थल पर पात्रानुकूल भाषा (खड़ी बोली एवं अंग्रेजी) का प्रयोग हुआ है, जैसे—

साब—वाट डू दे से ?

बाबू—सर दे से देट वी आर दी मास्टर्स आफ दी विलेज एण्ड वी विल डू डज वी लाइक।

(शफाखाना एकांकी)

डा. माथुर ने अनेक मौलिक कहानियों की रचना तथा पंचतन्त्र एवं शेक्सपियर की कहानियों का राजस्थानी अनुवाद किया है किन्तु शेक्सपियर की कहानियों के अनुवाद वातावरण की सहजता की दृष्टि से सफल नही कहे जा सकते। वर्तमान एकांकी नाटककारो मे डा. चन्द्रशेखर भट्ट, डा. नारायण दत्त श्रीमाली, श्री गणपत चन्द भंडारी, श्री निरंजन नाथ आचार्य, श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' प्रमुख हैं। डा. भट्ट के एकांकी 'भाटो री काया' एवं 'अमर सेनाणी' संग्रहो में संकलित हैं। दोनों ही संग्रहों मे आधुनिक ढंग से प्राचीन ऐतिहासिक विषयों पर लिखित एकांकी संग्रहीत हैं जिनकी भाषा रोचक, सरल, बोधगम्य एवं प्रभावोत्पादक है। कथोपकथन मे स्पष्टता के साथ-साथ कहीं-कहीं अलंकृत एवं काव्यात्मक शैली का भी प्रयोग हुआ है, जैसे—

चूंडावत-(खुदो खुद सूं) क्यूं घड़ी-घड़ी भूलण री कोसीस करूं तो भी याद आवै

1. श्री भंडारी पन्ना धाय (नाटक) पृ. 38-39।

वा भोली भाली सूरत । वे मदमाता नैण, दाड़म जेड़ा दांत, ऊसा जेड़ा गाल नें भाटा नें भी विघलादै ऐड़ी हीरा रै कणी जेड़ी मुलकाहट । पतली फबत सरीर माथै लाज सूं ऊठी पसीना री छोटी-छोटी बूंदा, वो पेरावो, वा अदा, वो रूप, वा बोली, कितरो मस्त करण वालो रूप । कंड़ो सोवणो सरूप श्रोफ । तूं श्रो जुदा विदा री समै रांणी सूं कोई निसांणी भी तो नीं मांगी ।"[1]

'भ्रमर सेनाणी' संकलन के नाटको के संवाद इतने बड़े बड़े हैं कि रंगमंच की दृष्टि से सफल सिद्ध नही हो सकते । 'माटी री काया' की संवाद योजना रंगमच की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है । दोनों ही संग्रहो की भाषा मारवाड़ी है । मेवाड़ी बोली मे संस्कृत से अनुवादित 'शकुन्तला' नाटक श्री गिरधारी लाल का एक सफल प्रयास है । भाषा-शैली एवं वातावरण की दृष्टि से कृति मौलिक सी प्रतीत होती है ।

आजकल राजस्थानी गद्य मे एकांकी नाटकों के साथ साथ रेडियो-रूपक लिखने की परम्परा भी प्रचलित हो रही है किन्तु अभी तक इस विधा का प्रयास-काल ही चल रहा है । रेडियो रूपक लेखको में श्री गणपत लाल डांगी, गणेशीलाल उस्ताद, डा. नारायण दत्त श्रीमाली, नृसिह राज पुरोहित, यादवेन्द शर्मा एवं भरत व्यास आदि का उल्लेख किया जा सकता है । श्री नृसिहराज पुरोहित के रेडियो रूपकों का विषय ग्रामोत्थान एवं समाज सुधार है । उन्होने अपने रेडियो रूपको मे प्रसंगानुसार गीता का भी प्रयोग किया है । श्री गणेशी लाल 'उस्ताद' ने अंग्रेजी 'ओपेरा' शैली का राजस्थानी मे भी प्रयोग किया है । 'धरती उत्तरण'[1] शीर्षक अंधेरा मे देवता और मानवीय प्रेमकथा को काव्यात्मक रूप मे नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है । इसी परम्परा मे श्री दीन दयाल ओझा का राजस्थानी इतिहास पर आधारित 'रतन कुंवरी' एक सफल रेडियो रूपक है । इस दिशा मे रेडियो नाटको का विकास अभी अपर्याप्त है ।

'धाणी वैली धाल' डा. बद्री प्रसाद पंचोली का एक ऐतिहासिक नाटक है जिसकी भाषा हाड़ोती है । राजस्थानी के अन्तर्गत जितनी भी बोलिया है उनमे सबसे कम साहित्य हाड़ोती में ही मिलता है । आधुनिक राजस्थानी मे हाड़ोती बोली मे यह प्रथम नाटक है । मानव सभ्यता के एतिहासिक को अजर अमर करना चाहता है एवं कभी कभी आधुनिक समस्याओं का समाधान अतीत में खोजना चाहता है । साहित्यकार का यह इतिहास प्रेम ही उसे ऐतिहासिक रचनाओं की प्रेरणा देता है । डा. पंचोली ने भारतीय इतिहास की एक काल्पनिक घटना के माध्यम से इस नाटक की रचना की है जिसके प्रमुख पात्र हैं शाकटायन, गुणाकर, वसुमित्र, शुकदेव आदि । उज्जैन के अवन्तिका प्रदेश की लोक संस्कृति को उजागर करने का प्रयास किया है ।

---

1. डा. चन्द्रशेखर भट्ट : भ्रमर सेनाणी, पृ. 6 ।

पात्र यद्यपि ऐतिहासिक है तथा अतीत का वर्तमान पर प्रभाव डालने का प्रयास भी किया है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने प्राचीन ऐतिहासिक माध्यम से अपने युग की समस्याओं का समाधान खोजा है। नाटककार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि इस नाटक की कथावस्तु के माध्यम से उन्होंने आदमी और प्रकृति के बीच का सम्बन्ध खोजा है एवं पुरानी परम्पराओं का बहिष्कार कर नई परम्पराओं की प्रतिस्थापना की है।

गुणाकर–'मनख को मन बगड़बा सूं घरकति का सब चदारयां को गुण धरम बदल जाव छः।

नाटक की भाषा शैली मन्तव्य को प्रकट करने में सक्षम है। हिन्दी मिश्रित शब्दावली का प्रयोग अधिक हुआ है। आचंलिक का अभाव है। कृति मंचन की दृष्टि से उपयुक्त है।

'ताश रो घर' श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का एक परम्परा से हटकर एक दो अंकी सफल यथार्थवादी नाटक है जिसमे आधुनिकता के नाम पर पनपाने वाली सामाजिक एवं व्यक्तिगत विकृतियों का चित्रण किया गया है। नाटक का वातावरण पूर्णतया शहरी है एव उसका आधार है–भटकी हुई पीढी। लेखक ने आतक, भ्रष्टाचार, कुंठाओं, बेकारी, मुक्त यौन सम्बन्ध आदि विषयों पर सम्यक प्रकाश डाला है एवं गिरते हुए सामाजिक मूल्यो पर चिंता प्रकट की है। समाधान खोजना साहित्यकार का कार्य नही अपितु इन समस्याओं के समाधान के लिए नाटककार ने युवको का आह्वान किया है। दीपक, तौरस, आसित और डाक्टर (मोहीब) आज को युवा पीढी का प्रतिनिधित्व करने वाले पुरुष पात्र हैं जो सामाजिक बुराईयों में लिप्त हैं एवं 'तासक के घर' के रूप मे अस्थिर संसार बनाने का स्वप्न देखते हैं। रीता आज की स्वच्छद गमी का प्रतिनिधित्व करती है जो महानगर के कौलाहल मे भी मानसिक दृष्टि से एक दम भ्रमित है।

प्रस्तुत नाटक की भाषा ठेठ राजस्थानी है किन्तु महानगर के वातावरण को साकार करने मे अस्वाभाविक लगती है। नाटक के सभी पात्र शहरी संस्कारों मे चलने वाले भटकी पीढी के प्रतिनिधि हैं जिनके मुख से तत्कालीन राजस्थानी की शब्दावली का प्रयोग विचित्र सा लगता है, किन्तु भाषा शैली मे रचना की दृष्टि से कहीं न्यूनता नही। ठेठ राजस्थानी शब्दो के साथ अंग्रेजी भाषा की शब्दावली का प्रयोग संगत प्रतीत नही होता। वाक्य गठन एवं संवाद योजना रंगमंच की दृष्टि से पूर्णतया उपयुक्त है। छोटे छोटे वाक्यों के बल पर नाटककार के घटनाक्रम को आगे बढाया है, जैसे–दीपक तारेस। म्हारे कन एक परमानेंट नौकरी है। करैलो ?

तारेस–धक्कायत करूंला, कुण सी नौकरी ?

दीपक–ताश रो घर चिणन री, सीढी बापण तांई री नौकरी,""नो छुटांगी।

रीता–थांरी बात री सींग पूछ भी हुवें है ?

तारेख–नौकरी कांजी कांनी, पण मायला दीपक, जै इं इए काम में लाग जावूंगो जद तूं के करैलो ?

दीपक– घास खोद र खावूंलो। (तास री घर, पृ. सं. 12)

नाटक में हास्य विनोद के साथ लौकिक सत्य का उद्घाटन भी कहावतों, मुहावरों एवं उक्तियों के माध्यम से किया गया है। श्री शर्मा ने सफल ग्रभिव्यक्ति के माध्यम से इस नाटक को अन्य समृद्ध भाषाओं के नाटकों की टक्कर में ला खड़ा किया है। अंचल विशेष की स्थानीय शब्दावली एवं अंग्रेजी भाषा के प्रचलित शब्दों के प्रयोग के होते हुए भी भाषा शैली अच्छे स्तर की कही जा सकती है।

राजस्थानी एकांकी नाटकों की परम्परा में श्री करणीदान बारहठ द्वारा रचित 'ग्यानणो' बीस सूत्री आर्थिक कार्यक्रम पर आधारित प्रेरणा दायक राजस्थानी एकांकी संग्रह है जिसमें सामाजिक विकृतियों एवं आर्थिक विषमता पर करारी चोट की गयी है। दहेज की प्रथा को समाप्त किए बिना समाज में नारी की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाई जा सकती और परिवार नियोजन के अभाव से बढ़ती हुई जनसंख्या को रोका नहीं जा सकता। जनसंख्या की समस्या ही सभी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का मूल कारण है। लेखक ने ज्वलंत समस्याओं को पाठकों के सामने रखा है और दाइजो, आजादी रै बाद, औलाद चीखै रो प्यांस और ग्यानणो आदि एकांकी नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीय विचार धारा का प्रकाशन किया है। सेवा और पद के बीच जो संघर्ष छिड़ा है उसमें सेवा भावना प्रतिष्ठा को स्वीकार किया है। एकांकी संग्रह की भाषा शैली वातावरण एवं पात्रों की प्रकृति के अनुकूल है जिसमें सरलता एवं स्पष्टता का गुण है। स्थल-स्थल पर हास्य विनोद का पुट मिलता है। रंगमंच की दृष्टि से संग्रह पूर्णतया सफल कहा जा सकता है।

अनुवाद का क्रम राजस्थानी नाटकों में अभी जारी है। "साधनो" भारत के अमर नाटक का सफल राजस्थानी रुपान्तर है जिसका अनुवाद किया है आचार्य देवदत्त व्यास ने अनुवाद के क्षेत्र में मौलिकता की रक्षा हुई है।

47. कथाकार :

आधुनिक राजस्थानी के प्रमुख कथाकारों की भाषा-शैली का पृथक से चित्रण किया जा चुका है। उपन्यास साहित्य में इस शताब्दी में मात्र दो रचनाएं ही प्रकाश में आयी है। प्रथम श्री अन्नाराम सुदामा की 'मैंकती काया मुळकती धरती' और दूसरी श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' की 'हूं गोरी किण पीवरी'। यों तो श्री देवा जी के दो लोक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु 'आभै पटकी' के पश्चात् राजस्थानी भाषा के दोनों उपन्यास अपना साहित्यिक महत्त्व प्राप्त कर चुके हैं। श्री सुदामा जी ने अपने उपन्यास 'मैंकती काया–मुळकती धरती' की कहानी

1. श्री उस्ताद, मरुवाणी, वर्ष 1, अंक 9, पृ. 44।

उत्तम पुरुष 'में' से प्रारम्भ की है। लेखक एक ऐसी बुढ़िया की कहानी उसके मुख से सुनता है जो सत्तर वर्ष की है। यह कथा बुढ़िया के सम्पूर्ण जीवन की यथार्थ कहानी है। बुढ़िया का नाम सुगनी है और जाति सु सुथारी है। जब वह जवान थी, अपनी अस्वस्थ भावज से मिलने पीहर आती है। आते समय रात्रि हो जाने के भय से अपने की गांव के ठाकुर के ऊंट पर बैठकर आती है। घर वाले पूर्व निश्चित योजना के अनुसार इसी बहाने के कारण उसे घर से निकाल देते हैं। गांव का वही ठाकुर उसे अपने ही ऊंट से एक प्याऊ वाली डोकरी को संभला देता है। डोकरी की अनुपस्थिति मे उसका डोकरा सुगनी के साथ बलात्कार करने का असफल प्रयास करता है। एक बार गांव का थानेदार भी उससे ऐसा ही व्यवहार करता है किन्तु थानेदार की लड़की ही सुगनी की रक्षा करती है। सुगनी अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए तीर्थ यात्रा करती है तथा लौटकर उसी प्याऊ वाली बुढ़िया के साथ जीवन का शेष काल पूर्ण करती है। इस मूल कथा के साथ अन्य प्रासंगिक घटनाएं भी हैं जिनमे न प्रासंगिकता है और न सीमाएं ही। लेखक ने नवें परिच्छेद से इस कहानी के साथ चीन के आक्रमण से सम्बद्ध एक नयी कथा जोड़ दी है जो मूल कथा के सौन्दर्य की हत्या ही करती है।

अन्य भाषाओं के साहित्य में एक ओर जहा उपन्यास-साहित्य कथावस्तु के गठन मे नवीनता एव सामयिकता ग्रहण कर चुका है, उसकी तुलना में श्री दायमा जी का यह प्रयास विचित्र सा प्रतीत होता है स्थल-स्थल पर उपन्यासकार ने उपदेश, वक्तव्य एवं विशिष्ट विषयों की समीक्षा के द्वारा उपन्यास के स्वरूप को और भी अधिक अस्वाभाविक बना दिया है। उपन्यासकार सम्भवतः यह भूल गया हो कि वह उपन्यास नही अपितु निबन्ध—लिख रहा है। भाषा शैली की दृष्टि से अवश्य ही उपन्यासकार का प्रयास सराहनीय है। भाषा पर उपन्यासकार का पूर्ण अधिकार है। अलंकारों (उपमा, रूपक) एवं मुहावरे-कहावतो का प्रयोग प्रसंगानुसार हुआ है साथ ही कही-कही मार्मिक स्थलों पर शब्द चित्र एवं रेखाचित्र प्रस्तुत करने का भी सफल प्रयास किया गया है।

48. मुहावरे-कहावतें :

रोमां राज कुण देसी, गई वातां नै घोड़ा ई को नावडै नी, भोलो मीत दुसमन री गरज पाले, कुवें रो कबूतर, बिन्धय्या सो मोती, कुमाणस आयो भलो न जायो, कात्यो-कूत्यो कपास हु ज्यावं, चोपड़्यं घड़ं छाट को लागे नी, गादड़ं रा ऊंधा दिन आवे जद वो गाव कानी दोड़ं आदि।

49. आलंकारिक प्रयोग :

'पाछी सोयगी—इयां जिया कालवेलिये री कावड़ मे कोई बूढी सिसकती सांपण गरमी मे गलूण्डियो मारले।'[1]

\+ \+ \+

1. श्री अन्नाराम सुदामा, मैकती काया—मुलकती धरती, पृ० 6।

'मूंडै पर सल-जियां सूलै फोफलियां पर हुवै, का कोई प्रयोध कोरे कागद पर पेंसल सूं आंटा-टूंटा लीक लिकालियो करदे।'[1]

× × ×

'इण आप रै कालजै रै खूण में घटनावं, री लड़ां कियां लैणसर लगा राखी है, वां नै किसीक जुगत सू काढै है, जियां कोई स्याणो विसायती आपरै भर्‌योड़ै खूमचै मे सूं मिणिहारी रो माल काढ-काढ़ गिराक नै दिखावो हुवै।'[2]

भाषा-शैली मे उपमा एवं रूपक अलंकारों का सर्वत्र प्रयोग परम्परागत ढंग से न होकर नये ढंग से हुआ है।

श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' की औपन्यासिक कृति 'हूं गोरी किण पीवरी' आधुनिक राजस्थानी की एक सफल रचना है जो कथ्य एवं भाषा शैली दोनों ही दृष्टियों से उत्तम बन पड़ी है। श्री 'चन्द्र' ने हिन्दी में अनेक उपन्यास लिखे हैं किन्तु राजस्थानी मे उनका यह प्रथम सफल प्रयास है अन्य भाषाओं की तुलना में कथानक की दृष्टि से राजस्थानी के उपन्यास मेल नहीं खाते किन्तु इस कृति के सम्बन्ध मे ऐसा नही कहा जा सकता। यह उपन्यास राजस्थानी भाषा मे उपन्यास विधान की नयी शैली का सूत्रपात करता है। भाषा की स्वाभाविकता, रोचकता एवं सुस्पष्टता स्वतः पाठकों को कथानक की गहराई की ओर आकर्षित करती है और तब पाठक इसे बिना समाप्त किए छोड़ने की इच्छा नही करते। राजस्थानी के अन्य उपन्यासों मे यह विशेषता नही मिलती।

प्रारम्भ में लेखक पाठको से हरद्वार के स्वामी ज्ञानानन्द का परिचय कराता है तथा उन्ही के मुख से इस उपन्यास की कथा को कहलाता है। भानो और माधो दो भाई है। भानो बड़ा व माधो छोटा। पिता पियक्कड़ है। दोनों भाई मजदूरी करते हैं। बड़े का विवाह एक सुन्दर लड़की 'सुरजड़ी' से हो जाता है। बड़े भाई भाने के मन मे केवल एक ही संकल्प है कि उसका छोटा भाई पढ़कर दफ्तर का बाबू बने। पिता की इच्छा के विपरीत वह माधो को स्कूल भेजता है एवं स्वय मजदूरी करता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् बड़ा भाई पत्नी के आते ही व्यसनी, शराबी एवं जुआरी हो जाता है। पडोस की मूलकी मौसी अपनी सहृदयी प्रवृत्तियों के बल पर 'माधा' के जीवन को मोड़ने का प्रयास करती है किन्तु सम्भव नहीं हो पाता। कुसगत के कारण कर्ज के भार से दबकर अपनी पत्नी को सूचित करके 'भाना' एक दिन अचानक चुपचाप घर से निकल जाता है तथा कुछ समय पश्चात् अपनी मृत्यु की सूचना तार द्वारा भेजता है। पत्नी व छोटे भाई 'माधा पर घोर विरति के बादल मंडराने लगते हैं। मूलकी मासी उनकी बराबर सहायता करती है। माधो परीक्षा पास कर अपने मित्र की सहायता से सरकारी दफ्तर का बाबू बन जाता है।

1. श्री अन्नाराम सुदामा, मैकती काया—मुलकती धरती, पृ० 6।
2. वही, पृ० 24।

भोजाई अपने मायके चली जाती है जहां उसके मां-बाप उसे किसी को बेच देना चाहते है। मुलकी मांसी माधो को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वह अपनी भोजाई सुरजड़ी की रक्षा करके उसे अपनी पत्नी के रूप मे स्वीकार करले। माधो के सामने लक्ष्मण एवं सीता के पावन सम्बन्ध का चित्र उभर आता है। वह यह सब कैसे सहे ? भोजाई की दुर्दशा से विवश होकर उसे यह सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है। उनका जीवन प्रवाह मासी के निर्देशन मे अच्छी तरह चल पड़ता है। माधो के तीन बच्चे हो जाते हैं तब अचानक 'भाना' धनमाल लेकर उपस्थित होता है। पाठकों के सामने स्वतः प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि अब क्या होगा ? लेखक ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से भाना को सामाजिक रूप से दोषी करार-कर सन्यास ग्रहण करने के लिए बाध्य किया। अन्त मे पाठक के सामने स्वतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा कहने वाले स्वामी ज्ञानानन्द जी स्वय ही इस कथा के नायक (भाना) हैं। कथावस्तु में नवीनता है एवं यथार्थता भी।

कथावस्तु की भांति उपन्यास को भाषा-शैली मे भी नवीनता है। उपन्यास का प्रारम्भ पावन स्थल हरद्वार के धार्मिक वातावरण से किया है जिसमें स्वाभाविकता है, जैसे—

"हरद्वार ! हर री पेडियां बठै री रमझोल रै बीच का बावनी डोकरी। धणी हुंसालू अर फरीदाज। जद मिलै तद नूंबा पीसा मांगे। नई देऊं तो चिन्नेसीक टाबर जियां रूस जावै। कैवे—"हूं जोगणी वलूं। जणै-जणै कनै मांगूं कोनी। इयां अेक्टर देवानन्द मनै बाइसकोप रै माय थोड़ो सी पारट करण रा पांचसो रुपिया देवतो हो। राजकपूर.........।"[1]

50. भावात्मक शैली :

स्वामी जी गंभीर होयग्या। बोल्या, "आपां नै अठे जिकी सुख-सांती दीखै है, जिको फूट रापो दीखै है, चोखा-चोखा मन नै ओवणिया चित्राम दीखै है बै सगला तो कोरा चिलकारा है। छिन मे अदीठ होवण धाक्ता हैं। हियै री आंखड़ल्यां सूं जोवो थानै रिद रोही-रिद रोही दीखैलो। इण सुख मांय कोरो दुःख है। आणंद माय पीड़ा रै। आ पीड़ा कदेई कोनी मरै, अमर है, अजर है। इण री आठ पौर चौसठ घड़ी सै अनुभूति ईज मांणसां नै बतावैली कै जीवण अकारथ है, बिरथा है। जद बा मिनखा रै रिय-मिंदरां ईश्वर जागैलो तद बा मैं जलम रै निचोड़ री ग्यान ई जीवण रो साच है।"[2]

51. अलंकृत शैली :

बीनणी सूरजड़ी बारै बरस री ही जद परणीजेर सासरे पैली पोत आयो। कंवल्ली-काची कली-सी अर भोली। उण री कंवली-कंवली हथालियां माथै मैंदी-

---

1. श्री 'चन्द्र', हूं गोरी किण पीवरी, पृ. 1।
2. वही, पृ. 3।

रा फूल मह्क रेया हा अर मोरिया पीहू-पीहूं कर रैया हा। सतरंगी चूनडी। सासरे आयी जिण पगां पूठी गयी परी। घणी छोटी ही। आप-एग नीसर्या ई कोनी हा।"[1]

× × +

52. नवीन उपमाएं :

"लालर सी काली कुट्ट रात मड़-मारवसणी ज्यूं भाग रैयी ही। अभिसारिका ज्यूं हाल रैयो ही, हलवां बहोत हलवां।"[2]

53. यमक :

"माधो तो सफा माटी रो माधो बणग्यो।"

स्थल-स्थल पर वाक्यों में संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे—

"माधो गंभीर हुयग्यो। करुणां सूं अभिभूत होय नै बोल्यो।" (पृ. 55)

+ + +

"वो थोडी ताल विद्रोरिणी नारी ने देखतो रैयो।" पृ. 23

54. अन्य शब्द :

विश्वास, अस्तित्व, पराभूत, मार्मिक, व्यग्र, दृढता आदि।

55. आंचलिक शब्द :

कुचमाद्यां, छिनाल, चमगूंगो, डाफा चूक आदि।

स्थल-स्थल पर राजस्थानी के प्रचलित मुहावरों एवं कहावतों के परम्परागत प्रयोग से लौकिक सत्य का उद्घाटन किया गया है।

56. खड़ी बोली का प्रयोग :

माधो आछी तरियां भण रैयो है या नीं ? (पृ. 19)

"जीवन एक विचित्तर नाटक है।" (पृ. 83) वाक्य सीधे और छोटे-छोटे लिखे गये हैं। कथानक भी सुसम्बद्ध एवं प्रवाहयुक्त है। नवीनता के इस प्रयोग में भी श्री चन्द्र जी ने वाक्य रचना में कथन वक्रता एवं व्यंजना आदि का कहीं भी प्रयोग नहीं किया। कथानक में वातावरण की सजीवता तो है किन्तु स्थान विशेष की गहरी छाप न होकर राजस्थानी जन जीवन की एक झांकी सी मिलती है।

'जोग संजोग' श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का दूसरा यथार्थवादी उपन्यास है। दिल्ली महानगर के शहरी वातावरण को लेखक ने राजस्थानी से जोड़ने का सफल प्रयास किया है। कलकत्ता और बम्बई जैसे महानगरों में मारवाड़ी समाज आज भी अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा राजस्थानी भाषा के माध्यम से कर रहा है, इस उपन्यास का धरातल और परिवेश भी इसी परम्परा की एक कड़ी है। देश काल की सीमा से ऊंचे उठकर लेखक ने देश के विभाजन से

---

1. श्री 'चन्द्र', 'हूं गोरी किण पीवरी' पृ. 3।
2. वही, पृ. 7।

उत्पन्न विषम परिस्थितियों को कथावस्तु से जोड़ा है। लेखक की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वातावरण मे और काल का बोध मात्र एक छोटे से वाक्य से कराया है– "देस रै डील रा टुकड़ा हुयग्या"। पाठक का ध्यान वर्तमान से हटकर एकदम 1947 की ओर चला जाता है जहा वह लेखक के भावजगत से स्वतः जुड़ जाता है।

"लोई री नदियां वहगी। भौम री उणियारो सीवल् रै संतखानै ज्यूं लागण लागग्यो। म्हारै देस रै हिन्दू मुसलमानां मे भांत-भांत री बिखो पड़ग्यो। मिनखां री करतूत रै सामै राखस लाजां मरण लाग्या। माणस री अदला-बदली सी होय रैयी ही। पाकिस्तान सूं हिन्दू आय रैया हा अर अठै सूं मुसलमान जाय रैया ही।..........डाबर नैण, खल्लां सूं कूट्योडा जैड़ा मूंडा, नागा, तिरसा, थक्या-थूमिया आपरै कालेज री कोरां सूं बिछ्योड़ा, किणी किणी तो आपरै सामै आपरै घर आलां री हत्यावां देखी, लुगायां रै सागे जबर जिन्ना होवती सैयी।"[1]

गणेश इस उपन्यास का नायक है जो पारिवारिक परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ अपने उद्देश्य तक पहुंच पाने में प्रयत्नशील रहता है। दुर्भाग्य से सुरजीत नामक प्रेमिका को प्राप्त करने मे असफल रहता है। यह सब नियति का क्रूर प्रहार ही है। विजातीय प्रेम विवाह का स्वप्न अधूरा ही रहता है और यह मात्र जोग संजोग ही है कि गणेश सुरजीत को पाकर भी नही पा सका और अनमेल विवाह के बन्धन मे बंधना पड़ा। गणेश के व्यक्तित्व निर्माण मे पारिवारिक परिस्थितिया ही बाधक हैं।[2]

उपन्यास की भाषा-शैली ठेठ आधुनिक राजस्थानी है जिसे राजस्थानी का स्टेन्डर्ड (स्तर) रूप कहा जा सकता है। चित्रात्मकता का गुण उसमें सर्वत्र मिलता है। छोटे-छोटे वाक्यों के माध्यम से पात्रों का चित्राकन किया गया है। जैसे– "मा म्हाहिल्या है। गोरी गट्ट। फूटरी फर्री। पण घणी डरपोक। घणी सूं इत्ती डरै जिती मिन्नी गंडक सूं। दकाल सूं कालजो धूजण लाग जावै।"

व्यग्यात्मकता, काव्यात्मकता, आलंकारिकता, सक्षिप्तता एवं प्रभावोत्पादकता का गुण सर्वत्र मिलता है। कोमल कान्त शब्दावली के माध्यम से लेखक ने साहित्यिक शैली का प्रयोग किया है, जैसे–"आज मन्नै पैली दफै लाग्यो के म्हारै जीवण में भी बसन्त है, सोरप है, सुख रा फूल है।"

नाटकीयता की सृष्टि के लिए लेखक ने संवाद शैली का प्रयोग किया है। इसी प्रवृत्ति के कारण कथावस्तु मे संक्षिप्तता का गुण है। लेखक पर भाग्यवादी विचारधारा रह रहकर प्रहार करती है। इसीलिए उपन्यास की नायिका के मुख से यह विचार स्वतः प्रकट होता है–'जोग संजोग री वात हुवै है। ऊण पिरथी माथै

1. जोग संजोग–यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' पृ. 9
2. वही, पृ. 11

घणा ई नाता रिस्ता है...............थांरी, म्हारी की न कीं नातो रिस्तो पक्कायत रैवेलो।'

"अ सैन भाग रा खेल हुवै। भाग ई जमारो सुधारै अर भाग ई बिगाड़ै। भाग रै सामै देवता ई हार जावै।"

उपन्यास की कथावस्तु की समाप्ति भी भाग्यवादी विचार धारा से ही भरी है—अहिल्या धीमे सुर में कैयो, 'इण री महामाया रो अंत अपार ई हो। जलम देवणियो अर लेवणियो एक ई परमात्मा है।..........कद किणनै तेड़ो भेम दैवै को नै भी वेरो कोनी।' यह है श्री शर्मा द्वारा लिखित 'जोग-संजोग' का मूल स्वर जिसके धरातल पर उपन्यास की कथा वस्तु को खड़ा किया है।

'तिरसंकू' श्री छत्रपति सिंह द्वारा रचित इस दशक का दूसरा यथार्थवादी उपन्यास है जिसे राजस्थानी का प्रथम प्रगतिवादी उपन्यास कह सकते हैं। परम्परागत मान्यताओं को तोड़कर इस उपन्यास का नायक पवन खुले वातावरण में सांस लेना चाहता है। सामाजिक मर्यादाओं को वह पीछे छोड़ना चाहता है और युग के बदलाव को स्वीकार करता हुआ सांस्कृतिक जागृति में आस्था प्रकट करता है। कल्पना का सुख उसे रोक नहीं सकता अतः सड़ी गली पारिवारिक मर्यादाओं को ठोकर मारकर वह कर्म पुरुष बन जाता है। लीना और सैल भी पवन की तरह इस उजड़ते हुए समाज की देन हैं जो सांस्कृतिक चेतना से जुड़े हुए होने के कारण क्रान्तिकारी बन जाते हैं। इस उपन्यास में श्री छत्रपति सिंह ने निश्चित रूप से नई दृष्टि की छाप छोड़ी है।

उपन्यास की भाषा-शैली में स्वाभाविकता का गुण है एवं लेखक की भावुकता का प्रभाव बराबर पड़ा है। लेखक ने आज के समाज के व्यक्ति को खोजने का प्रयास किया है, इसलिए उनके व्यक्तित्व की छाप उपन्यास की भाषा शैली पर पड़ी है। राजस्थानी गद्य का टकसाली रूप इस कृति में अवश्य मिलता है किन्तु रोचकता, सरलता एवं भावुकता के गुण के कारण पाठक उसे अपनी जुबान मान लेता है। सत्य तो यह है कि राजस्थानी उपन्यासों के स्तर को आगे बढ़ाने में लेखक एक कदम आगे बढ़ा है।

'एक बीनणी दो बीन' श्री नगमल जोशी की एक ऐसी औपन्यासिक कृति है जो अंग्रेजी भाषा के महाकवि टेनीसन की 'ईनक आरडन' को आधार बनाकर लिखी गयी है, अथवा यों कहा जा सकता है कि 'ईनक आरडन' काव्य कृति का कथा विस्तार है जिसे राजस्थानी भाषा-परिवेश में ढाला है। मानव प्रकृति देश काल की सीमा को पीछे छोड़ आयी है। इस रचना को पद्यानुवाद न कहकर औपन्यासिक कृति ही कहा जा सकता है क्योंकि इसमें उपन्यास के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। कथा का वातावरण यद्यपि धार्मिक है, एवं दो सौ वर्ष पुरानी घटनाओं को संगठित करने का प्रयास है किन्तु उपन्यास के नायक के सामने आज भी वही परिस्थितियां हैं, जो दो सौ वर्ष पहले थी। धर्मभीरुता एवं ईश्वर में निष्ठा रखना पुरानी पीढ़ी की

परम्पराएं हो सकती हैं किन्तु उपन्यासकार ने इन परम्पराओं को नये सन्दर्भ से जोड़ा है। 'उत्सर्ग' इस उपन्यास की कथावस्तु का प्राण है जहां उपन्यास का नायक अपने प्रतिद्वन्द्वी के लिए अपनी प्रिय वस्तु भी समर्पित कर देता है। उपन्यास की भाषा शैली में पूर्ण प्रवाह है एवं सहजता का गुण है। राजस्थानी भाषा में प्रचलित कहावतों एवं मुहावरों का यथास्थान प्रयोग हुआ है जिससे उसमे मौलिकता का गुण है।

'कवल पूजा' श्री सत्येन जोशी द्वारा लिखित राजस्थानी भाषा का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है। मोहम्मद गजनवी के सुल्तान से सम्बन्धित अनेक नाटक एवं एकांकी हिन्दी भाषा में प्रकाशित हुए हैं किन्तु मुगलों के आक्रमण से प्रभावित राजस्थान प्रदेश के जन जीवन को सही रूप में चित्रित करने का श्री जोशी जी ने प्रथम प्रयास किया है। उपन्यासकार ने पात्रानुकूल भाषा शैली के माध्यम से ऐतिहासिक तथ्यों को सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। राजा विजयराज भाटी द्वारा किये गये साहसिक संकल्प को कंवल पूजा से जोड़ा है। उपन्यास मे स्थल-स्थल पर संवाद शैली का प्रयोग हुआ है। ओज, प्रसाद एव माधुर्य गुण से सम्पन्न-कवल पूजा' एक सफल ऐतिहासिक उपन्यास है जिसका सही रूप मे नाट्य रूपान्तरण किया जा सकता है।

'मैवे रा रू ंख' श्री अन्ना राम सुदामा का इस दशक का एक महत्त्वपूर्ण आंचलिक राजस्थानी उपन्यास है जिसमे श्री सुदामा ने सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विषमताओं पर गहरी चोट की है। 'मैकती काया मुलकती धरती' के बाद उनका यह दूसरा यथार्थवादी उपन्यास है जिसमे व्यंग्यात्मक शैली के माध्यम से वर्तमान पीढी की विसंगतियों को पाठको के सामने रखा है। उपन्यास के पात्र राजस्थान के गांवो की विभिन्न जातियों एवं वर्गों का प्रतिनिधित्व करते है। वातावरण को स्पष्ट करने में वर्णनात्मक एवं चित्रात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। संवाद शैली मे नाटकीयता का गुण है। पात्रो के मनोगत भावों को स्पष्ट करने के लिए मनोवैज्ञानिक शैली का सफल प्रयोग हुआ है। लौकिक सत्य को कहावतों, मुहावरो एवं व्यावहारिक जीवन में प्रचलित उक्तियों से स्पष्ट किया गया है। जैसे--
'चिलम भर धुगली लागुढी माडी।'

+ + +

'चौर चौर सैं मौसियाई भाई।'

X X X

"मटकी मैं पाणी गरम, चिढ़िया न्हावं धूड़
ईडा ले कीड़ी चढ़ै, तो बिरखा भरपूर।"
'अनीत री ऊमर-घणी लम्बी को हुवैनी।'

"मैवे रा रू ंख" उपन्यास की रचना के माध्यम से श्री सुदामा ने यह सिद्ध कर दिया है कि अभिव्यक्ति के क्षेत्र में राजस्थानी गद्य अन्य भाषाओं से पीछे नहीं

है। आवश्यकता मात्र प्रोत्साहन की है। प्रस्तुत उपन्यास राजस्थानी गद्य का एक सफल प्रौढतम रचना है। "मिनख री खोज" उपन्यास के माध्यम से श्री बजरंग लाल माली "प्रशान्त" के मार्ज के व्यक्ति और समाज के बीच प्रकट होने वाले अलगाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भारतीय समाज में जो बदलाव आ रहा है वह पश्चिमी देशों की विकृत परम्पराओं का परिणाम है। व्यक्ति और समाज के बीच टूट पैदा हो रही है, जिसका प्रभाव भारतीय समाज पर भी पड़ा है। इस प्रभाव को सामान्य नागरिक सहज भाव से स्वीकार करता चल रहा है किन्तु आज का भारतीय साहित्यकार अत्यन्त चिन्तित है क्योंकि हमारा सामाजिक ढांचा ही लड़खड़ा गया है जिसमे सामाजिक मूल्यों मे गिरावट पैदा हो रही है। यह स्थिति शुभ नहीं हो सकती। श्री प्रशान्त ने इसी विचार को आज के पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है जिससे समाज के भविष्य पर अनेक प्रश्न चिन्ह लग गये हैं। लेखक की भावुकता से उपन्यास की भाषा शैली मे परिष्कार उत्पन्न हुआ है। सत्य तो यह है कि लेखक ने पैनी दृष्टि से आज के व्यक्ति को समझने की कोशिश की है।

राजस्थानी उपन्यासों की रचना की गति धीमी है किन्तु जो कुछ प्रकाशित हो रहा है वह युगानुकूल है। राजस्थानी उपन्यासकार चिन्तन और कर्म से पिछड़ा हुआ नहीं है, वह अत्यन्त सजग है। परम्परागत रचना शैली को त्याग कर नई तकनीक अपना रहा है। राजस्थानी साहित्यकार अब कविता के युग को पीछे छोड़कर गद्य युग मे प्रवेश कर रहा है। गद्य की अभिव्यक्ति जीवन के अधिक निकट होती है क्योंकि उसमे स्वाभाविकता सरलता एवं यथा तथ्यता का गुण होता है। आज तक राजस्थानी के साहित्यकारों ने मात्र कविता को ही सर्वस्व माना इसी कारण अन्य भाषाओं में साहित्य की तुलना में आधुनिक राजस्थानी गद्य पिछड़ा हुआ रहा। आशा है आज का राजस्थानी साहित्यकार अपनी गौरवपूर्ण परम्पराओं को यथा साहित्य के माध्यम से आगे बढ़ाएगा।

साहित्यकार का दायित्व यह नहीं है कि वह सामाजिक और आर्थिक शोषक की आवाज को सरकारी तन्त्र तक पहुंचाये किन्तु उसकी संवेदनाओं को दबाया भी नहीं जा सकता। वह शोषण के विरुद्ध वातावरण बना सकता है और समाज को वर्ग संघर्ष की चेतना दे सकता है, दबे हुओ को उठने की प्रेरणा दे सकता है। श्री बैजनाथ पंवार आधुनिक राजस्थानी के ऐसे ही कहानीकार हैं जिन्होंने प्रेम चद की तरह ग्रामीण जीवन को निकट से देखा है। "नैणां खूट्यो नीर" श्री पवार का मौलिक कहानी संग्रह है जिनमे उनका भोगा हुआ यथार्थ है। संग्रह की समस्त कहानियां यथार्थ की भूमि पर खडी हैं। कहानीकार ने आम आदमी के दुखः दर्द को समझा है। इसी कारण आर्थिक विषमता से जर्जरित एवं शोषित समाज के प्रति उनकी संवेदनाएं जुड़ी हुई हैं। लाडेसर, मूरी, नैणां खूट्यो नीर और हार्‌योड़ी जिनगानी अत्यन्त मार्मिक कहानियां है, जिनमें व्यंग्यात्मक शैली के माध्यम से

सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं का पर्दाफाश किया गया है। संग्रह की भाषा में परिपक्वता एवं प्रौढ़ता का गुण है। कहानियों में आंचलिकता है एवं ठेठ मारवाड़ी बोली की शब्दावली एवं मुहावरों का प्रयोग किया गया है। उदा०-धोतरा उड़ा दिया, पचभेड़ी लेवे, पाणी हिटावती फिर, जुग जीतियोड़ो, फाउड़दी, चिलमड़ी धूं सावणा नं साव्यो, भरोसे रो भैंस पाडो ल्यावे, आदि।

आधुनिक परम्पराओं और परिवेश को स्पष्ट करने में श्री भंवर लाल सुथार "भ्रमर" द्वारा रचित "तगादो" श्री पन्ना राम सुदामा की "आंधे आंख्यां एवं श्री बी०एल० माली 'अशान्त' द्वारा रचित "किसो किसी कटको" राजस्थानी के महत्वपूर्ण कहानी संग्रह हैं।

राजस्थानी के अन्य वर्तमान कहानीकारों में सर्व श्री भंवर लाल नाहटा, सौभाग्य सिंह शेखावत, बैजनाथ पंवार, सूर्य शंकर पारीक, किशोर कल्पना कान्त, चंद व्यास एवं दीन दयाल ओझा, मदन गोपाल शर्मा आदि प्रमुख हैं। श्री बैजनाथ पंवार ने "अकल बिना ऊंठ उबाणो", "लाडेसर" आदि कहानी संग्रह लिखे हैं। ये गद्य काव्य के भी सफल रचनाकार हैं। उनकी कहानियों के कथानक में परम्परा व नवीनता का मिश्रण है। कहानियों की भाषा मारवाड़ी है जिस पर शेखावाटी की आंचलिक शब्दावली का भी प्रभाव है। श्री जगदीश माथुर 'कमल' एवं किशोर कल्पनाकान्त की कहानियों में मनोवैज्ञानिकता एवं जीवन के अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति मिलती है। श्री किशोर कल्पकान्त ने "राखो" (वर्णन प्रधान) "किसन" एवं "अन्तिम कागद" (प्रेम कथात्मक) आदि सुन्दर कहानियों की रचना की है।

आधुनिक राजस्थानी गद्य में पिछले दो दशक से संस्मरणात्मक रेखाचित्र लिखने की परम्परा विकसित हो रही है। श्री भंवर लाल नाहटा ने संस्मरण एवं रेखाचित्र दोनों ही विधाओं को आगे बढ़ाया है जबकि डा० ब्रजनारायण पुरोहित ने इन दोनों विधाओं को एक नई विधा के रूप में जोड़ने का सफल प्रयास किया है। वे इस परम्परा के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं।

"वानगी" श्री भंवर लाल नाहटा द्वारा रचित संस्मरणों, रेखाचित्रों एवं लघु कथाओं का संकलन है। इन रचनाओं के माध्यम से श्री नाहटा ने राजस्थान के सशक्त जीवन को लोक साहित्य से जोड़ने का प्रयास किया है। "वानगी" के पात्र मरुधरा से जुड़े हुए ऐसे पात्र हैं जो कभी बुद्धि चातुर्य एवं वाक्पटुता का परिचय देते हैं तो कभी हास्य व्यंग्य से पाठकों को लोटपोट कर देते हैं। भाषा अत्यन्त सरल किन्तु प्रवाहपूर्ण है। हिन्दी भाषा की प्रचलित शब्दावली का प्रयोग उसे और नवीनता प्रदान करता है। 'वर्णात्मक शैली के साथ साथ कथात्मक शैली का प्रयोग अधिक हुआ है। कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेपता यह है कि एक ओर जहा उसके संस्मरण एवं रेखा चित्र के जुड़ती हुई कहानिया हैं, तो दूसरी ओर बुद्धि-चातुर्य एवं वाक्पटुता को प्रकट करने वाली लौकिक कहानियां है। कहावतो एवं

मुहावरों के साथ साथ लौकिक व्यवहार का गुण छिपा है। ये कहानियां राजस्थानी संस्कृति एवं आधुनिक जीवन के प्राणवान चित्र प्रस्तुत करती है।

डा. पुरोहित ने समाज के सामान्य से लेकर विशिष्ट चरित्रों को इस परम्परा के माध्यम से पाठकों के सामने उपस्थित किया है। घटना चाहे महत्वपूर्ण न हो किंतु पात्रों का चित्रांकन बड़ी सूझबूझ से किया गया है। नपे तुले शब्दों मे स्मृति, घटना व पात्र को एक सूत्र में जोड़ा है जिससे न केवल कहानी का सा आनन्द आता है अपितु पात्र विशेष अपनी विशेषताओं को साथ लेकर प्रबुद्ध पाठक के स्मृति पटल पर अंकित हो जाता है। डा. पुरोहित द्वारा लिखित संस्मरणात्मक रेखाचित्र 'अटारवां' शीर्षक कृति में संकलित है। रेखाचित्रों की भाषा अत्यन्त सरल है। वाक्य विन्यास एवं शब्द चयन अभिव्यक्ति को सफल बनाने मे सहायक सिद्ध हुए हैं। संक्षिप्तता का गुण सर्वथा मिलता है एवं कृति को हास्य और व्यंग्य प्रधान विषय कहा जा सकता है।

'मास्टर जी'—'मास्टर दुर्गाप्रसाद जी गजब रा आदमी काला कलूटा पर आपकी हबसी जिसी सकल सुन्दर समझै। आपकी गिनती इणं-गिणी साहित्यकारों मे करे है। जद बात करै तो वै मैं पिचतर प्रतिशत आपकी बड़ायी अर पच्चीस प्रतिशत कई न कैई री निंद्या।'[1]

इस प्रसंग मे मास्टर दुर्गाप्रसाद जी का व्यक्तित्व उभर कर पाठकों के सामने आता है।

दो घटनाएं—

"मास्टर जी आपरै सासरै गया। उणां री छोटी साली घणी राजी हुयी। वा अपनी चूनी रगण खातर कालो रंग लावं ही। पण जद जीजाजी ने देखियो तो आपरी मा नैं पीसा देय र बोली—"अबै रंग लावण री जरूरत नईं""क्यूं कै जीजाजी रो हाथ पाणी मे फेराय लेसूं, जिके सूं पाणी मे रंग घोलण री जरूरत नही रवै।"[2]

X X X X

"मास्टरजी एक इज स्कूल मे कई बरसां सू है। वां रो ट्रांसफर हुय कोनी सकै। कारण के मास्टर जी रै ऊपर इन्सपेक्टर साहब प्रसन्न है। प्रसन्न हुवण रो कारण है के एक बार इन्सपेक्टर साहब री भैंस रो पाडो मरग्यो। पाडे बिना भैंस दुवावै कोकर ? मास्टर जी उठै ऊभा ईज हा। वै भैंस कनै गया अर भैंस वां नै चाटण लागी अर पावसगी। इणावास्ते इन्सपेक्टर साहब सोचे के मौके-मौके मास्टरजी सूं अड़ियोड़ो काम निसरणी इण वास्ते वां ने उठै ईज राखै।"[3]

---

1. डा. व्रजनारायण पुरोहित—'अटारवां'–मास्टर जी पृ. 65
2. वही, पृ. सं. 66
3. डा० व्रजनारायण पुरोहित—"अटारवां" मास्टरजी पृ. 67 (2) वही पृ. 66।

लेखक ने अपने 'खुले शब्द' के माध्यम से "घटारणी" शीर्षक कृति में प्रस्तुत चरित्रों को उजागर करने का सफल प्रयास किया है। कहीं कहीं एक वाक्य से ही पात्र का चित्र स्पष्ट हो जाता है। जैसे—

"छोवटी रो कुरतो, कारपाणु धोती, देसी पगरखी, माथै ऊपर पागड़ी धारण करण वाला या काकूजी गोरे रंग रा धणी हा।"

भाषा ठेठ मारवाड़ी है जिसे आधुनिक राजस्थानी का सरलतम रूप कह सकते हैं। हिन्दी भाषा की प्रचलित शब्दावली का कई स्थलों पर सही प्रयोग हुआ है।

राजस्थानी गद्य में 'जीवनी' विधा का प्रारम्भ अनुवादों के माध्यम से हुआ। श्रीमती लक्ष्मी कुमारी चूंडावत ने लेनिन की जीवन का सफल अनुवाद किया है। श्री हरिकृष्ण सरन ने 'मजूरां रो नियंत्रण अर उद्योगां रो राष्ट्रीकरण' की रचना अनुवाद के माध्यम से की है। श्री श्याम राम भटनागर ने व्ला. इ. लेनिन द्वारा रचित मूल कृति का राजस्थानी अनुवाद किया है।

राजस्थानी साहित्य में गद्य चित्र लिखने की परम्परा का प्रचलन पिछले दशक मे ही हुआ है। श्री कन्हैयालाल सेठिया द्वारा रचित 'गलगचिया' गद्य चित्रों का संग्रह है जिसमें छोटे छोटे प्रसंगों के माध्यम से जीवन दर्शन के महत्वपूर्ण तथ्यों को सहज एवं कथात्मक शैली में स्पष्ट किया है। जैसे—

सिझ्या हूंता ही मिनख उठ्यो र दीवै रै मूंह ऊपर खूली मेल दी। दीयो चट्र चट्र कर र कैयो, 'बड़ा आदमी क्यों कै करै है? मिनख हंस' र बोल्यो–अरै तूं हो कै? मन्न अंधेरै सैं सूपणो ही कोनी।

राजस्थानी गद्य मे रेखा चित्र एवं संस्मरण लिखने की परम्परा तो अपेक्षाकृत पुरानी है किन्तु निबन्ध साहित्य के क्षेत्र मे अभी विकास होना बाकी है। स्वतन्त्र रूप से निबन्धकारों का उल्लेख करना सम्भव नही क्योंकि जो साहित्यकार कथा साहित्य के क्षेत्र मे हैं, उन्हीं ने निबन्ध साहित्य का सूत्रपात किया है। राजस्थानी निबन्धों का प्रारम्भ 'पंचराज' पत्रिका के माध्यम से हुआ था तथा आज वह मरुवाणी, जलम भोम एवं ओलमो आदि पत्रिकाओं के माध्यम से आगे बढ़ रहा है। समाज सुधार सम्बन्धी विविध विषयों पर श्री गुलाबचन्द कल्ला, श्री मूलचन्द अग्रवाल, श्री भंवर नाहटा एवं श्री भंवर लाल शर्मा आदि ने निबन्ध लिखे हैं जो 'मागीवाण' पत्रिका मे प्रकाशित होते रहे हैं। साहित्यिक विषयों पर निबन्ध लिखने वालों मे डा. मनोहर शर्मा, रानी चूंडावत, श्री शक्तिदान कविया, श्री मदन गोपाल शर्मा, श्री रावत सारस्वत एवं श्री ओंकार पारीक आदि प्रमुख हैं।

57. आलोचना :

आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य के निर्माण के साथ साथ आलोचना का विकास भी समानान्तर हो रहा है। 'टीका' पद्धति के अन्तर्गत यह परम्परा काफी प्राचीन है किन्तु आधुनिक राजस्थानी साहित्य का मूल्यांकन करने एवं उसे प्रकाश मे लाने का प्रयास 20वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ था। इस परम्परा को गति-

शील बनाने में श्री रामकरण आसोपा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सर्व प्रथम राजस्थानी का व्याकरण एवं डिंगल भाषा का वृहत् कोष तैयार करने में आपने महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। डिंगल भाषा के ग्रन्थों की खोज का कार्य भी आपने डा. टेसीटोरी के सहयोगी के रूप में किया। आपने हिन्दी संस्कृत एवं राजस्थानी के अनेक ग्रन्थों का संपादन एवं अनुवाद कार्य किया। श्री गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा ने अनेक राजस्थानी ग्रन्थों का सम्पादन किया जिनमें मुहणोत नैणसी री ख्यात, गद्य रत्नमाला एव जयानक द्वारा रचित पृथ्वीराज विजय महाकाव्य की टीका प्रमुख है। राजस्थानी साहित्य को साकार करने में मुनि जिन विजय का विशेष योगदान रहा है। आपने संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थानी भाषाओं में अन्वेषण कार्य किया है।

डा. मोती लाल मेनारिया का 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ इस परम्परा में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। डा. रामसिंह तवर हिन्दी व राजस्थानी में मर्मज्ञ विद्वान हैं। इन्होंने भी लगभग एक दर्जन राजस्थानी ग्रन्थों का संपादन किया है। आप स्वतन्त्र रूप से निबन्ध एवं भाव गद्य भी लिखते हैं। भाषा शैली में नवीनता एवं वैज्ञानिकता का गुण है, जैसे—

"मणिकूट पर्वत रे नीचे, घणे कानन रे कने, भागीरथी रे तट ऊपर म्हारी पर्णकुटी है, मणिकूट रे मुकुट माथै मेघ मंडरावै, वन में मदमाता सिंह'र मिरग रै वै गगा रे वै गंगा रे निर्मल नीर में रंग-बीरंगी मछल्यां निरत करैं नै म्हारी कुटी में शांति बसै।"

श्री अगर चन्द नाहटा, प्रो. नरोत्तम दास स्वामी एवं डा. कन्हैया लाल सहल आधुनिक काल के प्रमुख साहित्यालोचक हैं। श्री स्वामी जी ने हिन्दी-राजस्थानी के प्राचीन ग्रन्थों के संकलन संपादन आदि का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनकी महत्त्वपूर्ण संपादित कृति है—"राजस्थान का दूहा" जो साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा पुरस्कृत हुआ है। अन्य कृतियों में राजस्थान के लोकगीत, राजस्थानी भाषा और साहित्य एवं हिन्दी गद्य साहित्य का इतिहास प्रमुख हैं। आपकी राजस्थानी भाषा में स्वतन्त्र रूप से कोई रचना कृति नहीं है। राजस्थानी साहित्य एवं जैन साहित्य को प्रकाश में लाने तथा शोध प्रक्रिया को जागृत करने में श्री अगरचन्द जी नाहटा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। राजस्थानी भाषा से सम्बन्धित अनेक विषयों पर आपने शोध निबन्ध लिखे हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम भी हिन्दी रहा है। आपने अब तक लगभग तीन हजार से अधिक विविध विषयक निबन्ध लिखे हैं जिनमें राजस्थानी का प्रमुख स्थान है। राजस्थानी में ही नहीं अपितु हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक सामग्री का ऐसा प्रकांड पंडित इस समय कोई अन्य नहीं है। डा. सहल हिन्दी के साथ साथ राजस्थानी के भी प्रतिष्ठावान लेखक एवं समालोचक हैं। उन्होंने राजस्थानी भाषा में अनेक गवेषणात्मक ग्रन्थ एवं लेख लिखे हैं तथा राजस्थानी कहावतों पर शोध ग्रन्थ भी लिखा है। राजस्थानी लोक कथाओं का

संपादन करके आपने एक महत्त्वपूर्ण अभाव की पूर्ति की है। 'चौबोली' इनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें लोक कथाएं संकलित की गई हैं।

प्रगतिशील आलोचना के क्षेत्र में डा. मनोहर शर्मा, डा हीरालाल माहेश्वरी डा कन्हैया लाल शर्मा, डा. गोवर्द्धन शर्मा, डा भानावत, रावत सारस्वत, श्री गणपत चन्द भंडारी एवं सुमेर सिंह शेखावत को स्वीकार किया जा सकता है। डा माहेश्वरी ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' विषय पर शोध ग्रन्थ प्रस्तुत करके राजस्थानी साहित्य को गौरव प्रदान किया है। आधुनिक राजस्थानी गद्य एवं पद्य की विशिष्ट प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने मे डा. भानावत की 'राजस्थानी साहित्य कुछ प्रवृत्तियों एवं साहित्य के त्रिकोण' कृतियां महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुई हैं। लेखक का दृष्टिकोण शोधपरक रहा है। श्रीमती डा० रिखब भण्डारी द्वारा प्रस्तुत 'आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य' विषयक शोध प्रबन्ध इसी परम्परा की एक उपयोगी रचना कृति है। लेखिका ने अपने शोध प्रबन्ध मे आधुनिक गद्य की प्रचलित विधाओं की विवेचना एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन किया है।

सारांश

भाषा के साहित्य की प्रकृति, परम्परा और लोक चेतना युगीन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। समग्रता से इन्हीं विशेषताओं को धारण करके भाषा-साहित्य आगे बढ़ता रहता है। राजस्थानी, जिसने समय-समय पर नये-नये नाम धारण किये; नये-नये साहित्यिक उपकूल धारण किये तथा अनेक संकटों से बचकर आज एक स्वतन्त्र समृद्ध भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है, उसके साहित्यकारों ने न अधिकारों की मांग की और न सम्मान की किन्तु आज राजतन्त्र ने भाषा सम्बन्धी जो नये मान, नये दृष्टिकोण निर्धारित किए हैं, उनके अन्तर्गत राजस्थानी की उपेक्षा क्यों, उसका तिरस्कार क्यों? राजस्थानी की दो करोड़ से अधिक सन्तान इस उपेक्षा को कभी सहन नहीं कर सकेगी।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में राजस्थानी गद्य के विभिन्न भावों, अनुभूतियों एवं विचारधाराओं का अध्ययन पूर्ववर्ती प्रकरणों में किया जा चुका है तथा इस तथ्य को बड़ी दृढ़ता से स्वीकार किया जा चुका है कि राजस्थानी भाषा के पास उसके अपने संस्कार हैं एवं अपनी भावभूमि है तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उसके पास यथा तथ्य एवं प्रभावोत्पादक प्रेषण शक्ति है। शैली के आन्तरिक एवं बाह्य गुणों के आधार पर रागात्मक, बौद्धिक, कल्पना एवं भाषा सम्बन्धी जो तत्व अपेक्षित हैं वे राजस्थानी भाषा की प्रत्येक अभिव्यक्ति मूलक विशिष्टता (शैली) में विद्यमान हैं। प्रारम्भिक गद्य साहित्य से लेकर आज तक उसमें शैली का निर्धारण विषय की प्रकृति के अनुसार ही हुआ है। शब्दों की उसमें कमी नहीं रही। स्वतः जो शब्द सम्पर्क के कारण अन्य भाषाओं से उसे मिले, उन्हें स्वीकार कर लिया। इसके शब्दों की शक्ति उसके अन्तर्निहित अर्थ को व्यक्त करने में सदा समर्थ रही है। अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का उचित स्थल पर प्रयोग होता रहा है। प्रारम्भ में भाषा-शैली की प्रवृत्ति सरलता की ओर रही है, अतः अभिधा का प्रयोग ही अधिक हुआ है। धीरे धीरे गरिमा युक्त विषयों के प्रतिपादन में उसने लाक्षणिक और व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति को भी ग्रहण किया। जीवन की सत्यता को अभिव्यक्त करने में यहां की शैली ने कहावतों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों को व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार भाषा-शैली सत्य एवं सौन्दर्य के गुण से मंडित होकर अभिव्यक्ति प्रक्रिया की ठोस भूमि पर अवस्थित हुई है।

सामाजिक और बौद्धिक प्रवृत्तियां निरन्तर राजस्थानी भाषा-शैली में परिवर्तन पैदा करती रही हैं, क्योंकि साहित्य इन परिवर्तनों से अछूता नहीं रह सकता।

प्रारम्भिक एवं आधुनिक गद्य साहित्य में यह अन्तर स्पष्ट प्रकट होता है। आज व्यक्ति की भावना, अनुभूति एवं उसका वैयक्तिक दृष्टिकोण पूर्णतया बदल चुका है, अत साहित्यिक सृजन मे इसका प्रभाव स्पष्ट होता रहा है। सामंती युग के साहित्यकारो की अपेक्षा आज का साहित्यकार भावात्मक पक्ष मे अधिक संवेदनशील एवं भावुक है क्योंकि आधुनिक परिस्थितियां एवं मानवीय दृष्टिकोण पूर्णतया बदल चुके हैं। जीवन की सुखद अनुभूति ही सौन्दर्य है जिसकी उपस्थिति यहां की अभिव्यक्ति-मूलक विशिष्टता मे व्याप्त है। सौन्दर्य प्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर तो जटिल और नीरस दार्शनिक तत्त्वों से अलग करती है और दूसरी तरफ उसे पाठकों के लिए आकर्षक एवं उपयोगी भी बनाती है। शैली मे सौन्दर्य की अभिव्यंजना उत्पन्न करने के लिए ही राजस्थानी गद्य मे प्रारम्भ से आज तक संगीतात्मकता, कोमल कांत पदावली, आलंकारिक चित्रण, ध्वन्यात्मकता, सुन्दर एवं स्पष्ट वाक्य योजना का प्रयोग होता रहा है। अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग भी शैली में पुरानी राजस्थानी से होता रहा है। अभिव्यक्ति मूलक विशिष्टता के अन्तर्गत पुरानी राजस्थानी गद्य से ही व्यास और समास प्रधान दो शैलियां प्रचलित रही हैं। एक ही विचार को भिन्न भिन्न शब्दो अथवा वाक्यों द्वारा स्पष्ट करने मे विस्तार उत्पन्न हो जाता है जिसे व्यास शैली कह सकते हैं। ख्यातों वचनिकाओं एवं बातो मे इस शैली का विशेष प्रयोग हुआ है तथा जहां-जहां सामाजिक पदों की अभिव्यक्ति में बहुलता मिलती है वहां उस रचना शैली को समास शैली के नाम से सम्बोधित कर सकते है। प्राचीन टीकाओं, पट्टे-परवानों तथा आधुनिक गद्य साहित्य में निबन्ध, संस्मरण एवं शब्द चित्रो मे इस शैली का विशेष प्रयोग होता है।

प्रारम्भिक राजथानी गद्य में विषय गत विभिन्नता की दृष्टि से दो प्रकार की परम्पराएं मिलती हैं—जैन शैली एवं चारण शैली। इस वर्गीकरण का आधार अभिव्यक्तिमूलक विशिष्टता से न होकर विषयगत भिन्नता से है तथा यहां शैली का तात्पर्य विशिष्टता अथवा परम्परा से है। जैन गद्य लेखकों के साहित्य का आधार धार्मिक रहा है जबकि चारण शैली मे ऐतिहासिक एवं कलात्मक गद्य साहित्य अधिक लिखा गया है। परिमाण में जैन साहित्यकारो का गद्य अधिक मिलता है, जिसका मूल कारण यह है कि धार्मिक साहित्य होने के कारण वह जैन-भण्डारों में आज तक सुरक्षित रह सका जबकि विदेशी जातियो के संघर्ष और सामाजिक उथल-पुथल के कारण सामंती वातावरण मे लिखित अधिकांश ऐतिहासिक एवं लौकिक साहित्य नष्ट हो गया। जैन साहित्य मे विषयगत नवीनता का अभाव अवश्य रहा क्योंकि जैन मुनियों और श्रावकों ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अधिकतर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की टीकाएं, टब्बे एवं पद्यात्मक अनुवाद अधिक किये हैं। जितना प्राचीन एवं विविध विषयक गद्य राजस्थानी मे उपलब्ध है उतना किसी अन्य भारतीय आर्य भाषा मे नही है।

प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य की विविध विधाओं में शैली के विशिष्ट रूप

मिलते हैं किन्तु उस समय के साहित्य पर पद्य का जो प्रभाव पड़ा वह तुकान्तता एवं लयात्मक सौन्दर्य को स्पष्ट करता है। सोलहवीं शताब्दी तक पद्य का प्रभाव किसी न किसी रूप में बना रहा साथ ही गुजराती के विशेष प्रभाव से राजस्थानी गद्य पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका किन्तु 17वीं शताब्दी से राजस्थानी गद्य में भाषा वैज्ञानिक परिष्कार प्रारम्भ हुआ। 19वीं शताब्दी तक का राजस्थानी गद्य विषय एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उन्नत कहा जा सकता है किन्तु हिन्दी के स्वरूप निर्धारण की समस्या ने उसके विकास को अवरुद्ध कर दिया, फिर भी यह कहा जा सकता है कि गद्य के विकास की दृष्टि से हिन्दी सदैव राजस्थानी की आभारी रहेगी।

1 समस्याएं एवं समाधान :

अब तक राजस्थानी गद्य में जो परम्परागत विधाएं प्रचलित रही वे धीरे-धीरे समाप्त हो चुकी हैं किन्तु उनकी व्यापकता, प्रेषणीयता और कलात्मकता आज भी ज्यों की त्यों आधुनिक राजस्थानी गद्य मे मिलती है। रूप-विविधता चाहे परम्परागत रूप में न मिलती हो, किन्तु आधुनिक राजस्थानी गद्य मे विषयगत विविधता का अभाव नहीं। पुराने गद्य में रूढ़ि बद्धता, सामासिकता, अलौकिकता एवं सामन्ती युग का जो प्रभाव परिलक्षित होता है, उससे आज का गद्य साहित्य पूर्णतया मुक्त है। इन विशिष्टताओं के स्थान पर आज के साहित्य में सरलता, लालित्य, नवीन अर्थ-शक्ति एवं युगीन संवेदना की स्पष्ट झलक मिलती है। राजस्थानी गद्य की प्राचीन शैलियां अपने आप मे पूर्ण हैं किन्तु आधुनिक गद्य शैलियां भी इस दृष्टि से उनसे पीछे नहीं हैं। आधुनिक शैलियां रूढ़िगत प्रभाव से मुक्त होकर सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं एवं अभिव्यक्तिमूलक यथार्थ की भाव भूमि पर प्रवस्थित होती जा रही हैं। अरबी और फारसी का जो प्रभाव समसामयिक परिस्थितियों के कारण राजस्थानी भाषा पर पड़ा वह अब धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है। भाषा-शैली ठेठ राजस्थानी शब्दों एवं वातावरण से मंडित होती जा रही है। कथा साहित्य मे उसका झुकाव पूर्णतः सरलता की ओर है किन्तु आज का कथाकार कथावस्तु के अतिरिक्त पाठकों को एक नयी सामग्री भी दे रहा है, जिसका नाम है—'युग बोध और संवेदना'। इस प्रकार यह निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि राजस्थानी का आधुनिक गद्यकार नवीन-लक्ष्य बिन्दु की ओर बढ़ रहा है। अन्य विकसित भाषाओं के साहित्य मे जो विषय एवं शिल्पगत परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे आज का राजस्थानी साहित्यकार पूर्ण तथा जागरूक है। राजस्थानी गद्य की प्राचीन परम्परागत विधाएं अपने आप मे विशिष्ट थीं तथा उनमें विविध शैलियों के दर्शन होते हैं। आधुनिक शैलिया, राजस्थानी गद्य में अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखती अपितु वे अन्य विकसित भाषाओं की परम्परागत शैलियों के अनुरूप ही है। वर्णनात्मक, विवरणात्मक, व्याख्यात्मक एवं चित्रात्मक गद्य-शैलियों की स्थिति आज भी ज्यों की त्यों है तथा भावात्मक शैली का प्रयोग भी किसी न

किसी प्रसंग मे आज भी प्रचलित है किन्तु समृद्ध निबन्ध एवं उपन्यास साहित्य के अभाव मे विवेचनात्मक, साहित्यिक एवं काव्यात्मक शैली का अभी अभाव ही है।

प्राचीन गद्य की तरह आधुनिक गद्य की अभिव्यक्ति बड़ी मार्मिक है तथा अभिव्यंजना शक्ति प्रबल है। थोड़े से शब्दो की सहायता से सरल वाक्यों में गहन विषय की अभिव्यक्ति राजस्थानी गद्य मे सम्भव है। भाषा के सुगठित रूप एव भावो की गम्भीरता के लिए राजस्थानी गद्य आज भी प्रसिद्ध है। समुचित प्रकाशन एव अध्ययन के अभाव मे प्रायः लोगों की यह धारणा-सी बन गई थी कि राजस्थानी मे गद्य साहित्य नगण्य ही है किन्तु आज इसका प्रकाशन प्रारम्भ हो चुका है तथा प्राचीन सामग्री धीरे-धीरे प्रकाश मे आ रही है और लोगों की भ्रान्ति भी दूर होती जा रही है। यद्यपि आज राजस्थानी गद्य मे अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हो चुका है तथा नयी-नयी कृतियों की रचना भी हो रही है, किन्तु फिर भी पर्याप्त सामग्री के अभाव मे गद्य की स्थिति बड़ी चिन्तनीय है।

राजस्थानी गद्य की दयनीय स्थिति का मूल कारण लेखको की संकीर्णता है। हिन्दी की तुलना में यहां के लेखक राजस्थानी मे रचना करना अपना अपमान समझते हैं। ये लोग राजस्थानी भाषा को गंवारू बोली मानते है, भाषा नही। जो लोग राजस्थानी भाषा के सम्बन्ध में यह भ्रामक धारणा रखते हैं उनका विचार है कि राजस्थानी विभिन्न बोलियों का समूह मात्र है तथा उसमे शब्दगत एवं शिल्पगत एक रूपता नही है। आधुनिक राजस्थानी गद्य के विकास मे अवरोध का मुख्य कारण यही है किन्तु सत्य तो यह है कि राजस्थानी न गंवारू है न बोलियों का एक समूह, अपितु उसका एक परिनिष्ठित साहित्यिक रूप है जो विभिन्न स्रोतों मे आज तक प्रवाहित होता रहा है। जैन और चारण कवि शिक्षित थे तथा वे संस्कृत एवं अपभ्रंश के पूर्ण ज्ञाता भी थे तभी टीकात्मक एवं अनुवाद सम्बन्धी साहित्य की रचना सम्भव हुई। हिन्दी की आदिकालीन रचनाएं पूर्णतया राजस्थानी भाषा से प्रभावित हैं। जैन आचार्यों द्वारा रचित अधिकांश साहित्य राजस्थानी में तथा शेष कृतियां जैसे 'रासो' विषयक ग्रन्थ भी राजस्थानी में ही हैं, फिर इन्हें भी गंवारू भाषा की रचनाएं ही स्वीकार करना चाहिए। सत्य तो यह है कि हिन्दी का प्रारम्भिक साहित्य पूर्णतया राजस्थानी भाषा का अंग है।

आधुनिक राजस्थानी भाषा और साहित्य को हिन्दी के कारण नई दिशा और नई गति नही मिल पा रही है जिसमें अधिक दोष राजस्थानी साहित्यकारों का है। राजस्थानी के विकास से हिन्दी का पक्ष कभी दुर्बल नही होगा, क्योंकि राष्ट्र-भाषा और प्रान्तीय भाषाओं का अधिकार क्षेत्र कभी टकराता नही है। राजस्थानी साहित्यकारो को इस भ्रम से मुक्त होना चाहिए कि राजस्थानी हिन्दी की एक बोली मात्र है। निहित स्वार्थ भाव का त्याग भी आवश्यक है अन्यथा यही क्रम चलता रहा तो राजस्थानी साहित्य का गौरवपूर्ण अतीत भी नष्ट हो सकता है। इस अनर्थ

से बचने के लिए राजस्थानी की रक्षा का भार साहित्यकारों तथा संस्थाओं को वहन करना चाहिए।

जहां तक राजस्थानी गद्य की एक-रूपता का प्रश्न है, साहित्यकारों को विशेष चिन्तित नहीं होना चाहिए। साहित्य में यदि लोक मंगल की व्यावहारिक शक्ति है तो स्वतः पाठक उसकी ओर आकर्षित होंगे। भाषा की एक रूपता के प्रश्न को स्वयं राजस्थानियों ने विवाद का प्रश्न बनाया है। उदयपुर में रहने वाला एक पाठक जब सूर्यमल मिश्रण के वंश भास्कर, मुहणोत नैणसी की ख्यात तथा कवि राजा बांकीदास की ख्यात को समान गति से पढ़ सकता है तो अनेक रूपता कहां रही ? यदि आंचलिक प्रभाव एवं शब्द प्रयोग को ही एक रूपता में बाधक मान लिया जाता है तो फिर अनेक रूपता कहां नहीं है, क्या हिन्दी का गद्य साहित्य इससे मुक्त है ? ऐसा प्रतीत होता है मानो राजस्थानी का साहित्यकार स्वभावतः इस विषय को विवाद का प्रश्न बना रहा है। शब्दों की अनेक रूपता प्रत्येक जीवित और समृद्ध भाषा में मिलेगी, उसे सरलता से कभी दूर नहीं किया जा सकता; हां, कम अवश्य किया जा सकता है। जो भाषा लम्बे समय तक समसामयिक सम्पर्क भाषाओं से प्रभावित रही है तथा जो एक विस्तृत भू-खण्ड में बोली जाती रही है, उसके शब्दों में अनेक रूपता तो स्वाभाविक ही है। शब्दों की अनेक रूपता के कारण गद्य में अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य की सुविधा बनी रहती है। अतः राजस्थानी गद्य साहित्य में जो शब्दगत अनेक रूपता मिलती है वह कोई सैद्धान्तिक समस्या नहीं है।

अभिव्यक्ति-प्रक्रिया के क्षेत्र में आधुनिक राजस्थानी गद्य में कहीं भी अनेक रूपता नहीं है। इस तथ्य को हम 'शकुन्तला' (राजस्थानी की मेवाड़ी बोली में अनूदित नाटक) तथा 'अमर सेनाणी' (मारवाड़ क्षेत्र में रचित) नाटक के कथोपकथन से स्पष्ट कर सकते हैं।

राणी—नाथ ! ठीक कह्यो आप। राजपूतां री वीरता परखण री वखत आय री है।

चूंडावत—किया ?

राणी—आप सुण्यो कोयनी, औरंगजेब री सेना मिनखा नै मारती, गांवां नैं उजाड़ती इण राजस्थान कांनी 'ज आय री' है।

चूंडावत—हां प्यारी, सुण्यो तो है। विवाह री पैली रात में इज रण रा भयंकर विचार दिमाग नैं उथल-पुथल कर दैला, आ नीं जाणी ही। (अमर सेनाणी-डा० चन्द्रशेखर भट्ट, पृ०2)।

तथा—

दुष्यन्त—(मन में) म्हारो मनोरथ सफल व्हैवा रो अवसर तो आय गयो। पण प्रियंवदा ज्यो वर मिलवा री बात कीधी। ईश म्हारो मन दुविधा मे पड़ गयो।

प्रियंवदा—(मुलकती थकी शकुन्तला ने देख ने दुष्यन्त री कानी) फेर भी
कुछ के 'णो चाबता व्हो' ज्यूं दीखो हो आप ?
(शकुन्तला सखी ने ग्रांगली सूं धमकावे)

दुष्यन्त—ठीक भांप लीधो ग्राप। हां, म्हूं ग्रापरी ग्रनोखी बातां सुणवा री
लोभ सूं सखी रा विषय में फेर कुछ जाणणो चाऊं हूं।

(शकुन्तला नाटक-ग्रनु० श्री गिरिधर लाल व्यास, पृ० 12)।

दोनों नाटको के लेखक दो भिन्न स्थानो की बोलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु इनकी रचनाओं की भाषा-शैली में ग्रांशिक शब्द-रूप के ग्रतिरिक्त कहीं भी ग्रभिव्यक्तिगत अनेकरूपता नहीं है। भाषा मे मात्र ग्रांचलिक प्रभाव ही ग्रनेक रूपता की ग्रांशिक झलक देता है जो स्वाभाविक है एवं आवश्यक भी। ग्राधुनिक राजस्थानी गद्य की प्रकृति विलष्टता से सरलता की ओर है जिससे जो शब्दगत अनेक रूपता कहीं कहीं व्याप्त है वह भी ग्रब धीरे-धीरे दूर होती जा रही है। गद्य में वर्तमानकालिक सहायक क्रिया के लिए 'है' तथा 'छै' का जो प्रयोग हो रहा है, उसके लिए कोई विवाद नही किया जाना चाहिए क्योंकि यह मात्र ग्रंचलगत प्रभाव ही है। कारक-विभक्तियों एवं संयोजक शब्दों की भी यही स्थिति है। इनके प्रचलित रूप पर कोई विरोध नही किया जाना चाहिए क्योंकि स्वतः सम्पर्क के कारण इनमें एकरूपता ग्रा रही है तथा इनके प्रचलित रूप से जटिलता ग्रथवा क्लिष्टता का खतरा भी नही है। राजस्थान गद्य में साहित्यिकता का गुण उत्पन्न करने के लिए संस्कृत भाषा के प्रचलित सरल शब्दों का व्यापक प्रयोग करना चाहिए। इससे एक ग्रोर तो भाषा में साहित्यिका एवं प्रौढ़ता उत्पन्न होगी तथा दूसरी ग्रोर शब्दों में एक रूपता का गुण भी स्वतः प्रादुर्भूत होगा। ग्रंग्रेजी के जो सामान्य शब्द राजस्थानी के रूपाकार हो चुके हैं उन्हें भी प्रचलित रहने देना चाहिए साथ ही राजस्थानी के ठेठ अपने शब्दो का प्रयोग ग्रधिक बढाना चाहिए। ये गुण राजस्थानी की कुछ नवीनतम कृतियों मे उभर भी रहे हैं, जैसे—श्री 'चन्द्र' की 'हूं गोरी किण पीव री' ग्रौपन्यासिक कृति तथा राजस्थानी निबन्ध ग्रादि मे। शैलीगत प्रयोग के लिए पत्रिकाएं सबसे उत्तम साधन है। ग्राज राजस्थानी भाषा की साहित्यिक पत्रिकाग्रों का प्रकाशन तो चल रहा है किन्तु उनके माध्यम से मौलिक साहित्य का सृजन ग्रपेक्षाकृत कम हो रहा है। ग्राज का साहित्यकार मात्र ग्रालोचनात्मक प्रक्रिया को ग्रधिक महत्त्व दे रहा है। शुद्ध रूप से राजस्थानी भाषा मे प्रकाशित होने वाली पत्रिकाएं मात्र तीन-चार ही हैं जिनका स्तर भी ग्रन्य भाषाग्रों की पत्रिकाग्रों की तुलना मे संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता। मरुवाणी, जलम भोम एवं 'ग्रोळमो' ग्रादि पत्रिकाएं इस दिशा में प्रगतिशील ग्रवश्य कही जा सकती हैं।

राजस्थानी गद्य साहित्य की विकास परम्परा के सन्दर्भ मे गद्य की एकरूपता का विषय कोई जटिल कार्य नही है। साहित्यकार स्वयं भाषा की प्रकृति एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से इस समस्या का हल खोज रहे हैं। जिस गद्य-रूप के

बोलने वालों की संख्या अधिक हो, उसे 'स्टेण्डर्ड' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। राजस्थानी की मारवाड़ी बोली को बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है तथा इसका अतीत भी गौरवपूर्ण रहा है। राजस्थानी के सम्पूर्ण साहित्य का मूल्यांकन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'मारवाड़ी' ही राजस्थानी के स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ है। आधुनिक राजस्थानी साहित्य उसी की देन है। इस विषय में लोग राजनीतिक विवाद उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु साहित्यकार को इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सशक्त, सजीव और उन्नत भाषा के लिए किसी औचित्य का प्रश्न उत्पन्न नहीं किया जा सकता। भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यांकन करने पर हम पाते हैं कि राजस्थानी का सामर्थ्य कितना अधिक है तथा वह आज नये-नये शिल्पगत परिधानों से आवेष्ठित हो रही है किन्तु साहित्यकारों का उत्तरदायित्व उसके स्वरूप की रक्षा करने में है। आधुनिक राजस्थानी गद्य को हम किसी भी स्थिति में पर्याप्त नहीं कह सकते। उपन्यास जैसी सशक्त विधा में अभी कहने को दो-चार कृतियां मात्र ही है। अतः इस विषय पर बिना सोचे समझे कि जो कुछ हम लिख रहे हैं वह शाश्वत होगा या नहीं; हमें आगे बढ़ते रहना चाहिए। हमारा उद्देश्य किसी स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं, अपितु सेवा-परक होना चाहिए। भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति सम्पन्नता से ही बढ़ती है।

राजस्थानी गद्य साहित्य का अतीत उज्ज्वल रहा है तथा भविष्य के लिए भी शंका की कोई सम्भावना नहीं है। राजस्थानी अब सामन्तवादी व्यवस्था की भाषा नहीं, वह जन-जीवन की अपनी भाषा है जो गद्य-शैली के क्षेत्र में नये आयाम धारण करती चल रही है। राजस्थान के लोग राष्ट्रभाषा हिन्दी के गौरव और सम्मान के प्रति सचेत एवं जागरूक रहेंगे, इसमें कोई दो मत नहीं है किन्तु वे अपनी मातृ-भाषा के सम्मान की रक्षा भी चाहेंगे। राजस्थानी का हिन्दी से कोई विरोध नहीं है किन्तु उन लोगों से विरोध अवश्य है जो राजस्थानी भाषा के सम्मान और प्रगति में बाधक बने हुए हैं। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यदि राजस्थानी भाषा को राजतन्त्र द्वारा उचित सम्मान और संरक्षण नहीं मिला तो यहां की संस्कृति धीरे-धीरे नष्ट हो जायेगी, क्योंकि संस्कृति की रक्षा का दायित्व सबसे अधिक भाषा ही वहन करती है। आशा है राजस्थान की मारवाड़ी कुछ परिष्कार तथा सजातीय बोलियों का वैयक्तिक सहयोग पाकर प्रान्तीय भाषा का आदर प्राप्त करेगी तथा गौरवपूर्ण अतीत की रक्षा कर नये मान, नये रूप और नये आदर्श स्थापित करेगी।

ग्रंथ-सूची

सन्दर्भ-ग्रंथ

अपभ्रंश साहित्य —डा० हरिवंश कोछड़
अच्छी हिन्दी —रामचन्द्र वर्मा
अतीत के चल चित्र —महादेवी वर्मा
आपणा कविओ, भाग 1 —श्री केशवराम काशीराम शास्त्री
आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध —डा० हरीश
आधुनिक हिन्दी गद्य और गद्यकार —डा० जेकब पी० जार्ज
आचार्य राधेश्याम मिश्र अभिनन्दन ग्रंथ
आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य —डा० (श्रीमती) रिखब भंडारी
उर्दू-हिन्दी शब्द कोष —मुहम्मद मुस्तुफा
ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह —अगर चन्द नाहटा
ऐतिहासिक निबन्ध माला —जगदीश सिंह गहलोत
ओझा निबन्ध संग्रह (चार भाग) —गोरी शंकर हीरा चन्द ओझा
काव्यादर्श —दण्डी
काव्य दर्पण तथा काव्या लोक —पं. राम दहिन मिश्र
काव्य प्रकाश —मम्मट
काव्यलंकार सूत्र वृत्ति —वामन
ग्रन्थ माल —रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत
गद्य कुसुमावली —डा० श्याम सुन्दर दास
गुजराती एण्ड इट्स लिटरेचर —के० एम० मुंशी
गोदान —प्रेमचन्द
चिन्तामणि —रामचन्द्र शुक्ल
जैन गुर्जर कविओ (तीन भाग) —मोहन लाल दलीचन्द देसाई
देवरथ—कहानी —जयशंकर प्रसाद
द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन —शंकर दयाल चौऋषि
ध्वन्यालोक —आनन्द वर्द्धन
ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त —डा० भोला शंकर व्यास
पल्लव —पंत

प्राचीन-अर्वाजीन कवि एवं लेखक	-फूलचन्द जैन
पृथ्वीराज रासो तथा अन्य निबन्ध	-डा० पुरुषोतमलाल मेनारिया
प्राचीन गुजराती गद्य-सन्दर्भ	-सं. मुनि जिन विजय
पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा	-डा० नगेन्द्र
प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह	-गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा
पुरानी राजस्थानी	-डा० टैसीटरी-हिन्दी अनुवाद (ना०प्र०स० काशी)
पुरानी हिन्दी	-चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
पूर्व आधुनिक राजस्थान	-डा० रघुबीर सिंह
बनेड़ा संग्रहालय के अभिलेख	-सं. के. एस. गुप्ता तथा डा० एल. पी. माथुर
भारत का भाषा सर्वेक्षण	-सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन
भारतीय साहित्य शास्त्र	-पं० बलदेव उपाध्याय
भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका	-डा० नगेन्द्र
भाषा विज्ञान	-डा० भोलानाथ तिवारी
भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका	-डा० फतह सिंह
भारतेन्दु नाटकावली	-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
मध्यकालीन हिन्दी गद्य	-हरिमोहन श्रीवास्तव
रस मीमांसा	-पं० रामचन्द्र शुक्ल
राजस्थानी व्याकरण	-नरोत्तम दास स्वामी
राजस्थानी भाषा और साहित्य	-डा० हीरालाल माहेश्वरी
राजस्थानी साहित्य का इतिहास	-डा० पुरुषोत्तम लाल मेनारिया
राजस्थानी साहित्य और संस्कृति	-मनोहर प्रभाकर
राजस्थानी गद्य साहित्य : उद्भव और विकास	-डा० शिवस्वरूप शर्मा 'अचल'
राजस्थानी निबन्ध संग्रह	-चन्द्र सिंह
राजस्थानी और हिन्दी : कुछ साहित्यिक संदर्भ	-रावत सारस्वत
राजस्थानी भाषा और साहित्य	-डा० मोती लाल मेनारिया
राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा	" "
राजस्थानी साहित्य संग्रह	-नरोत्तम दास स्वामी
राजस्थानी भाषा	-सुनीति कुमार चाटुर्ज्या
राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियां	-डा० नरेन्द्र भानावत
राजस्थानी साहित्य का आदिकाल	-नारायण सिंह भाटी
राजस्थानी ह. लि. ग्रंथ सूची	-सं. पुरुषोत्तम लाल मेनारिया, नाहटा

राजस्थान के कहानीकार —दीन दयाल ओझा
राजस्थानी सबद कोस —सं. सीताराम लालस
राजस्थान में हिन्दी के ह. लि. ग्रंथों की खोज (तीन भाग) —(सा. सं. उदयपुर)
राजस्थानी व्याकरण —सीता राम लालस
राजस्थानी कहावतें —डा० कन्हैया लाल सहल
राजस्थानी व्याकरण —नरोत्तम दास स्वामी
राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा —अगर चन्द नाहटा
राजस्थानी वचनिकाएं —आलम शाह खान
रीति और शैली (निबन्ध) —आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी
वक्रोक्ति जीवित —कुन्तल
वृहत हिन्दी कोश —सं० कालिका प्रसाद
वचनिका —काशी राम शर्मा
शैली —पं० करुणापति त्रिपाठी
सभा शृंगार —सं. अगर चन्द नाहटा
साहित्य और शैली —डा० गणपति चन्द्र गुप्त
साहित्य शास्त्र —डा० राम कुमार वर्मा
साहित्य सहचर —डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
साहित्य दर्पण —आचार्य विश्वनाथ
साहित्यालोचन —श्याम सुन्दर दास
समीक्षा शास्त्र —डा० दशरथ ओझा
साहित्य के त्रिकोण —डा० नरेन्द्र भानावत
साहित्य दर्पण —विश्वनाथ
सिद्धान्त और अध्ययन —गुलाबराय
सोमनाथ —चतुरसेन शास्त्री
संस्कृत आलोचना —पं० बलदेव उपाध्याय
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ —आचार्य सीताराम चतुर्वेदी
हिन्दी भाषा का इतिहास —डा० धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दी साहित्य कोश (दो भाग) —सं. डा. धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —डा० रामकुमार वर्मा
हिन्दी के प्रतिनिधि आलोचकों की गद्य शैलियां —कमलेश्वर प्रसाद भट्ट
हिन्दी की गद्य शैली का विकास —जगन्नाथ शर्मा

हिन्दी काव्यालंकार सूत्र —डा० नगेन्द्र

हिन्दी साहित्य सर्वस्व —ग्राचार्य सीता राम चतुर्वेदी

हिन्दी साहित्य —श्याम सुन्दर दास

हिन्दी साहित्य —डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी साहित्य का ग्रादिकाल ,, ,,

हिन्दी साहित्य की भूमिका ,, ,,

हिन्दी ध्वन्यावलोक की भूमिका —डा० नगेन्द्र

हिन्दी गद्य काव्य —डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

हिन्दी भाषा का वैभव काल —डा० माधुरी दुबे

Grammar of Hindustani Languages

J.P.A.S.B (New Series) —Dr. Tessitory

On the Art of Writing —Aurther Quiller Couch

The Making of Literature —James R.S Scott

English Prose Style —Herbert Reade

Style —Walke Radigh

The Problem of Style —Murrey (J. M.)

Principles of Criticism —Richards (I. A)

The New Criticism —Spingarn (J. E.)

The Quest of Literature —Shipley (J. T.)

Style —F. L. Lucas

An Introduction to the Study of Literature —Hudson

A Descriptive Catalogue of Bardic and Historical MSS

राजस्थानी का रचनात्मक प्रकाशित साहित्य (प्राचीन)

ग्रचल दास खीची री वचनिका —सं. दीना नाथ खत्री

ग्रतिचार कथा —सं. मुनि जिन विजय

आराधना —सं. मुनि जिन विजय

ग्रौक्तिक प्रकरण ,, ,,

ग्रमृत सागर —सं महाराजा प्रतापसिंह

एकल गिड दाढाले री वात —सं. मूल चन्द्र प्राणेश

उपदेश माला बालावबोध —सं. मुनि जिन विजय

उपदेश माला—बाला० —सं. ले० नन्न सूरि

उदयपुर राज्य का इतिहास —डा. ग्रोझा

उपदेश माला (तरुण प्रभसूरि की बालावबोध) —सं० मुनि जिन विजय

चौबोली (कहानियां)	—सं. डा० सहल
दलपत विलास	—सं. रावत सारस्वत
दयाल दास री ख्यात	—सं. दशरथ शर्मा
देश दर्पण	
नमस्कार-बालावबोध	—सं. मुनि जिन विजय
नासकेत री कथा	—सं. भोमे
पंवार देश दर्पण	—सं. दशरथ शर्मा
पृथ्वी चन्द्र चरित (माणिक्य चन्द्र)	—सं. मुनि जिन विजय
बांकी दास री ख्यात	—सं. नरोत्तम स्वामी
भगवद्गीता (अनु.)	—रामकरण आसोपा द्वारा अनुवादित
मुग्धाव बोध मौक्तिक	—सं. केशव हर्षद ध्रुव
मुहणोत नैणसी री ख्यात	—सं. बदरी प्रसाद साकरिया
मारवाड़ रा परगना री विगत	—सं. नारायण सिंह भाटी
मेवाड़ रे परगने री ख्यात	—सं. नारायण सिंह भाटी
मुहणोत नैणसी री ख्यात	—सं. बदरी प्रसाद साकरिया
वीर सतसई	—सं. पतराम गौड़ एवं सहल
वीर विनोद (चार भाग)	—कवि राजा श्यामलदास
रतन महेसदासोत री वचनिका	—सं. तैस्सितोरी
राजस्थानी वातां	—सं. नरोत्तम दास स्वामी
राजस्थानी वातां	—सं. भवानी शंकर व्यास तथा सौभाग्य सिंह शेखावत
सम्यक्त्व कथा	—सं. मुनि जिन विजय
राजस्थानी लोक कथाएं	—डा० सहल
राजस्थानी वीर गाथाएं	" "
सर्व तीर्थ नमस्कार	—सं. मुनि जिन विजय
वंश भास्कर	—सूर्यमल्ल मिश्रण
रघुनाथ रूपक	—सं. महताब चन्द खारेड़
वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री	—सं. काशी राम शर्मा
रवता हमीर री बात	—ले. महाराजा मानसिंह
हिंगोलदेव	—सं. डा० पुरुषोत्तम मेनारिया

आधुनिक रचनात्मक साहित्य—

नाटक

दगा डाव	—श्री ए. बी. जगल्ती
शकुन्तला (अनुवादित)	—श्री गिरधर लाल शास्त्री
मारवाड़ी मौसर और सगाई जंजाल	—श्री गुलाब चन्द नागौरी

नहरी झगड़ो, गांव की जोत	–श्री निरंजन नाथ आचार्य
अमर सेनाणी, माटी री काया	–डा. चन्द्र शेखर भट्ट
कलियुगी कृष्ण	–श्री बाल मित्र
ताश रो घर	–श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
बाल विवाह, कलकतिया बाबू, सीठणा सुधार, ढलती फिरती छाया, वृद्ध विवाह ।	–श्री भगवती प्रसाद दारुका
बंसरी (अनुवाद)	–रावत सारस्वत
बुढापा की सगाई, फाटका जंजाल, केसर विलास	–शिव चन्द्र भरतिया
वृद्ध विवाहविदुषण	–शोभा राम जम्मड़
बोलावरण या प्रतिज्ञापूर्ति	–सूर्यकरण पारीक
विद्या उदय, भाग्योदय, महाराणा प्रताप	–श्री नारायण अग्रवाल
स्यानणो	–श्री करणी दान बारठ
बाणी पली बाल्	–डा. बद्री प्रसाद पंचोली
उपन्यास	
अनोखो मान	–बदरी प्रसाद साकरिया
मां रो बदलो, तीड़ोराव	–विजयदान देथा
परदेशी री गोरड़ी	–मूलचन्द प्राणेश
कनक सुन्दर (अपूर्ण)	–शिवचन्द्र भरतिया
आभै पटकी, धोरां रा धोरी	–श्रीलाल नथमल जोशी
हूं गोरी किण पिवरी	–यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
मैकती काया मुलकती धरती	–अन्ना राम सुदामा
बांबी (अनुवाद)	–सत्य प्रकाश जोशी
कंवल पूजा	–सत्येन जोशी
मैवं रा रूंख	–अन्नाराम 'सुदामा'
एक बीनणी दो बीन	–श्री लाल नथमल जोशी
जोग संजोग	–यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
तिरसंकू	–छत्रपति सिंह
कहानियां	
सोनल भींग, बातां रो झूमको	
कन्यादान, रोहिड़े रा फूल फुटकर कहानियां	–डा. मनोहर शर्मा
धुन्न रो काम, कलम री मार, रातवासो, अमर चूनड़ी, महाभारत की कथावां, मऊ बाजी मालवं ।	–श्री नृसिंह राजपुरोहित

दस दांख, ग्योही, घर की रेल।	–नानू राम संस्कर्त्ता
हिये तणा उपाय, उकलता आंतरा सीला सांस	–मूल चन्द्र प्राणेश
म्हैं हूं सठवा खूंठ, अंकलें सरीरां उपजैं, बातांरी फुलवारी।	–विजयें दानें देथां
बरस गांठ, जीवता जागता चितराम, हुक्के वाली	–मुरलीधर व्यास
सबड़का (व्यंग्य चित्र एवं रेखाचित्र), आपणा बापूजी (आत्मकथा)	–श्री लाल नथमल जोशी
बाघां भारमली, हूंकारो दीसा, डूंगर जी जवाहर जी री बात, मांझल रात, गिर ऊंचा ऊंचा गढा, कै रै चकवा बात, राजस्थानी लोकगाथा, संसार री नामी कहाणियां, रवि ठाकरां री बातां, पाबूजी री बात।	–रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत
गिल-गिली (हास्य कथाएं)	–श्री सूर्यकरण पारीक
राजस्थानी बाल कथाएं	–कु. राज्य श्री राठोड़
शैक्सपियर री काणियां	–प्रो. गोविन्द लाल माथुर
नैणां छूट्यो नीर	–श्री बैजनाथ पंवार

विविध

पांसड्लया	–श्री सेठिया कन्हैया लाल
नागर पान	–श्री विद्याधर शास्त्री
मटारवां	–डा. ब्रज नारायण पुरोहित
बानगी	–श्री भंवर लाल नाहटा

हस्तलिखित कृतियां

अचल दास खीची री बात
आराधना बालावबोध
अतिचार
आराधना
आर्याख्यान कल्पद्रुम-सिद्धायचन्द्र
  दयालदास
अमर सेन वयर सेन कथा-सोमसुन्दर
अर्जदास्त (राज. पु. वि. बीकानेर)
ओसवाल वंशावली
औक्तिक संज्ञक रचना
आचारांग बाला.-पार्श्वचन्द्र सूरि
औप पातिक सूत्र
अध्याय गीता पर बालावबोध
अनन्त सोखलारी बात
उपदेश माला बालावबोध-सोमप्रभ सूरि
  " "
उत्पति ग्रन्थ (अनेक राजाओं के)
एकादशी कथा
  " व्रत कथा
एकल सिंह दाढोल री बात
  " " वारता
कर्म विपाक फल
कुतबदीन साहिजादे री बात
कुवलय माला-उद्योतन सूरि
कल्पसूत्र वालावबोध
क्रिसन रुकमणि री वेली की टीका
कुतुबदीन री बात
ख्यात दयाल दास की
ख्यात-बीकानेर री

ख्यात जोधपुर रे राठौड़ा री
  " जोधपुर री
  " उदयपुर री
  " मान सिंह जी री
  " मारवाड़ री
  " फुटकर (अनेक)
  " मेवाड़ रे परगने री
खरतर गच्छ पट्टावली
  " गुर्वावली
खीची गंगेव नींबावत रो-दो पहरो।
गुर्वावली-जिन वर्द्धन
गुरु महिमा पर कथा-सोमसुन्दर सूरि
गणित सार-
गणित पंचविशंति का बालावबोध
चउसरण प्रकीर्ण जम्बू चरित्र-
  पार्श्वचन्द्र सूरि
चन्द कुंवरी री बात
चोयमाता री कथा
चोबीस एकोदशी की कथाएं
डोकरी री बात
जिन सुख सूरि की दवावैत या मजलस
जिन लाल सूरि की याचक विनय भक्त
जगदेव परमार की वारता
तवारीख-जलाल बूबनारी
ताम्रपत्र (रा. प्रा. शो. सं. जोधपुर)
तवारीख (अनेक राजाओं की)
दशवैकालिक सूत्र बालावबोध-
  पार्श्वचन्द्र सूरि
दलपत विलास

देश दर्पण–सिढायच दयालदास
दफ्तर बही–जोधपुर के राजा अजीत सिंह की
धनपाल कथा
नवकार व्याख्यान
नरसिंघ दास गोड़ी की दवावैत—घाट मालीदास
नागोरी लुंकागच्छीय पट्टावली
नसीयत नामा
नव तत्त्व–पार्श्व चन्द्र सूरि
नमस्कार बालावबोध–हेमहंस गणि
नवतत्त्व बालावबोध–सोम सुन्दर सूरि
नासकेत कथा
नल राजा की बात
परमार्थ वचनिका
पुरोहित वंशावली
पुष्पमाला बालावबोध–सोमसुन्दर सूरि
प्रश्न व्याकरण–पार्श्व चन्द्र सूरि
पृथ्वीचन्द्र चरित्र–माणिक्य सुन्दर सूरि
पीढियां–राठौडांरी वंशावली नै पीढियां
  ,, ,,
  ,, फुटकर
  ,, ठिकाणों री
प्रतिक्रमण सूत्र बालावबोध–जयकीर्ति
प्रश्नोत्तर ग्रन्थ–जय सोम
पृथ्वीराज कृष्ण वेलि बालावबोध–जय कीर्ति
पट्टे-परवाने (विभिन्न राज्यों से सम्बन्धित)
बही जोधपुर के राजा अजीत सिंघजी री
बीकानेर रै धणियां री विगत नै बीजी वातां
बाल शिक्षा व्याकरण संग्राम सिंह
बात बगसी पुरोहित–हीरां री।
बात सोधी गांगेव नीं बावत

मुहतां कछावतां री वंशावली
महाराजा जसवंत सिंह जी री डायरी या दैनन्दिनी
माता जी री वचनिका
मूर्ख बहोतरी–रामधन नागोर वाला
मुक्तानुप्रास–जैन भंडार, बीकानेर
भोजन विच्छित्ति
याददास्त–सीतामऊ, जावदी, मावझरी, किसनगा ईडर गांरी।
योग शास्त्र बालावबोध–सोमसुन्दर सूरि
योग शास्त्र विषयक अनेक रचनाएं
राजा जयसिंह की दवावैत-डूंगरसी बागड़ी कृत
राजान राउतरो बात वणाव
राठौड़ा री ख्यात–दयाल दास सिढायच
रीसालू कंवर री वारता
राजा भोज री पनरवी विद्या
राजा भोज री बात
राव बीकै री बात
राव सलखै ,,
रतना हमीर री बात
रामदास वेरावत री भारमली री बात
राशिफल (अनेक)
व्याकरण विषयक बालावबोध
वेगड़ गच्छ पट्टावली
वचनिका–जिन समुद्र सूरि की
वचनिका–शांति सागर सूरि
वाग्भटालंकार बालावबोध–सोम सुन्दर सूरि
विदग्धमुख मंड बालावबोध ,,
विगत–जोधपुर रा गावां री
  ,, जोधपुर रा परगना री
  ,, सिरदारां री
  ,, बीकानेर रै गावां री
  ,, गोगाजी रे जनम री

विगत दिल्ली रैं पातसाह री
,, मारवाड़ रा परगना री
शीलोपदेश माला बालावबोध–
मेरु सुन्दर सूरि
षष्ठि शतक बालावबोध–विमल कीर्ति
षडावश्यक सूत्र बालावबोध-मेरु सुन्दर
षष्टि शतक बालावबोध– ,,
षट व्रत उपर कथा, तरुण प्रभ सूरि
षडावश्यक बालावबोध–पार्श्व चन्द्र सूरि
,, ,, तरुण प्रभ-सूरि
,, ,, हेम हंस गणि
,, ,, सोम सुन्दर सूरि
,, ,, समय सुन्दर
सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन
संग्रहणी बालावबोध (दयासिंह)
सम्यकत्व बालावबोध–चारित्र सिंह
सम्यक्त्व रत्न प्रकाश-बाल.–रत्न चन्द्र
सम्यक्त्व संभव बालावबोध
षडावश्यक बालावबोध विषयक अनेक हृ० लि० रचनाएं–लेखक अज्ञात
सिंहासन बत्तीसी।

+ + +

पत्र-पत्रिकाएं

शोध पत्रिका
मरु भारती
ओलमों
चारण
राजस्थानी
राजस्थान–भारती
मरुवाणी
जलम भोम
वरदा
आलोचना
हि० सा० सम्मेलन पत्रिका
माध्यम
परम्परा
भारतीय विद्या
भाषा।